CC-0. Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri. CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

LIB. C.K.V.

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या हि ३८आ
पुस्तक संख्या जा. अ. ५५
आगत पंजिका संख्या (2 अंक)

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

COMPILED

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

Stock Verification-2[illegible]

स्टाक प्रमाणीकरण १९८४-१९८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

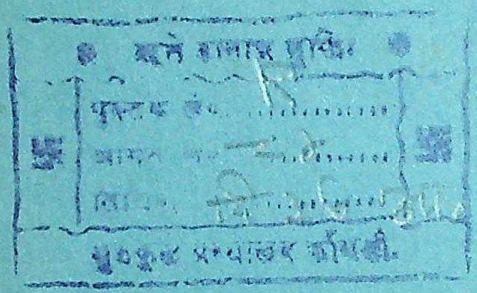

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. धर्मवीर भारती
सम्पादन डॉ. नगेन्द्र
समिति डॉ. व्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण साही

CATALOGUED 1973

आलोचना

079544

'जनवादी' साहित्य (१) : [illegible]कीय
साहित्य का स्थायी मूल्य : डॉ० रांगेय राघव
हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र :
(१) सम्भावनाएँ : डॉ० नगेन्द्र
(२) आवश्यकता : डॉ० भगीरथ मिश्र
हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास : श्री राजेन्द्र यादव
हिन्दी का भावी रूप : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
श्री सुमित्रानन्दन पन्त

जनवाणी प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रै मा सि क आ लो च ना

वर्ष ४ अंक २ पूर्णांक १४ जनवरी, १९५५

वार्षिक मूल्य १२) एक अंक का ३)

सूची

▲सम्पादकीय

—जनवादी साहित्य - - - १

▲निबन्ध

—साहित्य का स्थायी मूल्य :
डॉ० रांगेय राघव - - - ६

—हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (सम्भावनाएँ) :
डॉ० नगेन्द्र - - - १७

—हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (आवश्यकता) :
डॉ० भगीरथ मिश्र - - - २२

—हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास
राजेन्द्र यादव - - - २७

▲प्रस्तुत प्रश्न

—हिन्दी का भावी रूप :
डॉ० धीरेन्द्र वर्मा - - - ५२

—हिन्दी का भावी रूप :
डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या - - - ५६

—हिन्दी का भावी रूप :
सुमित्रानन्दन पन्त - - - ५८

▲अनुशीलन

—दृश्य काव्य में हास्य-तत्त्व :
डॉ० रामकुमार वर्मा - - - ६४

—'कान्हड़ दे प्रबन्ध' और उसका पाठ :
डॉ० माताप्रसाद गुप्त - - - ६८

▲मूल्यांकन

—नयी कविता :
बालकृष्ण राव - - - ७७

—तीन नये काव्य-संग्रह : 'बावरा अहेरी', 'रात बीती', 'धरती और स्वर्ग' :
डॉ० जगदीश गुप्त - - - ८५

—'अंचल' के नये गीत :
गंगाप्रसाद मिश्र - - - ९५

—हिन्दी कहानियाँ : शिल्प और शैली :
डॉ० देवराज उपाध्याय - - - ९८

—छोटी-बड़ी कहानियाँ :
वीरेन्द्र कृष्ण माथुर - - - १०१

—दो कहानी-संग्रह :
मोहन राकेश - - - १०३

—टूटे काँटे :
उदयशंकर भट्ट - - - १०७

—चाँदनी के खण्डहर :
डॉ० शैल कुमारी - - - १०९

—कठपुतली :
जनार्दन मुक्तिदूत - - - ११२

—ओ मेरे सपने :
विजयेन्द्र स्नातक - - - ११५

—परिव्राजक की प्रजा :
विश्वम्भर 'मानव' - - - ११८

—तेलुगु साहित्य का इतिहास :
बालशौरि रेड्डी - - - १२१

—द्विवेदी-पत्रावली :
डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - - - १२५

—रजवाड़ा :
महावीर अधिकारी - - - १२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

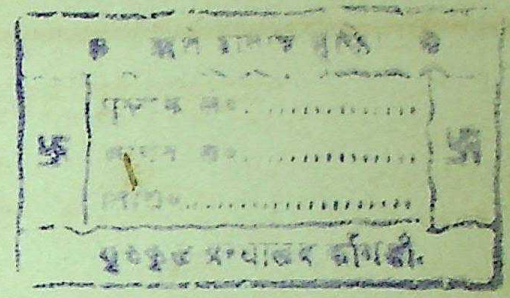

सम्पादकीय

'जनवादी' साहित्य (१)

साहित्य और समाज में गहरा सम्बन्ध है, इस विषय में कोई मतभेद सम्भव नहीं। परन्तु जैसे ही हम एक कदम आगे बढ़कर इस सम्बन्ध की विशेष छानबीन करने लगते हैं, कठिनाई उत्पन्न होने लगती है। कई प्रश्न खड़े होते हैं। यह सम्बन्ध किस प्रकार का है? 'समाज' से क्या अर्थ लिया जाय? और सबसे गहन यह कि यह सम्बन्ध किन स्तरों पर और किन रूपों में साहित्य में अभिव्यक्त होता है? अन्त में उस अभिव्यक्ति की भूमिका किसी कृति अथवा कृतिकार की श्रेष्ठता एवं महत्ता सिद्ध करने में क्या होती है? आज तक साहित्य में सामाजिक सम्बन्धों का अनुशीलन करने वाले जो आलोचकगण रहे हैं, उन्होंने अधिकतर इस सम्बन्ध की कभी कम और कभी अधिक अभिव्यक्ति का अन्वेषण-मात्र करके सन्तोष किया है अथवा उपपत्तियों के रूप में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है, जिन्हें निष्पक्षता के कारण आत्यन्तिक अथवा सर्वव्यापी मानने से उन्हें स्वयम् संकोच होता रहा है। इस संकोच के एकमात्र अपवाद मार्क्स के वे अनुयायी हैं जिनका न्यस्त स्वार्थ किसी राजनीतिक दल अथवा राजसत्ता से सम्बद्ध है।

उनके अनुसार इस समस्या का अन्तिम हल उन्हें प्राप्त हो गया है। यह हल क्या है, इस सम्बन्ध में अब मतभेद की सम्भावना नहीं है। साहित्यकार अथवा समीक्षक के लिए काम सिर्फ इतना रह गया है कि वह इस हल के पक्ष में शीघ्रातिशीघ्र कमर कसकर तैयार हो जाय और जो भी इस हल के विरुद्ध हैं उनका विनाश कर डाले। एक ऐसा पत्थर हाथ लग गया है जो कसौटी और पारस दोनों का काम देता है। प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन भी हो जाता है और भविष्य के लिए सेना भी सज्जित हो जाती है। इसमें दूसरा कार्य अधिक आवश्यक है और इस सेना की सज्जा में सत्य को छिपाने, घटाने, बढ़ाने, सब प्रकार के प्रयोग क्षम्य हैं। कम्यूनिस्ट आलोचक वी० जे० जेरोम के शब्दों में :

"मार्क्सवादी सिद्धान्त का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि मार्क्सवादी लोग 'जन' से अलग हो जायँ बल्कि इसलिए कि वे 'जन' के साथ जुड़ जायँ। अपने वर्ग के शत्रुओं के साथ मार्क्सवादी अपने मतवैषम्य को सामने रखते हैं; जो साथी हैं, अथवा हो सकते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके साथ मतसाम्य को आगे रखते हैं।"[1]

इस कसौटी को आजकल 'जनवाद' का नाम दिया जाता है और यह साहित्यिक दृष्टि 'जनवादी' साहित्यिक दृष्टि कहकर पुकारी जाती है। चूँकि इस 'जनवादी' दृष्टिकोण के दावे बहुत विशाल हैं और सामयिक हिन्दी आलोचना में इस विषय में उलझन और अस्पष्टता है अतः इसकी छानबीन करना आवश्यक है। अनेक बार 'जन' शब्द के समान 'जनवादी साहित्य' को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया जाने लगता है और उस समय सामान्य जनता के लोक-साहित्य के रूप में इसे स्वीकार करने का भ्रम किया जाता है। दूसरी सीमा अव्याप्त दोष की भी है जहाँ कुछ विचारक साहित्य में प्राचीन आचार्यों के साधारणीकरण की व्याख्या इस रूप में करने का प्रयत्न करते हैं।

कुछ दिन पहले तक इस 'जनवादी' शब्द से हिन्दी के पाठक अपरिचित थे। अंग्रेजी या अन्य यूरोपीय भाषाओं में भी इसका या इसके पर्यायवाची शब्द का प्रचार बहुत पुराना हो, ऐसा नहीं है। स्पेनिश गृहयुद्ध के आसपास साहित्य में 'पापुलर फ्रण्ट' की जो लहर आई उसमें ही पहले-पहल इस जनवादी नारे का असली शोर सुनाई पड़ा। अधिकतर रिवाज अपने को 'प्रोग्रेसिव' या 'प्रगतिशील' कहने का था। कभी-कभी जनवादी का भी नाम आ जाता था। ये 'प्रगतिशील' साहित्यकार भी बड़े आँके-बाँके सजीले नौजवान थे। इन्होंने बड़े-बड़े सपने देखे, आतङ्ककारी दैत्य खड़े किये, एक-एक इश्तिहार पर हजारों वर्ष तक आने वाली मानवता का क्रय-विक्रय किया, एक कविता या कहानी पर पुरानी मित्रताएँ बिगाड़ दीं, एक वक्तव्य पर परम्परागत शत्रुताएँ भुला दीं, और बड़ी गम्भीरता के साथ मानवता की रक्षा करने पर तुल गए। वे ईमानदार थे, साहसी थे और सचमुच भविष्य के सम्बन्ध में जी-जान से चिन्तित थे। उनमें से कितनों ने स्पेनिश प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए अपने प्राण होम किये, कितनों ने कविता लिखना बन्द कर गुप्त पुलिस में नौकरी की, अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड में शामिल हुए; जो न हो सके उन्होंने चीख-पुकार भरे पैम्फलेट ही लिखकर सन्तोष किया और कुछ ऐसे भी थे जो इन सब के बीच, आने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए, सोवियत् रूस के समर्थक एकत्र करते रहे, जो वी० जे० जेरोम के अनुसार ज्यादा ठोस काम था।

यह सब ऐतिहासिक नाटक सरीखा लगता है, जिसकी यवनिका रूस-जर्मनी पैक्ट ने गिराई। इस ज्वर से आक्रान्त होकर जिन लेखकों की विभूति युद्धग्रस्त साहसिकता या अखबारी कलाबाजी से कुण्ठित होने से बच रही उनमें से कुछ तो आज तक स्पेण्डर, आडेन या कोस्लर की तरह तीखे दर्द से छटपटा रहे हैं; कुछ शायद शान्ति-सम्मेलनों या अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालयों में दिखाई पड़ेंगे और कुछ शायद फार्मोसा या कोरिया में अपनी उस 'जनवादी' शिक्षा का दाय चुकता कर रहे होंगे जो उन्होंने स्पेनिश गृहयुद्ध में सीखा था। गृहयुद्धों के प्रेमी इन 'जनवादी' कलाकारों से उलझें तो वे बड़े-बड़े तर्क उपस्थित करेंगे। पर इतना निश्चित है कि उनके तीन-चौथाई तर्क समान होंगे चाहे वे बीसवीं देशान्तर रेखा के उत्तर में पाये जायँ अथवा दक्षिण में।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 'प्रगतिशील' या 'समाजवादी यथार्थवाद' जैसे शब्दों का चलन कुछ कम हो गया है। चीन की 'पीपुल्स डेमाक्रेसी' के उदय के बाद हिन्दी में नये आवेश के साथ 'जनवादी साहित्य' का रिवाज चला है; यद्यपि भारतवर्ष की नई-पुरानी मिली-जुली मुद्रा की भाँति पुराने सिक्के बाजार से बिलकुल

१. वी० जे० जेरोम : कल्चर इन ए चेंजिंग वर्ल्ड, पृ० ७८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गायब नहीं हुए हैं। शब्द चूँकि नया है, अतः उसका स्वाद भी नया है और कभी-कभी तो हमारे सम्मान्य आलोचक भी भूल कर जाते हैं कि शब्द बदल देने से वी० जे० जेरोम की स्थापना में कोई अंन्तर नहीं पड़ता।

सबसे पहला प्रश्न इस 'जन' शब्द को ही लेकर उठता है, क्योंकि इन्द्रजाल का एक बड़ा भाग इस जन के ही तात्पर्य में निहित है। रूसो ने जब बड़े जोर-शोर से दार्शनिक एवं सामाजिक चिन्तन-धारा में इस 'जनसाधारण' की अवतारणा की तभी उसमें रहस्यवाद के कण मौजूद थे, इतना तो मार्क्स और उनके अनुयायी भी स्वीकार करते हैं। बाद में चलकर, कम-से-कम यूरोप में, यह 'जन' दो स्पष्ट वर्गों में बँट गया। मार्क्स ने स्पष्टीकरण के नाम पर सर्वहारी वर्ग और उसके 'जन' होने की घोषणा की। यह सर्वहारा वर्ग 'जन' क्यों है इसका प्रमुख कारण मार्क्स ने उसकी बहुसंख्या नहीं बतलाया, यद्यपि स्थान-स्थान पर वह बहुसंख्या का संकेत भी करता है। मार्क्स के अनुसार कतिपय ऐतिहासिक नियम, जिनकी विवेचना मूलतः दार्शनिक है, सर्वहारा वर्ग के सिर पर 'जन' का सेहरा बाँधने के लिए जिम्मेदार हैं। इन नियमों के अनुसार सर्वहारा समस्त जन के 'ऐतिहासिक उत्तरदायित्व' का वहन करता हुआ, 'जन' का प्रतीक बन जाता है। आगे चलकर मार्क्स के कम्यूनिस्ट अनुयायियों ने यह भी जोड़ा कि सर्वहारा स्वयम् उस ऐतिहासिक उत्तरदायित्व का वहन कर, 'जनत्व' को प्राप्त होने में अक्षम है। इस 'दार्शनिक-ऐतिहासिक' भूमिका को सम्पन्न करने का कार्य कम्यूनिस्ट पार्टी ही कर सकती है, जो दार्शनिक-ऐतिहासिक नियम की जानकारी से सन्नद्ध है। यह भी, कि यह 'जनत्व' को प्राप्त कराने वाला मन्त्र हर कोई नहीं जानता। जो जानता है वह कम्यूनिस्ट हो जायगा, यदि नहीं होगा तो नहीं जानता।

दर्शन तक तो बात ठीक थी, किन्तु कार्यक्षेत्र में अवतरित होने पर स्पष्टीकरण का यह प्रयास इस तरह गुरुमुखापेक्षी और रहस्यवादी हो गया कि रूसो की स्थापना इससे कुछ अधिक स्पष्ट जान पड़ती है। आज आवश्यकतानुसार इस 'जन' का अर्थ सर्वहारा, किसान वर्ग, निम्न-मध्यम वर्ग, राष्ट्रीय पूँजीपति और अब तो हर उस व्यक्ति, वर्ग, अथवा संस्था से लिया जाने लगा है जो कम्यूनिस्ट पार्टी और सोवियत् रूस के पक्ष में है।

हिन्दी की सामयिक आलोचना के क्षेत्र में यह दावा किया जाता है कि 'जनवादी' साहित्य अथवा साहित्यिक दर्शन सूक्ष्म, भ्रान्तिबहुल और अस्पष्ट अनिर्वचनीयता के विरुद्ध साहित्यिक उद्देश्य के रूप में एक ठोस, प्रत्यक्ष और पकड़ में आने वाला मानदण्ड प्रस्तुत करता है। इस ठोस मानदण्ड की स्थापना डॉ० रामविलास शर्मा इन शब्दों में करते हैं :

"प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।"

यदि हम इस महान् सूत्र की चकित कर देने वाली गहराई और नवीनता पर ध्यान न भी दें तो भी इसमें ठोसपन कहाँ है, यह प्रश्न बना ही रहेगा। इसको ठोस बनाना हमारे 'जनवादी' आलोचक चाहते भी नहीं। वे किसान-मजदूर 'संघर्ष' की बात करते हैं, प्रगतिशील 'ताक़तों' का हवाला देते हैं, ह्रासोन्मुख 'शक्तियों' का भय दिखाते हैं और साहित्यकार एवं समीक्षक से माँग करते हैं कि वह इन्हें पहचाने और साहित्य-रचना प्रारम्भ कर दे। हमारे पिछले सम्पादकीय पर कृपा-दृष्टि करते हुए एक सहयोगी कम्युनिस्ट मासिक-पत्र ने लिखा है—

"शोषित पीड़ित जनता की आत्मोपलब्धि की संवेदना से तादात्म्य स्थापित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना, समाज की कुत्सा की आलोचना करना, समाज को परिवर्तित करने वाली समाज-चेतना को संगठित होने में सहायता देना—आज के उपन्यासकार ने अपने लिए यही कर्तव्य निर्धारित किये हैं ?"

प्रश्न उठता है कि आप समाज को बदलने वाले मज़दूरों के किस संगठन की बात कर रहे हैं, आई० एन० टी० यू० सी०, हिन्द मज़दूर सभा, या आई० ए० टी० यू० सी० की ? जिस शोषित पीड़ित जनता की ओर आपका संकेत है वह कौनसी है ? जिसने आन्ध्र के चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी को वोट दिये, या कांग्रेस को या सोशलिस्ट पार्टी को ? हम अपने गम्भीर एवं साहित्यिक पाठकों से क्षमा चाहते हुए कहना चाहते हैं कि ये प्रश्न चिन्तन की इस स्थिति में स्वाभाविक और आवश्यक हैं, क्योंकि 'जनवादी' साहित्य के चरम उद्देश्य एवं श्रेष्ठता की समस्या इनके उत्तर पर ही निर्भर करती है; क्योंकि वर्ग-संघर्ष, पूँजीवाद, जनशक्ति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इन सबका अर्थ तभी निकलेगा जब उसकी कड़ी वर्तमान, प्रत्यक्ष 'जनजीवन' के साथ जोड़ दी जायगी; और क्योंकि हमारे 'जनवादी' बन्धुगण जान-बूझकर स्पष्टतः इन बातों का उत्तर नहीं देना चाहते।

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिसमें साधक को सचमुच ज्ञात नहीं होता कि उसका प्रेय है क्या। वह केवल उसका आभास मात्र पाता है और भक्ति करता है। ऐसे रहस्यवादी हमारे सन्त थे। यह ऋजु रहस्य-वाद है। दूसरा रहस्यवाद वह होता है जिसमें साधक खूब अच्छी तरह जानता है कि वह क्या चाहता है, किन्तु उसे साफ़-साफ़ कहना शरम या खतरे की बात समझकर शब्दों का आडम्बर खड़ा करता है। हिन्दी में 'जनवाद' के प्रणेता, ये सामाजिक रहस्यवादी, इसी श्रेणी में आते हैं। यह किस कोटि का रहस्यवाद है, इसका उल्लेख करने की हम आवश्यकता नहीं समझते।

'जनवादी' आलोचकों के समस्त ग्रन्थों एवं वक्तव्यों का मनन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में नितान्त असफल रहे हैं कि हिन्दी साहित्यकार अथवा साहित्य की एक-मात्र कसौटी यही है कि वह कहाँ तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को आगे बढ़ाता है, उसके विकास में सहायक होता है।

सैद्धान्तिक विवेचना के सिलसिले में 'जनवादी' आलोचकों के तर्कों का प्रारम्भ कला की उपयोगिता से होता है। वे कला के दो परस्पर-विरोधी शिविर स्थापित करते हैं जिनमें, उनके अनुसार, इतना वैषम्य है कि किसी भी प्रकार का सामञ्जस्य सम्भव नहीं। एक तो वे हैं जो 'कला कला के लिए' मानते हैं, दूसरे कला को जन के लिए, समाज के लिए। 'कला कला के लिए' मान लेना ही उनकी दृष्टि में प्रतिक्रियावाद, जन-विरोध, फलतः विनाश का लक्षण है। साथ ही यह भी कि कला की उपयोगितावादी दृष्टि 'जनवादी' साहित्य की विशेषता है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि जिस 'जन' के लिए कला को उपादेय बनाया जा रहा है, वह स्वयम् सामाजिक रहस्यवाद के कुहासे में लिपटा हुआ है। अब उपयोगितावादी तलवार की विशेषता एवं इतिहास में किन व्यक्तियों के हाथ से वह चलाई जा चुकी है उसको भी देख लिया जाय। इस सम्बन्ध में हम प्लेखानाव का एक उद्धरण देने का लोभ नहीं संवरण कर सकते :

"मैं यह जोड़ना चाहता हूँ कि प्रत्येक राजसत्ता, जहाँ तक उसकी कुछ भी दिल-चस्पी कला में होती है, सदा कला की उपयोगितावादी दृष्टि के ही पक्ष में होती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और यह बात समझ में भी आती है; यह तो उसके स्वार्थ में ही है कि सभी विचारधाराएँ उस उद्देश्य को सिद्ध करें जिसकी सिद्धि में वह स्वयम् संलग्न है। और चूँकि राजनीतिक सत्ता, जो कभी ही कभी क्रान्तिकारी होती है, अधिकतर रूढ़िवादी बल्कि प्रतिक्रियात्मक होती है, अतः यह मानकर चलना बहुत ही गलत होगा कि कला की उपयोगितावादी दृष्टि क्रान्तिकारियों अथवा अग्रगामी विचारकों की अनोखी विशिष्टता है। रूसी साहित्य का इतिहास चित्र की भाँति इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि हमारे साम्राज्यवादी 'अभिभावकगण' इस कलात्मक दृष्टि के विरुद्ध बिलकुल नहीं थे। इसमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :

सन् १८१४ ई० में वी० टी० नेरेज्नी के उपन्यास 'रूसी गिलब्लास' के प्रथम तीन खण्ड प्रकाशित हुए। इस उपन्यास को फौरन शिक्षा-मन्त्री राजुयोवस्की की आज्ञा से जब्त कर लिया गया और इन महानुभाव ने इस अवसर पर जीवन तथा साहित्य के सम्बन्ध पर इन शब्दों में अपने उद्‌गार व्यक्त किये :

'ऐसा अक्सर होता है कि उपन्यास लेखकगण दुराचारों का प्रतिरोध करते हुए भी उनका चित्रण ऐसे रंगों में करते हैं या उन्हें इतने विस्तार से वर्णन करते हैं कि नवयुवक इन दुराचारों के प्रति आकर्षित हो जाते हैं, जिनका वर्णन न करना ही बेहतर था। किसी उपन्यास के साहित्यिक गुण जो भी हों, उसका प्रकाशन तभी होना चाहिए जब उसका कोई नैतिक उद्देश्य हो।'"[1]

यह प्रश्न आज भी महत्वपूर्ण है। हिन्दी के सम्मान्य आलोचकों में से कितने हैं जो ज़ार के शिक्षा-मन्त्री के इन पवित्र विचारों से सहमत हों, और यह निर्णायक अधिकार वर्तमान या भविष्य के किसी ज़ार के शिक्षा-मन्त्री को देने के लिए तैयार हैं? इसके विपरीत एक वक्तव्य यह है कि किसी उपन्यास की नैतिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थापना जो कुछ भी हो भ्रष्टता के उच्छृङ्खल उदाहरणों के अतिरिक्त उसके प्रकाशन को रोकने का अधिकार तो किसी शिक्षा-मन्त्री को होना ही नहीं चाहिए। हम सशक्त जनमत में विश्वास करते हैं और अपने नवयुवकों अथवा जनसाधारण को दुश्चरित्रता के लिए इतना लालायित नहीं मानते, कि एक उपन्यास प्रकाशित हुआ और उनका आचरण बिगड़ा, अथवा उनका मतिभ्रम हुआ। इसके साथ ही हम समाज के कल्याणकामी लेखकों और विचारकों से इस बात की पूरी आशा रखते हैं कि वे अपने प्रभाववान उदाहरणों से इन कुत्सित पुस्तकों को नगण्य बना दें। परन्तु इस भय से हम किसी भी मन्त्री के हाथ में इतना खतरनाक हथियार सौंपने के लिए तैयार नहीं हैं। कितने साहित्यकार एवं समीक्षक हैं जो इस वक्तव्य से सहमत हैं?

स्पष्ट है कि उपयोगितावाद का तर्क अपने में पूर्ण नहीं है, बल्कि निरर्थक भी है। उसी प्रकार हम निवेदन करना चाहते हैं कि 'कला कला के लिए' की निष्पत्ति भी साहित्य अथवा साहित्यकार की समूल व्यर्थता सिद्ध करने के लिए प्रामाणिक नहीं है। यूरोप के साहित्य में जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैण्ड आदि में कभी भी उपयोगितावाद का इतना आग्रह नहीं था। यह धारा रूस से आई है, इसलिए कि रूस को कभी भी मुक्त विचारों की प्रतिद्वन्द्विता का स्वाद नहीं मिला। सोवियत क्रान्ति के बाद यह परम्परागत पूर्वाग्रह और भी प्रबल हो गया। इसी तरह प्राचीन संस्कृत आचार्यों अथवा मध्यकालीन भारतीय सन्तों को कभी भी

१. प्लेखानोव—कला और सामाजिक जीवन, पृष्ठ १७८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'स्वान्तः सुखाय' और 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' में इतना घोर विरोधाभास नहीं दिखाई पड़ा। फारसी साहित्य में तो, लगता है, निष्प्रयोजन अथवा रहस्य-दर्शन के निमित्त-लिखने वाले कवि ही अधिक लोकप्रिय और जनता के निकट हुए हैं। उपयोगितावादी तो अधिकतर दरबारों में ही पाये जाते थे। जो कभी अनवरी की तरह प्रतिष्ठा का अमृतपान करते थे और कभी फिरदौसी की भाँति अपमान और ग्लानि में प्राण भी दे देते थे। परन्तु रूस ने जार या कमिस्सार की नैतिक पराकाष्ठा द्वारा कोई ऐसा लक्ष्यवेध किया हो, जो यूरोप, भारत अथवा ईरान के आचार्यों के बस की बात न रही हो, ऐसा अभी तक तो नहीं सिद्ध हो सका है।

इस विश्लेषण से कुछ आवश्यक निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम तो यह कि प्रचलित अथवा प्रचालित अर्थ में 'जन' शब्द अत्यन्त भ्रामक, अस्पष्ट और अन्तर्विरोधपूर्ण है; द्वितीय यह कि उस 'जन' की उपयोगिता सामान्य नैतिकता अथवा सामान्य मानव-संवेदना या सहानुभूति से किस प्रकार भिन्न होगी, यह अस्पष्ट है; और इसीलिए उपयोगितावाद का सारा इन्द्र-जाल ही थोथा है; कम-से-कम समीक्षात्मक अन्वेषण को पहले से अधिक प्रत्यक्ष नहीं बनाता। तृतीय, 'जनवादी' सिद्धान्तशास्त्रियों के पास इसका निर्णय देने की कोई कसौटी नहीं है कि इस उपयोगिता की अभिव्यक्ति साहित्य में, अन्य वैचारिक माध्यमों से अलग, किस आधार पर होगी और वह आधार साधारणीकरण प्रभविष्णुता, सौन्दर्य अथवा अन्य प्रचलित कसौटियों से किस प्रकार भिन्न है। स्पष्ट शब्दों में वह क्या है जो साहित्य को साहित्य बनाता है, श्रेष्ठ साहित्य बनाता है, इस प्रश्न का कोई भी उत्तर 'जनवादी' समीक्षकों के पास नहीं है। सच तो यह है कि वे इस प्रयास में कोई रुचि रखते भी नहीं—केवल रहस्यवादी वाग्जाल खड़ा करके अपने 'जनवाद' और 'श्रेष्ठता' के मानदण्डों को गड्डमड्ड कर देना चाहते हैं। काम जिगरे का है इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि शास्त्रार्थ द्वारा सिद्ध करना है कि जो कम्युनिस्ट पार्टी के पक्ष में है वह श्रेष्ठ है; कम-से-कम जो पक्ष में नहीं है, या विरोध में है, वह अश्रेष्ठ तो है ही। इसके लिए सामाजिक रहस्यवाद में एक और गहरी डुबकी लगाने की आवश्यकता पड़ती है।

वस्तुतः यदि 'जनवादी' साहित्य के प्रणेतागण अपने को एक साहित्यिक धारामात्र मानकर सन्तोष कर लेते, उसी प्रकार जैसे साहित्य में रोमाण्टिक, क्लासिकल, छायावादी अथवा रीतिकालीन धाराएँ होती हैं तो सिद्धान्तों की इतनी विसंगतियाँ न उत्पन्न होतीं। किन्तु 'जनवादी' का प्रयोग साहित्य-विशेष अन्तुएण श्रेष्ठता का मान स्थापित करने के लिए होता है। जैसा हमने ऊपर कहा है, काम जिगरे का है, इसलिए अधिकतर यह संकेत अव्यक्त रहता है। इस दुहरी धार का सबसे उत्साहपूर्ण उपयोग सामयिक साहित्यकारों के कण्ठ पर विभिन्न प्रकार की छुरियाँ चलाने और मालाएँ पहनाने के लिए किया गया जिससे हिन्दी के पिछले दस वर्षों के पाठक भली भाँति परिचित होंगे। किन्तु इस सम्बन्ध में सब से अधिक कष्टप्रद प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं। न उनसे मनचाहा वक्तव्य दिलाया जा सकता है, न उनकी श्रेष्ठता से इन्कार किया जा सकता है। परिणाम यह है कि 'जनवादी' आलोचना प्राचीनों के सम्बन्ध में प्रश्न से पलायन, अन्तर्विरोध एवं रहस्यवाद का कोष बन गई है। इस सम्बन्ध में सब एक-से हैं चाहे वह शब्दाडम्बर के बीच एक-दूसरे को कितना ही 'कुत्सित समाजशास्त्री' क्यों न कहें।

डॉक्टर रामविलास शर्मा इस प्रश्न से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीधे कतर कर निकल जाते हैं। उनके मत में इस प्रकार के प्रश्न पूछे ही नहीं जाने चाहिएँ, शायद इसलिए कि इनका उत्तर देने में उन्हें कठिनाई पड़ती है। उनका निर्णय है :

"प्रगतिशील होने से ही क्या साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है, यह प्रश्न भ्रामक है। इसी तरह श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील रहता है, इस धारणा का शुद्ध कला वाला आधार भी भ्रामक है।"

उसी प्रकार श्री शिवदानसिंह चौहान की समीक्षा-पद्धति का आत्मसाक्षात्कार इन शब्दों में होता है :

"दूसरा प्रश्न है कि क्या वह प्राचीन साहित्य (बीते काल में रचे गए साहित्य) का सही मूल्यांकन कर सकती है? प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में यह प्रश्न गौण है कि अमुक रचना में स्थायित्व के गुण हैं अथवा नहीं हैं। इस प्रश्न का उत्तर तो समय ही दे चुका होता है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य सिद्ध करने की चेष्टा निरर्थक है।"

श्रीचौहान जी से हम विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि आपका वचन मृषा है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी सिद्ध करने का मूल्यवान कार्य उन आपके 'प्रतिक्रियावादी' आलोचकों ने किया है जिनकी अथक सौन्दर्य-तृष्णा पुरानी और भूली हुई हस्तलिखित प्रतियों की खोज में उन्हें देश-विदेश घुमाती है और यह साहस प्रदान करती है कि मानवता की समस्त सांस्कृतिक उपलब्धि का वे मूल्यांकन करें। हम आलोचक का दायित्व इससे कहीं अधिक मानते हैं कि उत्सव के बाद हर प्राचीन महान् कलाकार से अपने 'जनवाद' का नेग माँगने के लिए उपस्थित हो जाय।

जब 'जनवादी' आलोचक प्राचीनों के विषय में समय का हवाला देते हैं, अथवा प्रश्न से कतराते हैं, तो उनका तात्पर्य या तो यह होता है कि आलोचक एक रहस्यवादी ऐतिहासिकता के पक्ष में हथियार डाल दे, या फिर वे अपने को समसामयिक कलाकारों के लिए उस ब्रह्म जैसे अनिर्वचनीय समय का ठेकेदार मानते हैं, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया गया है कि समय की यह रहस्यवादी कसौटी जो आज तक के कलाकारों पर लागू होती आई है, आज के या भविष्य के कलाकारों पर लागू नहीं होगी। और यदि ऐसा नहीं है तो श्रेयस्कर हो कि ये 'जनवादी' आलोचक तब तक खामोश रहें जब तक समय अपना निर्णय हम सब के विषय में न दे दे। इस बीच कम्यूनिस्ट पार्टी के सहायतार्थ पचासों अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य वे कर सकते हैं और साहित्य का वातावरण भी कुछ अधिक निर्मल हो जायगा।

वस्तुतः जनहित के उद्देश्य को कोई भी विवेकपूर्ण कलाकार अपनी कला से बहिष्कृत नहीं कर सकता। परन्तु जनहित के इस उद्देश्य में सामयिक संघर्ष में विरोधी लगने वाली विचारधाराओं का समावेश अनिवार्य होगा। दूसरे, जनहित में काम करने वाली अन्य सामाजिक शक्तियों से, विशेषतः राज्य से, जो सम्प्रति इसका सशक्त माध्यम है या हो सकता है, साहित्य के 'जनहित' के आदर्श को पृथक् रखना होगा। इसलिए नहीं कि राज्य द्वारा अभीप्सित जनहित और साहित्य के जनहित में परस्पर विरोध है। परन्तु दोनों के क्षेत्र, प्रेरणा-स्रोत, आग्रह एवं कार्यविधि में इतना अन्तर है कि आज तक विश्व में जहाँ कहीं भी सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है, वहाँ अनिष्ट ही अधिक हुआ है। फलतः साहित्य को इस प्रकार की केन्द्रित शक्तियों से आघात ही पहुँचा है, चाहे इसका प्रतिपादन प्लेटो, कैथोलिक चर्च, फ़ासिज्म, मार्क्स अथवा किसी अन्य के नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर किया गया हो। तीसरे, जनहित की कल्पना लेखक की गहराई, आत्म-साक्षात्कार और दृष्टि-विस्तार द्वारा भी नियोजित होगी। यह सब-का-सब इतना ही निश्चित कर सकता है कि एक प्रवृत्ति, संयमन, आशंसा, जागरूकता—व्यापक मानवीय संवेदना—के रूप में यह 'जनहित' साहित्यकार के मानस में विद्यमान रहे। हम जानते हैं कि इतना बड़ा दायरा रखने पर 'जन-अहित' अथवा सम्प्रति जन-अहित दीखने वाली वस्तु भी इसमें आ सकती है। किन्तु दायरे को छोटा, ठोस और नियामक बना देने पर अधिक अनिष्ट की सम्भावना है और यह अत्यन्त विवादग्रस्त वस्तु सारी समीक्षा का इति-अन्त तो नहीं ही बन सकती।

(अगले अंक में समाप्य)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

डॉ० रांगेय राघव

साहित्य का स्थायी मूल्य

साहित्य का अन्तिम मूल्य क्या है ? यह प्रश्न समस्त विचारकों के चिन्तन के मूल में है। वह युगपरक है, उसका भाव से ही मूल सम्बन्ध है, वह स्थायी महत्त्व रखता है, वह सामाजिक जीवन को बिम्बित करके चुप नहीं रह जाता, वरन् मानवों में एक व्यापक दृष्टिकोण जाग्रत करता है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समाज के नियमों का सन्तुलन करता है और सर्वोपरि वह मनुष्य की भावभूमि का स्तर उठाते हुए उसे उदात्ततर बनाकर आनन्द देता है,—यही विचार अधुना अपने को विभिन्न रूपों में तर्क-वितर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं और यही मूल्यों को निर्धारित करने का वह संघर्ष है, जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है।

हम यही कहेंगे कि ऊपर जो विचार हैं वे एक-दूसरे के पूरक हैं और मूलतः यह सब व्यापक 'मानवतावाद' के विभिन्न अंश हैं, जिसका कि आधार मनुष्य की सत्ता का ही अभिव्यक्त स्वरूप है।

: १ :

'मानवतावाद' क्या है ?

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने को सुखी बनाना चाहता है और उसके लिए उसने समाज बनाया है, साहित्य का सृजन किया है। इस जीवित रहने की इच्छा—अर्थात् जिजीविषा को ही उसने इतना विकसित और व्यापक बनाया है।

जिजीविषा के निम्नलिखित रूप हैं —

(१) मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध, ताकि मनुष्य रह सके, खा-पी सके और अपना विकास कर सके।

(२) मनुष्य का प्रकृति से सम्बन्ध, ताकि मनुष्य वे साधन एकत्र कर सके, जिनके प्रयोग से वह जीवित रह सके और अपने को समृद्ध बना सके।

(३) मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष, ताकि मनुष्य अपना नाश करने वाली शक्तियों को परास्त करता रहे और अपने को जीवित रख सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) मनुष्य का मनुष्य से संघर्ष, ताकि कोई एक-दूसरे को दबा न सके, बल्कि सब ही विकास कर सकें।

(५) मनुष्य की प्रकृति की खोज, ताकि वह जहाँ एक ओर अपने ज्ञान को बढ़ाये, दूसरी ओर वह यह भी जान सके कि सृष्टि क्या है, क्यों है, कैसे है, कब से है, कब तक है इत्यादि।

जिजीविषा के यही मूल रूप हमारे आज तक के चिन्तन के आधार रहे हैं और आज भी हैं। पहली, दूसरी, तीसरी बात को सहज ही स्वीकार कर लिया जाता है। चौथी बात के लिए संसार में आज भी संघर्ष हो रहा है और पाँचवीं बात के लिए आगे भी निरन्तर कार्य होता रहेगा, क्योंकि 'जिजीविषा' का 'उदात्त रूप' उसीमें अपना विकास निरन्तर प्राप्त करता है।

साहित्य इन पाँचों की सुन्दरतम रूपों में अभिव्यक्ति है। प्रश्न अपने मौलिक रूप में इसी प्रकार है, किन्तु उसे खण्ड-खण्ड करके देखा जाता है। यदि हम इस पूर्ण रूप को देखें तो हमारे सामने खण्डित रूप नहीं जाग सकेंगे, वरन् हम अपनी 'सापेक्ष पूर्णता' के अधिक-से-अधिक निकट हो सकेंगे।

सिद्धान्त के रूप में जो इतना सहज है उसकी अभिव्यक्ति आज निम्नलिखित रूपों में तर्क बानकर उपस्थिति प्राप्त करती है—

(१) वे लोग जो वर्ग-संघर्ष के माध्यम से साहित्य और मनुष्य को यांत्रिक बनाते हैं वे रूढ़िवादी दृष्टिकोण से देखते हैं।

(२) वे लोग जो आत्मवाद के नाम पर व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष बनाकर देखते हैं वे अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हैं।

पहला सम्प्रदाय जड़वादी है, दूसरा वास्तविकता को झुठलाने वाला। पहला अपनी बात को अन्तिम सत्य मानता है, दूसरा संशयवादी है। पहला रूसी साम्यवाद को ज्यों-का-त्यों भारत पर लागू करता है, दूसरा समाज की वैज्ञानिक व्याख्या से ही बरगला उठता है। पहला समाजीकरण में व्यक्ति को अस्वीकृत करता है, दूसरा व्यक्ति के नाम पर समाजीकरण का तिरस्कार करता है। पहला शताब्दियों से चले आए मनुष्य की अपूर्व गाथा को यन्त्रवत् देखता है, दूसरा आज तक के विकास को अस्वीकार करके किसी प्रकार का भी तारतम्य ही स्वीकार नहीं करना चाहता।

पहला कुत्सित समाज-शास्त्री है, दूसरा समाज-शास्त्र को ही नहीं मानता। इन दोनों के बीच का रास्ता ही ठीक है।

मार्क्सवाद से ही पहले सम्प्रदाय के लोग प्रेरणा लेते हैं और दूसरे सम्प्रदाय के लोग उसे ही अत्यन्त अपूर्ण और विदेशी समझते हैं, ऐसा कि वह भारतीय प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। दोनों के बीच बहुत बड़ी खाई है। साहित्य में पहले सम्प्रदाय की अभिव्यक्ति नीरस राजनीतिक रचनाओं में प्रकट होती है और दूसरे सम्प्रदाय की अभिव्यक्ति प्रयोगवाद का रूप धारण करती है। पहले सम्प्रदाय के पीछे वे लोग इकट्ठे होते हैं जो मूलतः विध्वंसवादी हैं, अतिक्रान्तिवादी और अराजकवादी हैं, और अवसरवादी हैं, तो दूसरे सम्प्रदाय के पीछे वे लोग आ खड़े होते हैं जो अपने पुराने व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों को सहायता दिलवाना चाहते हैं, जिनमें पलायनवादी, कला कला के लिए वाले, निरपेक्ष शाश्वतवादी और इसी प्रकार के ले अन्य लोग हैं जो इतिहास की विराट् गति को किसी प्रकार रोक देना चाहते हैं, चाहे वे अपने कार्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का परिणाम स्वयं जानते हों, या नहीं जानते हों। वे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर दर्शन की उन अनबूझ उलझनों में जा डूबते हैं, जिनसे आज कोई हल नहीं निकलता और विशेष सामाजिक व्यवस्थाओं में जन्म लेने वाले विचारों को वे देश-काल से अलग करके शाश्वत काल तक का समाधान कर लेने के लिए मजबूर करते हैं।

दोनों ही एक से प्रगति-विरोधी हैं।

पहले सम्प्रदाय के लोग यह मानते हैं कि 'प्रगति' हो चुकी, अब आगे और नहीं होनी है, मार्क्स के सिद्धान्त ही अन्तिम सत्य हैं, और दूसरे सम्प्रदाय के लोग किसी और पुराने ही दर्शन को शाश्वत मानते हैं और व्यक्ति की नीयत देखकर उसके सामाजिक कार्य तथा उनके परिणामों को नहीं देखते।

बातचीत में बहुधा रूस को बीच में खींच लिया जाता है और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या समाजीकरण के पक्षपाती अपने-अपने पक्ष की बात रूस से ही लेते हैं।

यह द्वन्द्व बढ़ता जा रहा है और इसके स्पष्टीकरण की अब साहित्यिक आवश्यकता हो गई है; क्योंकि यह विचार साहित्य पर प्रभाव डाल रहे हैं और इसीलिए प्रगतिशील साहित्य को जाँचने के आज एक से अधिक दृष्टिकोण हैं, जिनमें प्रमुख भेद इस प्रकार किया जा सकता है—एक वे हैं जो रूस से प्रेरणा ही नहीं प्राप्त करते, वरन् रूसी परिस्थिति को ज्यों-का त्यों भारतीय परिस्थिति पर लागू करना चाहते हैं, दूसरे वे हैं जो रूस को एक ऐसी जगह समझते हैं जहाँ भौतिक समृद्धि के नाम पर समस्त व्यक्तिगत चिन्तन की स्वतन्त्रता छीन ली गई है, अतः उसकी जगह एक नया रास्ता निकालना चाहते हैं। दूसरे प्रकार के इन विचारकों में से कुछ लोग यह भी कहते हैं कि मूलतः कोई भी 'विचार' अपने-आपमें बहुत श्रेष्ठ होता है, परन्तु उसकी बुराई या निर्बलता तभी प्रकट होती है जब उसे व्यवहार में लाने की चेष्टा की जाती है।

वस्तुतः यह समस्त दृष्टिकोण एक उलझन के आधार पर खड़ा होता है। अपनी 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' नामक पुस्तक में मैंने इन प्रश्नों को हल करके स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था। किन्तु विचारकों में फिर भी कुछ शंकाएँ रह गई हैं, उन्हें मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

प्रगति निस्सन्देह केवल परिवर्तन नहीं है। प्रगति विकास में मिलती है। विकास का अर्थ स्पष्ट ही मनुष्य का कल्याण है। किसी भी व्यापकत्व की दुहाई देने वाला सिद्धान्त इसका विरोध नहीं कर सकता। पहले जहाँ वन थे, वहाँ अब सुन्दर नगर बने हुए हैं। पहले प्राणिमात्र को वन में विचरण करने की स्वतन्त्रता थी। सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि भयानक जीव-जन्तु निरन्तर मनुष्य की जान को खतरे में रखते थे। अब मनुष्य ने उन सबको अपने पास से दूर खदेड़कर या नष्ट करके अपने जीवन को भयहीन बनाया है। यह जो जीवन को 'भयहीन' बनाने की क्रिया है, इसे 'प्रगति' ही कहना होगा, यद्यपि यह 'प्रगति' केवल मनुष्य की 'प्रगति' है, इसने हिंस्र पशुओं और जीवों की स्वतन्त्रता में व्याघात डाला है।

हमारे सारे दर्शन और जीवन के विचार, केवल इसी मूलाधार पर टिके हुए हैं और वह मूलाधार—मनुष्य का ही कल्याण है। हमारे सारे पुराने और मध्यकालीन धर्म भी इसी वस्तु-सत्य पर आश्रित हैं। अहिंसा का प्रचार करके जीव-मात्र की रक्षा करने वाला जैन धर्म भी अपने सिद्धान्त को केवल श्रावकों पर ही लागू करता है, संसार के साधारण गृहस्थों पर उसे लागू नहीं करता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि व्यापक पारलौकिक दृष्टि से देखा जाय तो यह 'प्रगति' मूलतः मनुष्य का 'जीवित बने रहने का स्वार्थ' ही है, और कुछ नहीं। परन्तु बड़े-से-बड़ा, पारलौकिक सिद्धान्तों को मानने वाला भी, इस स्पष्ट सत्य से इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्य के 'स्वार्थ' के बिना काम भी नहीं चल सकता। महाभारत में भी यह प्रश्न उठाया गया है। अहिंसा के विषय में विचार करते समय यह सवाल उठाया गया है कि यदि पूर्णतः अहिंसा को माना जाय तो फिर मनुष्य का जीवन-निर्वाह किस प्रकार हो; क्योंकि पशु, पक्षी, और जीव-जन्तुओं की ही भाँति वनस्पति भी प्राणधारी है और उसे खाने वाला मनुष्य हिंसा ही करता है। महाभारतकार ने अन्त में इसकी सुलझन यों प्रस्तुत की है—

मनुष्य को ईश्वर ने सर्वश्रेष्ठ बनाया है। यदि मनुष्य जीवित नहीं रहेगा, तो ईश्वर की एक श्रेष्ठ कृति नष्ट हो जायगी। ईश्वर ने ही यह भोजन संसार में नियत किया है। अतः जीवित रहने के लिए इतनी हिंसा तो नितान्त ही आवश्यक है।

महाभारतकार का यह स्पष्टीकरण वास्तव में मनुष्य का स्वार्थ ही है।

मनुष्य का स्वार्थ अन्य प्राणियों की भाँति अपनी जीवन-रक्षा में है। इस जीवन को, मनुष्य ने पहले हिंस्र पशुओं से बचाया था। कालान्तर में सामाजिक जीवन में रहते हुए उसने अपने सत् के, सुन्दर के, शिव के जितने दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, वह मनुष्य के जीवन को सुन्दरतर बनाने के लिए ही प्रस्तुत किये हैं। पहले, मनुष्य अपने समाज की विषमशील परिस्थिति को भाग्य पर लागू करते थे, क्योंकि वे उनका कारण नहीं समझ पाते थे। अपनी 'हिन्दी-साहित्य' की धार्मिक और सामाजिक पूर्वपीठिका' में दार्शनिक जनक के विषय में विस्तार से लिख चुका हूँ, जिसने इस संसार के दुःख से दुखी होकर संसार का त्याग कर दिया था, परन्तु बाद में कोई मार्ग नहीं पाने पर, फिर राज्य सँभाला था और अपने को सब सुख-दुःख के प्रति उदासीन बना लिया था। उच्चराजन्य वर्ग का व्यक्ति होने पर भी, क्षत्रिय-स्वार्थ में बद्ध जनक ने संसार का कल्याण करने का यत्न किया था। परन्तु समाज का विकास नहीं जानने के कारण राजा जनक मार्ग नहीं खोज सका। इस कथा को मैंने यहाँ दो कारणों से दुहराया।

एक तो इसलिए कि मैं व्यक्ति को समाज का अंग मानता हूँ, और व्यक्ति का स्वार्थ सदैव उसकी समाज-व्यवस्था पर निहित होता है, यह मेरे सामने अत्यन्त स्पष्ट है।

दूसरे इसलिए कि व्यक्ति समाज से अभिन्न होने के कारण मशीन नहीं हो जाता, वह चेतन रहता है, यह मेरी दृष्टि में अत्यन्त स्पष्ट है। व्यक्ति का समाजीकरण उसका हनन नहीं है, उसके निरन्तर होते रहने वाले विकास का पर्याय है।

जब यह सत्य हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है तब हम निस्संकोच कह सकते हैं कि प्रगति मूलतः मनुष्य के सामाजिक कल्याण के दृष्टिकोण का नाम है, जो केवल परिवर्तन में नहीं हो जाती जैसा कि हेगेल मानता था, वरन् उस विकास में होती है जो एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में पहुँचने पर मनुष्य के जन-समाज को अधिक सुन्दर या समृद्ध, या स्वतन्त्र इत्यादि बनाती है।

यहाँ विकास की मोटे तौर पर होने वाली कड़ियों को दुहरा लेना आवश्यक है। यहाँ हम मार्क्स की व्याख्या देते हैं।

पहले आदिम साम्यवाद था। समूह का एकत्र होकर रहना, शिकार मिल-बाँटकर खाना, व्यक्तिगत सम्पत्ति का न होना, सामूहिक यौन-सम्बन्ध होना, सामूहिक गीत गाना इत्यादि ऐसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथ्य प्रायः ही संसार की जातियों के आदिम रूपों में मिलने वाले सत्य हैं। उस समय द्वेष इसीलिए नहीं था कि जलने की आवश्यकता नहीं थी। चोरी नहीं थी, क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। देखने को यह समय, यह व्यवस्था बहुत ही स्वप्न-भरी और मनोहारी लगती है। परन्तु इस परिस्थिति में मनुष्य प्रकृति के अन्य पशुओं की भाँति ही था। धीरे-धीरे 'आग' का जन्म हुआ अर्थात् मनुष्य ने 'आग' पर काबू पा लिया। अब समाज का विकास हुआ। अब मनुष्य की शक्ति बढ़ने लगी।

क़बीले एक दूसरे से लड़ने लगे। हारने वाले को गुलाम बनाया जाने लगा। देखा जाय तो जिस व्यवस्था ने मनुष्य को गुलाम बनाया, वह बहुत बुरी होनी चाहिए, परन्तु समाज के विकास के क्रम में दास-प्रथा एक समय उपयोगी सिद्ध हुई, क्योंकि अब मनुष्य के समाज ने 'प्रगति' की। प्रगति !! वह कैसे ?

वह इस प्रकार कि उत्पादन के साधनों पर उसका पहले से अधिक अधिकार हुआ, समाज ने अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाईं। जिस समय समाज में दास-प्रथा का विकास हो चुका, उसकी 'प्रगति' समाप्त हो गई, समाज में 'सामन्तीय व्यवस्था' ने पदार्पण किया। भारत में यह परिस्थिति, यह परिवर्तन-क्रम महाभारत-युद्ध के बाद से प्रारम्भ हुआ और चाणक्य तक पूर्ण हुआ, यहाँ धीरे-धीरे विकास हुआ। पश्चिम में स्पार्टाकस दास के सशस्त्र-विद्रोह के भी प्रमाण मिलते हैं, जो असफल हो गया था।

सामन्तीय व्यवस्था में 'दास' 'भूमिबद्ध किसान' बना, और समाज में जहाँ पहले से अधिक समृद्धि आई, मनुष्य को 'मनुष्यत्व' के नाम पर अधिक सम्मान भी दिया गया। उसके बाद पूँजीवादी व्यवस्था ने पदार्पण किया और जहाँ समाज और भी अधिक समृद्ध हुआ, मनुष्य के 'मनुष्यत्व' को और भी अधिक स्वतन्त्रता देने की घोषणा हुई वहाँ 'शोषण' सामंतीय शोषण की तुलना में 'अधिक हृदयहीन' हो गया।

इस शोषण के अन्त में समाजवादी व्यवस्था ने अपना सिर उठाया, जिसकी अपनी विशेष परिस्थितियों में रूस और चीन ने अपने-अपने देशों में स्थापना की। मैं उनमें नहीं हूँ कि मनुष्य की किसी भी परिस्थिति को उसकी युगसापेक्षता से अलग करके देखूँ और उसे शाश्वत मान लूँ। रूस और चीन में अभूतपूर्व उन्नति हुई है किन्तु उसके साथ ही व्यक्तित्व पर प्रतिबन्ध भी दिखाई दिये हैं। किन्तु वह देश-विशेषों की विकासशील परिस्थितियाँ हैं और वे न तो सार्वभौम हैं, न वे मूल सिद्धान्त के ऊपर ही प्रहार हैं, वे तो उस सिद्धान्त को लागू करने के उन देशों के अपने तरीके हैं। यहाँ हम यह कहना ही आवश्यक समझते हैं कि मूलतः मनुष्य की प्रगति समाज का कल्याण है, केवल व्यक्ति का नहीं; और प्रगति वास्तव में वही है जो व्यक्ति की भी स्वतन्त्रता को मानती है, और व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी समाज की स्वतन्त्रता की ही भाँति उसके विकास में निरन्तर बढ़ती है। यदि इनमें से एक भी दबता है, तो वहाँ कुछ गड़बड़ जरूर है और वह गड़बड़ ही समाज और व्यक्ति के सामरस्य में बाधा उपस्थित करती है और वही प्रगति को रोकने वाली वस्तु है।

अतः हमारे सामने यह स्पष्ट है कि आदर्श व्यवस्था वह है जहाँ समाज में शोषण नहीं है और व्यक्ति अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र का अर्थ यह नहीं कि वह निरंकुश है। परन्तु घुटा हुआ, दमित नहीं है। इन दोनों का संतुलन कठिन है यह तो खैर स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ही, किन्तु कठिन होने के कारण ही न तो हम व्यक्ति को समाज से अलग करके देख सकते हैं, न समाज को ही व्यक्तित्व का विनाश करते देखकर ठीक कह सकते हैं।

व्यक्ति और समाज के इस पारस्परिक सम्बन्ध का विकास प्रत्येक देश की विचार-धारा से प्रभावित मिलता है। हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि भारतीय चिन्तन में वैष्णव मत ने जो मानवतावादी विचार-धारा शताब्दियों से फैलाई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है और इसीलिए भारतीय विचारक समाज और व्यक्ति के अन्योन्याश्रय के प्रति अधिक जागरूक रहे।

: २ :

अत्यन्त दुरूह, अपरिभाष्य और कठिन शब्द कहकर कुछ विचारक 'मानवतावाद' को व्यर्थ कहते हैं। उनका कहना है कि आज तक बर्बर-से-बर्बर व्यक्ति भी 'मनुष्यत्व' का विरोधी नहीं रहा है और अपनी राय में 'अच्छा' ही समझकर करता रहा है। फिर इसी 'मनुष्य के कल्याण' के लिए विभिन्न विरोधी किन्तु महान् कवि भी मिलते हैं, जैसे तुलसी और कबीर। इनके अतिरिक्त कुछ कवियों ने केवल 'सौन्दर्य' का ही वर्णन किया है और वे कल्याण-अकल्याण के झगड़े में नहीं पड़े जैसे 'बिहारी' आदि। अतः 'मानवतावाद', 'कल्याण', 'बहुजनहिताय' आदि 'लघु' हैं, व्यर्थ हैं, अपरिभाष्य हैं। और यह मान लेते हैं कि व्यक्ति एक धारा—एक गढ़ी हुई समाज-विकास की विचार-धारा के अन्तर्गत हैं—मशीनवत् हैं और परतन्त्र हैं, जब कि 'स्वेच्छा' बहुत बड़ी शक्ति है और 'स्वेच्छाकृत साहित्य' ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह व्यक्ति के विकास का परिणाम है और साहित्य 'व्यक्ति' द्वारा ही बनता है।

हम इन्हीं आक्षेपों का उत्तर देते हैं।

पहली बात तो यह है कि कोई भी संसार की परिभाषा अपने-आपमें पूर्ण नहीं है, वह एक से अधिक मनुष्य की विशेष शब्दावली में बँधी स्वीकृति है। गणित में भी 'बिंदु' वह है जिसकी कि न लम्बाई है न चौड़ाई, किन्तु पेंसिल से निशान लगाये 'बिंदु' को हमें बिंदु कहकर इसलिए मानना पड़ता है कि उसके बिना काम नहीं चलता। हमारी स्वीकृतियों के सत्य 'सापेक्ष' हैं, पूर्ण नहीं, प्रगतिशील हैं, अन्त नहीं। अतः न हम 'सत्य', 'स्वेच्छा' 'सौन्दर्य, और 'शिव' की ही ऐसी परिभाषा दे सकते हैं, न 'मानवतावाद', 'कल्याण' और 'बहुजनहिताय' की; जैसी कि भावना के क्षेत्र में माँगी जाती है। हम तो केवल एक ही मर्यादा से इनको जाँच सकते हैं—और वह इसी आधार को मानती है कि 'वह एक से अधिक मनुष्य की विशेष शब्दावली में बँधी स्वीकृति है।'

हम 'लघुत्व' की बात करते हुए कहते हैं कि वास्तव में हम 'जीवन' का तात्पर्य नहीं जानते।

यह सृष्टि विराट् है, गहन है, अपरिमेय है और स्वयंजात है, न हम आकाश के विराट् विस्तार को जानते हैं, यह भी नहीं जानते कि सूर्य का गतिपथ क्या है, कैसा है, परन्तु इस छोटी-सी पृथ्वी पर हम रहते हैं और महाभारतकार के शब्दों में—हम इस मार्ग का आदि और अन्त नहीं जानते, केवल मध्य जानते हैं। इस सृष्टि में कोई 'जीवित रहने की इच्छा' के अतिरिक्त 'आत्म-हत्या' को रोक नहीं सकता। हम आत्म-हत्या करने के लिए स्वतन्त्र हैं। पर करते नहीं। क्यों? आत्मा को मानना, न मानना अलग वस्तु है, परन्तु सब जीवित रहना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहते हैं और वह भी तब जब कि मृत्यु निश्चित है और उसका समय अनिश्चित है ! इसी को दार्शनिक युधिष्ठिर संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य कहा करते थे। फिर यह 'जिजीविषा' क्यों है ? 'क्यों ?' का कोई उत्तर नहीं, वही 'जिजीविषा' है, इसीके लिए मनुष्य ने कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, विभिन्न वाद, काव्य-साहित्य और न जाने क्या-क्या बनाये हैं। इसीको लेकर हमें भी चलना होगा, जिसके अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है।

: ३ :

यह 'जिजीविषा' मनुष्य के विकास के साथ अपने सुन्दरतर रूप में अभिव्यक्त हुई है और 'एक की जिजीविषा' ही 'बहुजन जिजीविषा' के उदात्त रूपों में प्रकट हुई है, इसीका सुसंस्कृत रूप 'मानवतावाद' है। बर्बर-से-बर्बर अपने-आप तो नहीं कहता कि वह मनुष्य-विरोधी है, अंग्रेज भी हिन्दुस्तान पर इसीलिए राज्य करते थे कि भारतीयों को सभ्य बना सकें, परन्तु मैंने पहले स्पष्ट किया है कि इसका मानमूल्य हम 'बहुजनहित', 'कल्याण' की कसौटी पर करते हैं और यही 'मानवतावाद' की कसौटी है। इसी मानवतावाद के विकास को समाज के विकास के अतिरिक्त और देखा ही नहीं जा सकता। समाज के भीतर विभिन्न वर्ग होते आये हैं और जब तुलसी, कबीर और बिहारी का प्रश्न आता है तब हमें स्पष्ट ही समाज के उत्पीड़क और उत्पीड़ितों के तत्कालीन रूपों को देखना पड़ता है और उस संघर्ष में हमें यह देखना पड़ता है कि किसका कार्य किसके पक्ष में अधिक था। उदाहरण के लिए कबीर ने उत्पीडक हिन्दू-मुस्लिम-धर्म का विरोध करके निम्नवर्ग अर्थात् 'बहु जनहित' की रक्षा की। तुलसी इस क्षेत्र में उत्पीड़कों के अधिक साथ वे यद्यपि वे भी उतना कठोर व्यवहार दलितों के साथ नहीं चाहते थे। किन्तु तुलसी ने 'कल्याण' 'बहु जनहित' और 'मानवतावाद' की रक्षा की थी 'मुस्लिम साम्राज्य' के विरुद्ध स्वर उठाकर, क्योंकि 'मुस्लिम साम्राज्य' तब अत्याचार करता था। यदि हम पूरी परिस्थिति को नहीं देखेंगे तो सदैव ही हमें गड़बड़ मिलेगी। बिहारी ने यद्यपि 'सौन्दर्य' की बागडोर पकड़ी और उच्च वर्गों का साथ दिया, परन्तु उसने जिन चित्रों का सृजन किया वे प्रेम और आनन्द का भी द्योतन करते थे, अतः वह स्थायी महत्त्व प्राप्त कर सके ! किन्तु बिहारी में क्योंकि 'सामाजिक तथ्य' कम है, बिहारी उतने बड़े कवि भी नहीं हुए, न माने जाते हैं, जितने कि तुलसी और कबीर थे। और वैष्णव-चिन्तन से प्रभावित जिस 'राधाकृष्ण-युगल' को बिहारी ने चित्रित किया है, उस आराधना के मूल में ही 'समन्वय' का दृष्टिकोण था, जो यदि स्पष्ट नहीं था, तो वहाँ भी अन्तर्निहित ही था। अब अन्तिम बात है कि व्यक्ति की स्वेच्छा समाज से अलग होती है और व्यक्ति जब साहित्य बनाता है तब समाज से अलग हो जाता है। यह दोनों ही तथ्य अनर्गल हैं। न कभी व्यक्ति 'स्वेच्छा' को समाज से अलग कर सका है, न व्यक्ति समाज से अलग होकर साहित्य रच सका है। 'समाज से अलग' न होने का तात्पर्य है कि वह समाज का ही वर्णन करता है, समाज के लिए ही करता है। 'स्वेच्छा' 'निरंकुशता' से अलग है। 'निरंकुशता' अन्यों के अधिकारों पर चोट करती है। 'स्वेच्छा' अपनी सामाजिक 'अति' के रूप में निरंकुशता है। 'स्वेच्छा' का वास्तविक अर्थ होना चाहिए—'व्यक्ति की प्रतिभा का विकास और उसकी शक्ति', वह होनी चाहिए और आदर्श समाज यही है जिसमें उसका विकास हो सके और अधिक-से-अधिक हो सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार एक पिता के तीन पुत्र हों और उन्हें सर्वांग शिक्षण की सुविधा हो, तब वे अपनी प्रतिभा के अनुकूल विकास करें, किन्तु किसी को भी एक-दूसरे को दबाने का अधिकार न हो, वही आदर्श परिस्थिति है। इसी स्थिति को व्यापक रूप देने से 'मानवतावाद' का जन्म होता है; जो 'बहुजनहित' और 'कल्याण' पर आधारित है। हमारा सारा ज्ञान 'सापेक्ष' है और इसीलिए हमारा 'मानवतावाद' का दृष्टिकोण भी 'सापेक्ष' है, मनुष्य-कृत है, मनुष्य-हित है, और मनुष्य के ही भविष्य के लिए है। जिस प्रकार जंगली शेर को मनुष्य 'पिंजड़े' में बन्द करके मनुष्यता का कल्याण करता है और बर्बर सिंह की 'स्वेच्छा' को स्वीकार न करके अपने कल्याण को ही श्रेष्ठ कहता है, उसी प्रकार साहित्य भी अपने उदात्त रूप में व्यक्ति की 'स्वेच्छा' को बन्दी करके 'बहुजनहित' के 'लघु' स्वार्थ को ही 'स्तुत्य' कहता है, क्योंकि उसकी यह 'लघुता' ही उसके सारे 'अस्तित्व' की 'एक मात्र महानता' है, जिसके परे की 'व्यापकता' का कोई मूल्य नहीं है। 'बर्बर दास-प्रथा' से निकलकर सामन्तीय उत्कर्ष ने अपने प्रगति काल में जब 'आत्मा को समान' और 'व्यक्ति को दासत्व से मुक्त' किया था तब सार्वभौम 'रति' को साहित्य का 'मूल' कहा था। जब हम 'सामन्त काल' से आगे आये हैं और 'पूँजीवाद' के शोषण को हटाकर 'नये समाज' की नींव रख रहे हैं, तब हम 'रति' को व्यक्ति की ही परिसीमा में रखकर नहीं देखते, उसकी जिजीविषा' को समाज के समकक्ष, सापेक्ष रख कर देखते हैं और व्यक्ति और समाज का अन्योन्यास्थित सम्बन्ध देखकर उसकी 'रति' नामक 'जिजीविषा' को 'मानवतावाद' का नाम देते हैं और यही 'मानवतावाद' साहित्य का स्थायी मूल्य है ऐसा निर्विवाद मानते हैं, क्योंकि यह 'मानवतावाद' मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का पर्याय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर नगेन्द्र

हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (सम्भावनाएँ)

हिन्दी-आलोचना-शास्त्र !—यह विषय जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही विषम भी। इस समस्त शब्द को सुनकर मेरे मन में चार प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं : (१) क्या भाषा के आधार पर आलोचना-शास्त्र की परिकल्पना तर्क-संगत है ? (२) क्या हिन्दी-आलोचना-शास्त्र-जैसा कोई स्वतन्त्र विधान विद्यमान है ? (३) यदि विद्यमान है तो उसका विकास किस प्रकार किया जा सकता है ? और (४) क्या स्वतन्त्र भारत में, जब प्रादेशिक भावना की दीवारों को तोड़-कर भारतीय चेतना का उदय हो रहा है, इस प्रकार का प्रयत्न आवश्यक तथा उपयोगी होगा ? प्रस्तुत विषय का विवेचन मैं इन्हीं चार प्रश्नों के आधार पर करूँगा।

पहला प्रश्न है : क्या भाषा के आधार पर आलोचना-शास्त्र की परिकल्पना तर्क-संगत है ? मेरा अनुमान है कि आलोचना-शास्त्र से अभिप्राय शायद साहित्यालोचन की सिद्धान्त-संहिता का है, जिसे अंग्रेज़ी में 'प्रिंसिपल्स ऑफ़-लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' कहते हैं और प्राचीन भारतीय वाङ्-मय में जिसके साहित्य-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि अनेक नाम थे। मेरा विचार है कि काव्य शब्द को सृजनात्मक साहित्य का वाचक मानकर हिन्दी में हमें काव्य-शास्त्र शब्द को इस अर्थ में रूढ़ कर देना चाहिए। काव्य-शास्त्र वस्तुतः काव्य-सम्बन्धी तथ्यों अथवा नियमों का आकलन-मात्र नहीं है—वह काव्य का दर्शन है अर्थात् काव्य के माध्यम से व्यक्त मानव-सत्य का अनुसन्धान एवं उपलब्धि है। सत्य का अनुसन्धान और उपलब्धि क्या भाषानुसार खण्डित किये जा सकते हैं ? यह शंका मेरे मन में, और मैं समझता हूँ आप में से अनेक के मन में, उठ सकती है ? तो क्या बंगला-काव्य-शास्त्र, असमिया-काव्य-शास्त्र, उर्दू-काव्य-शास्त्र, मराठी-काव्य-शास्त्र और इसी प्रकार हिन्दी काव्य-शस्त्र का संस्कृत या भारतीय-काव्य-शास्त्र से स्वतन्त्र तथा परस्पर-भिन्न अस्तित्व है ? इस प्रश्न की पहली प्रतिक्रिया तो नकारात्मक ही होती है—लगता है कि तब तो दर्शन को भी भाषावार विभक्त करना पड़ेगा : हिन्दी-दर्शन, उड़िया-दर्शन, कन्नड़-दर्शन ? सामान्यतः दिक्कालावच्छिन्न सत्य का, अनुसन्धान की सुविधा के लिए, पूर्व और पश्चिम, या अधिक-से-अधिक प्रजाति या राष्ट्र के आधार पर पृथक् अध्ययन कर लीजिए, परन्तु एक ही राष्ट्र की समानमातृका भाषाओं में उसे बाँटना तो नितान्त अनुचित होगा। किन्तु यह बात नहीं है। दर्शन, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, सत्य की उपलब्धि-मात्र नहीं है, उसका अनु-सन्धान भी तो है—यों कहना चाहिए कि अनुसन्धान ही अधिक है, क्योंकि उपलब्धि के उपरान्त तो वाणी मौन हो जाती है; अनुसन्धान की प्रक्रिया सर्वथा दिक्कालावच्छिन्न नहीं हो सकती; क्योंकि अनुसन्धाता की अपनी शक्ति, सीमा तथा परिस्थिति का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सत्य की उपलब्धि तो सामान्य रहती है और रहेगी, किन्तु उस उपलब्धि के लिए अनुसन्धान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया विशिष्ट ही होती है। इसी विशिष्टता के आधार पर दर्शन अथवा काव्य-दर्शन के विशिष्ट रूप की परिकल्पना करना तर्कहीन नहीं है। संस्कृत और अंग्रेज़ी से हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्य है, अतः उसके माध्यम से सत्य के अनुसन्धान की प्रक्रिया भी स्वतन्त्र हो सकती है—दूसरे शब्दों में हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र हो सकता है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि क्या हिन्दी में इस प्रकार का अपना कोई स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र विद्यमान है? हिन्दी में काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का अभाव नहीं है। रीति-काल में पूरी दो शताब्दियों तक निरन्तर रीति-ग्रन्थों की रचना होती रही और सहस्राधि ग्रन्थ प्रकाश में आये—आधुनिक युग में भी लगभग अर्ध-शताब्दी से इस क्षेत्र में अनवरत कार्य हो रहा है। जिसके फलस्वरूप वर्तमान काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ भी कम संख्या में उपलब्ध नहीं हैं। रीति-युग में जहाँ केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, दास और प्रतापसाहि-जैसे सर्वांग-विवेचक आचार्य हुए, वहाँ आधुनिक युग में भी पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक अनेक उद्भट विद्वानों ने इस अंग की श्रीवृद्धि की है; और आज भी, मेरी धारणा है कि हिन्दी-साहित्य का सबसे पुष्ट अंग आलोचना ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है। परन्तु प्रश्न परिमाण का नहीं है, गुण का भी नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या इस ग्रन्थ-समुदाय पर आधारित हिन्दी-काव्य-शास्त्र का संस्कृत और वर्तमान युग में अंग्रेज़ी अथवा अधिक-से-अधिक यूरोपीय काव्य-शास्त्र से, स्वतन्त्र अस्तित्व है? इस प्रश्न के उत्तर में सहसा 'हाँ' कहना कठिन है, क्योंकि रीति-युग का विवेचन दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त आदि का ही उपजीवी है। तुलनात्मक अध्ययन से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दी के रीतिकारों ने परम्परागत काव्य-शास्त्र के विकास में भी कोई विशेष योग-दान नहीं किया, स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र के निर्माण का तो प्रश्न ही क्या? अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण इस बात के साक्षी हैं कि हिन्दी के रीति-ग्रन्थों में यदि कहीं तथाकथित स्वतन्त्र विवेचन दृष्टिगत भी होता है तो वह या तो किसी अप्रचलित संस्कृत-ग्रन्थ में ही मिल जाता है, या अपने-आपमें नगण्य सिद्ध हो जाता है, या हिन्दी-रीतिकार की भ्रान्ति का परिणाम-मात्र होता है। वर्तमान काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों में अनेक आचार्य हिन्दी के उदाहरण तक देने में असमर्थ रहे हैं। उनके लक्षण आदि तो संस्कृत से उद्धृत हैं ही, उदाहरण भी संस्कृत उदाहरणों के ही अनुवाद हैं। ऐसी स्थिति में हमारे साहित्य में ऐसा क्या है जिसे हम हिन्दी का अपना काव्य-शास्त्र कह सकें?—इसमें सन्देह नहीं कि इस आलोचना में बहुत-कुछ तथ्य है, परन्तु दृष्टिकोण में थोड़ा-सा परिवर्तन कर देने से चित्र इतना विकृत नहीं रह जायगा। वास्तव में हिन्दी-रीति-शास्त्र का मूल्यांकन करते हुए आज भी हम संस्कृत-काव्य-शास्त्र के मानदण्डों का प्रयोग करते हैं—यह भी उसी भूल की पुनरावृत्ति है जो हमारे प्रायः सभी प्राचीन तथा अनेक नवीन रीतिकारों ने की है : अर्थात् लक्ष्य और लक्षण की असंगति। संस्कृत में लक्ष्य-काव्य और लक्षण-ग्रन्थों में पूर्ण सामंजस्य था : भामह, वामन, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक आदि ने सिद्धान्त-विवेचन का आधार उपलब्ध काव्य को ही बनाया था। उन्होंने चाहे निगमन शैली का अवलम्बन किया हो या आगमन शैली का, परन्तु संस्कृत-काव्य का आधार कहीं नहीं छोड़ा—इसीलिए उनके लक्षण और लक्ष्य के बीच प्रत्यक्ष तथा जीवन्त सम्पर्क आद्यन्त बना रहा; जिसने उनके काव्य-शास्त्र को रूढ़ि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जड़ नहीं होने दिया। हिन्दी का रीतिकार इसी जीवन्त सम्बन्ध-सूत्र को नहीं पकड़ पाया : परिणाम यह हुआ कि वह प्राचीन लक्षणों का अनुवाद करके उनकी सिद्धि के लिए नये उदाहरण रचता रहा। इस प्रकार सारा क्रम ही उलट गया—आवश्यक यह था कि वह हिन्दी में उपलब्ध लक्ष्य-काव्य के आधार पर निगमन शैली से लक्षण-रचना करता या हिन्दी-काव्य के आधार पर संस्कृत-सिद्धान्तों का परीक्षण एवं पुनराख्यान करता, परन्तु वह लक्षण को सिद्ध करने के लिए लक्ष्य की रचना करने लगा। आज हम फिर इसी दृष्टि से हिन्दी-रीति-साहित्य का मूल्यांकन करके उसी मूल की आवृत्ति कर रहे हैं—परिणाम यह होता है कि उसमें जो थोड़ा-बहुत अपना है वह भी संस्कृत-काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कसने से उपेक्षित या तिरस्कृत हो जाता है और हमें लगता है कि हमारे पास कुछ नहीं है।

परन्तु स्थिति इतनी दयनीय नहीं है। हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन हिन्दी-काव्य में—और काव्य-शास्त्र में भी इतनी सामग्री निश्चय ही विद्यमान है कि उसके आधार पर हिन्दी के अपने विशिष्ट काव्य-शास्त्र के अस्तित्व की परिकल्पना असंगत नहीं कही जा सकती : कम-से-कम हिन्दी के पास इतना मूलधन अवश्य विद्यमान है कि उसके आधार पर एक अच्छे काव्य-शास्त्र का निर्माण किया जा सकता है जो संस्कृत तथा अंग्रेजी का उपजीवी न होकर हिन्दी की अपनी सम्पत्ति होगी। मैं कुछ उदाहरण देकर अपनी स्थापना को पुष्ट करता हूँ। पहले लक्षण-ग्रन्थों को ही लीजिए—इसमें सन्देह नहीं कि हमारे अधिकांश लक्षण ग्रन्थ संस्कृत-अलंकार-शास्त्र या कवि-शिक्षा-ग्रन्थों के ही उपजीवी हैं, परन्तु उनमें ऐसी पर्याप्त सामग्री है जो नई है : उदाहरण के लिए रस अथवा शृंगार रस के सार्वभौम महत्त्व की प्रतिष्ठा जैसी हिन्दी में है, वैसी संस्कृति में नहीं है। संस्कृत का मान्य सिद्धान्त, समग्रतः ध्वनि ही रहा है : आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि को सर्वप्रभुत्वसम्पन्न सत्ता से मण्डित कर दिया था और रस, अलंकार आदि उसीके अधीनस्थ हो गए थे। हिन्दी रीति-शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त रस ही हुआ : रीति-युग में शृङ्गार रस की ऐसी सहस्रधारा प्रवाहित हुई कि ध्वनि, अलंकार आदि उसमें निमग्न हो गए—यहाँ शृङ्गारवाद के रूप में एक पृथक् सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ। आप कहेंगे कि शृङ्गार के रसराजत्व के सूत्र भी तो संस्कृत से ही प्राप्त हुए थे—परन्तु सूत्र तो सभी के कहीं-न-कहीं से प्राप्त होते ही हैं, महत्त्व उस स्वतन्त्र और व्यापक रूप-आकार का है, जो शृङ्गार ने हिन्दी-काव्य-शास्त्र में धारण कर लिया था। वास्तव में हिन्दी के आचार्य की दृष्टि ही बदल गई थी—और इसका एक अद्भुत प्रमाण यह है कि महाराज रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के कोटि-क्रम का विधान किया है; यह ध्वनि के लिए सबसे बड़ी चुनौती और रस की सार्वभौम प्रभुता का अन्तिम प्रमाण था। देव ने अनेक प्रकार से रस का प्रबल पृष्ठपोषण और ध्वनि का पूर्ण तिरस्कार किया। यहाँ तक कि उन्होंने व्यंजना को रस-कुटिलता के कारण अधम ही कह दिया। अलंकार के क्षेत्र में अतिशय तथा वक्रता आदि के स्थान पर हिन्दी में सादृश्यमूलक उपमादि की प्रतिष्ठा हुई, गुणों में माधुर्य की (चिन्तामणि आदि ने उसे काव्य का सर्वस्व माना है) और शब्दालंकारों में अनुप्रास की। यह सब शृङ्गार रस की ही महिमा थी जिसका चमत्कार नायिका-भेद के क्षेत्र में भी अधिक प्रकाशित हुआ—शुक्ल जी-जैसे शास्त्रनिष्ठ आलोचक को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी में नायिका-भेद का विधान कहीं अधिक समृद्ध एवं सर्वांगपूर्ण है।—हिन्दी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्द-शास्त्र तो प्रायः स्वतन्त्र रूप में विकसित हुआ ही है—दास आदि ने तुक की विवेचना करके एक स्वतन्त्र परिपाटी का शिलान्यास किया। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; परन्तु उनके लिए इस समय न अवकाश है, और न आवश्यकता ही। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी-रीति-शास्त्र का मूल्यांकन पूर्णतया संस्कृत के आधार पर ही न होकर स्वतन्त्र बुद्धि से भी किया जाय। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि हिन्दी के रीतिकारों की त्रुटियों और भ्रान्तियों को भी प्रमाण मान लिया जाय। हमारा रीति-शास्त्र संस्कृत पर आश्रित रहा है, अतएव संस्कृत-काव्य-शास्त्र के प्रकाश में उसका अध्ययन होना तो ठीक ही है और ऐसा अनेक विद्वान् कर भी चुके हैं। किन्तु मेरा निवेदन केवल यही है—उसके साथ-साथ स्वतन्त्र दृष्टि से भी हिन्दी-रीति-शास्त्र का पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि हमको यह नहीं भूल जाना चाहिए कि हिन्दी के रीतिकार एक सर्वथा भिन्न युग तथा भिन्न साहित्य के प्रतिनिधि थे। संस्कृत की ऋणी होने पर भी उनकी काव्य-चेतना स्वतन्त्र थी। इस प्रसंग में मुझे अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक ड्राइडन की एक प्रसिद्ध उक्ति का अनायास ही स्मरण हो जाता है। वे लिखते हैं—'हमें हर जगह यह दुहाई नहीं देनी चाहिए कि अरस्तू का मत भिन्न था। आज यदि अरस्तू होता तो वह भी अपना मत बदल देता।' काव्य-शस्त्र का यह ज्वलंत सत्य है, इसकी उपेक्षा कर देने से हिन्दी में जो कुछ स्वतन्त्र है, वह भी उपेक्षित हो जाता है।

रीति-विवेचन के अतिरिक्त हिन्दी के प्राचीन काव्य में भी इतनी प्रभूत सामग्री है कि उसके आधार पर अपने स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र का निर्माण अत्यन्त सफलता पूर्वक किया जा सकता है। आरम्भ से ही हिन्दी की अपनी विशिष्ट काव्य-चेतना रही है, जो स्वतन्त्र काव्य-रूपों में अभिव्यक्त होती आई है—जैसे रासो-काव्य का अपना स्वतन्त्र स्वरूप है; जिसे आप संस्कृत के महाकाव्य तथा खण्डकाव्य के लक्षणों में नहीं बाँध सकते, आल्ह खण्ड-जैसे वीर-गीतों का भी अस्तित्व पृथक् ही है। हिन्दी का सन्त-काव्य, काव्य की मूल चेतना और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से, संस्कृत-काव्य-शास्त्र के लक्षणों में नहीं आता। इसी युग के प्रेमाख्यानक-काव्यों की परम्परा को शास्त्रीय प्रबन्ध-काव्य की कसौटी पर आँकना उचित नहीं है। भक्ति-युग में गीति और प्रबन्ध के अपूर्व समन्वय से जो एक नवीन किन्तु अत्यन्त प्रबल काव्य-रूप आविर्भूत हुआ उसको आप न संस्कृत-रूढ़ मुक्तक की परिभाषा में बाँध सकते हैं, न प्रबन्ध की, और न पाश्चात्य गीति-काव्य की। इसी प्रकार रीति-काल में सवैया तथा घनाक्षरी में जो अद्भुत् रस-व्यंजना हुई वह न संस्कृत के मुक्तक की परिधि में आती है और न अंगरेज़ी के गीत की ▸ उसमें मुक्तक की अपेक्षा कहीं अधिक आत्म-तत्त्व और गीत की अपेक्षा कहीं अधिक वस्तु-तत्त्व विद्यमान रहता है। इन सभी अभिव्यंजना-रूपों का अध्ययन संस्कृत के लक्षणों अथवा सर्वथा भिन्न देश-काल में विकसित यूरोपीय काव्य-शास्त्र की परिभाषाओं के द्वारा करने के स्थान पर हिन्दी की प्रकृति और स्वरूप—हिन्दी की अपनी विकासोन्मुखी काव्य-चेतना तथा उसके सहज माध्यम काव्य-रूपों के विश्लेषण द्वारा कदाचित् अधिक सफल हो सकेगा। काव्य-शास्त्र के उस चिरन्तन सिद्धान्त के अनुसार यहाँ भी आलोचक को अपनी आलोचना-दृष्टि आलोच्य में से ही प्राप्त करनी होगी—और इसमें इन कवियों की अपनी उक्तियाँ, जो आत्म-निरीक्षण के क्षणों में स्वतः उद्गीथ हो गई हैं, आपका पथ-प्रदर्शन करेंगी। तुलसी और घनानन्द-जैसे कवियों में इस प्रकार का आत्मालोचन पर्याप्त मात्रा में मिलेगा; आप कल्पना कीजिए कि रीति के उस रूढ़ि-ग्रस्त युग में घना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
८८ २१
दि ३६ आ
पुस्तकालय
(२ अंक)
079544

नन्द में आत्म-तत्त्व के पोषक इस प्रकार के अनेक उद्धरण सहज ही मिल जाते हैं :

लोग तो लागि कवित्त बनावैं पै मोहि तो मेरे कवित्त बनावत !

तुलसीदास अपने मंगलाचरण में ही वाणी और विनायक का विचित्र संयोग करके अपनी कल्याणमयी सौन्दर्य-भावना की व्यंजना कर देते हैं।

हिन्दी के आधुनिक काव्य-शास्त्र तथा काव्य के विषय में तो और भी अधिक क्षेत्र है। मैं यह मानता हूँ कि आरम्भ में जो रीति-ग्रन्थ लिखे गए उनमें स्वतन्त्र दृष्टि का प्रायः अभाव है—आधार चाहे भारतीय काव्य-शास्त्र रहा हो या पाश्चात्य। परन्तु यह भी अनुपयोगी नहीं था, भारतीय दृष्टिकोण को ससझने के लिए सर्वश्री अर्जुनदास केडिया, जगन्नाथप्रसाद 'भानु' और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के ग्रन्थों की उपादेयता अतर्क्य है, इसी प्रकार 'साहित्यालोचन' आदि ने पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करने में बड़ी सहायता की है और इस दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व आज भी नगण्य नहीं है। परन्तु हिन्दी-काव्य-शास्त्र का स्वतन्त्र रूप इनमें न मिलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि की समीक्षा में ही मिलता है। इधर आधुनिक काव्य और उससे सम्बद्ध अनेक प्रतिभाशाली कवियों की भूमिकाओं में हिन्दी-काव्य-शास्त्र के विकास के लिए अत्यन्त पुष्ट आधार मिलता है। छायावाद में पन्त आदि सक्षम कलाकारों ने जिस नवीन सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष किया है वह हिन्दी की अपनी विभूति है, जो बंगला और अंगरेजी की रोमानी छाया से स्वतन्त्र है। कला की अन्तश्चेतना और बाह्य अभिव्यंजना दोनों के विकास में उसका अपना विशिष्ट योगदान है, जिसका उचित मूल्यांकन अभी होना है। 'यशोधरा' और 'द्वापर'—'तुलसीदास', 'बापू' और 'कुरुक्षेत्र'—और इन सबकी मुकुट-मणि—'कामायनी'—आधुनिक हिन्दी-काव्य की अनेक अनुपम कृतियाँ हैं : आप उन्हें संस्कृत या अंगरेजी के किस काव्य-रूप के अन्तर्गत लक्षण-बद्ध करेंगे ? गद्य में भी इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र है : शुक्लजी के या सियारामशरण के निबन्धों को, अथवा महादेवी के रेखा-चित्रों को आप बलात् 'ऐसे' की किस परिभाषा में बाँध सकेंगे ? प्रसाद के नाटकों के साथ भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-विधान के आरोप के कारण कितना अन्याय होता रहा है ? मैंने अनेक साहित्य-मर्मज्ञों को यह कहते सुना है कि 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास नहीं है, वह उपन्यास और जीवनी के बीच की कोई वस्तु है। यहाँ कदाचित् आपके या किसी के मन में एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है और वह यह कि कहीं मैं इन ग्रन्थों को आदर्श साहित्य-रूप मान लेने की सिफ़ारिश तो नहीं कर रहा हूँ। न ही मैं इनके दोषों की उपेक्षा नहीं करना चाहता—और न इन्हें परिपूर्ण ही मानकर चलता हूँ। मेरा मन्तव्य केवल यही है कि हिन्दी-आलोचना-शास्त्र का विकास हिन्दी के आलोच्य साहित्य से निरपेक्ष होकर नहीं होना चाहिए। उसके निर्माण और विकास के लिए परिपुष्ट आधार विद्यमान है : आज उसके सम्यक् उपयोग की आवश्यकता है। यह उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि हिन्दी-साहित्य की परम्परा को आधार मानकर भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों के सामंजस्यपूर्ण पुनराख्यान के द्वारा यह महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। इसका दिशा-निर्देश आचार्य शुक्ल और कवि प्रसाद के विवेचन में मिल जाता है : शुक्लजी ने भारतीय सिद्धान्तों का पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अनुसार विवेचन-व्याख्यान किया है और प्रसादजी ने पाश्चात्य सिद्धान्तों का भारतीय चिन्ता-पद्धति के अनुसार।

इस प्रकार आरम्भ में मैंने जो चार प्रश्न उठाये थे— उनमें से तीन का उत्तर मैं अपने

पुस्तकालय
कांगड़ी, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतानुसार दे चुका। अब चौथा प्रश्न शेष रह जाता है। उसका उत्तर देकर मैं इस वक्तव्य का उपसंहार करता हूँ। आज जब प्रादेशिक भावनाएँ भारतीय चेतना में संश्लिष्ट हो रही हैं: इस प्रकार का प्रयत्न क्या आवश्यक तथा उपयोगी होगा? इस प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने के उपरान्त हिन्दी-साहित्य तथा भाषा दोनों का भारतीय आधार पर विकास होना आवश्यक है, परन्तु हिन्दी के विकास के लिए वे ही नियम लागू होने चाहिएँ जो मनोविज्ञान आदि में व्यक्तित्व के विकास के लिए निर्धारित हैं। व्यक्तित्व के विकास के लिए वातावरण में उपलब्ध सभी तत्त्वों का उचित उपयोग आवश्यक होता है, परन्तु आधार व्यक्तित्व की मूल-प्रवृत्तियाँ ही रहती हैं। इसी प्रकार हिन्दी भाषा एवं साहित्य का विकास संस्कृत तथा द्रविड़ भाषाओं में निहित भारतीय परम्पराओं तथा पाश्चात्य चिन्ता-धाराओं के पोषक तत्त्वों द्वारा होना सर्वथा श्रेयस्कर है; किन्तु उसका आधारभूत व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहना चाहिए: इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के संश्लिष्ट व्यक्तित्व का विकास ही श्रेयस्कर है। व्यक्तित्व खोकर विकास कैसा? संस्कृत-काव्य-शास्त्र का भाण्डार अत्यन्त विभूति-सम्पन्न है, इसमें कौन सन्देह कर सकता है—भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रसरित यह समृद्ध परम्परा हमारी अमूल्य थाती है: उसका उचित अध्ययन अभी नहीं हुआ है। उधर प्लेटो से लेकर क्रोचे तक विस्तृत चिन्ता-धारा भी हमें विदेशी शोषण की क्षति-पूर्ति में मिली है, उसका भी हमारा ज्ञान बड़ा कच्चा है। इन अभावों की पूर्ति के लिए हिन्दी के मेधावी आलोचकों के सामुदायिक प्रयत्न की अपेक्षा है: और उनके लिए यह कार्य किसी प्रकार दुष्कर नहीं है, क्योंकि यदि आप आत्म-श्लाघा न मानें तो मैं एक बार फिर निवेदन कर दूँ कि हिन्दी का आलोचना-साहित्य आज कदाचित् उसका सबसे पुष्ट अंग है। इस प्रकार हिन्दी के स्वतन्त्र आलोचना-शास्त्र का सम्यक् विकास किया जा सकेगा जिसका मूल आधार होगा, हिन्दी के माध्यम से काव्य के चिरन्तन सत्यों का अनुसन्धान, जो भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों की समृद्ध परम्पराओं से पोषण प्राप्त करेगा, परन्तु उनकी व्याख्या या अनुवाद-मात्र होकर नहीं रह जायगा।

डॉक्टर भगीरथ मिश्र

हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (आवश्यकता)

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में आज हमारे सामने कई प्रश्न हैं और समीक्षा के विकास के पथ पर आगे बढ़ने के पूर्व, हमें इनके उत्तर प्राप्त करने हैं; अन्यथा, न तो काव्य-शास्त्र या समीक्षा-शास्त्र का ही कोई निश्चित रूप बन पायगा, जिसमें हमारी कोई विशिष्ट देन हो सके और न उसके विकास के मार्गों में ही कोई सामंजस्य सम्भव हो सकेगा। प्रश्न ये हैं—(१) हमें आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का क्या और कैसे उपयोग करना चाहिए? (२) हम पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों से क्या और कैसे ग्रहण कर सकते हैं? (३) क्या हिन्दी का कोई अपना निजी समीक्षा-शास्त्र हो सकता है? यदि हाँ, तो उसका विकास, किस प्रकार किया जा सकता है? ये तीन प्रमुख प्रश्न हैं, जिन पर हमें विचार करना है। इन्हीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
०२१.५५५

से सम्बन्धित और भी छोटे-मोटे प्रश्न हो सकते हैं जिनमें से अधिकांश का समाधान, इन्हींके समाधान के साथ हो सकता है।

पहले प्रश्न का पूरा विस्तार इस प्रकार होगा। क्या आज की समीक्षा के लिए प्राचीन भारतीय समीक्षा-पद्धतियाँ आवश्यक हैं? यदि आवश्यक हैं तो किस अंश तक हम उनका उपयोग कर सकते हैं? उनका उपयोग समीक्षा के आधुनिक रूप को कहाँ तक प्रगति और विकास देने में समर्थ होगा और उसके द्वारा कहाँ तक नवीन रचनाओं की प्रेरणा मिल सकेगी, साथ ही उनका यथार्थ मूल्यांकन हो पायगा? मैं समझता हूँ कि ये प्रश्न अधिकांश आलोचकों और लेखकों के मन में उठते होंगे और इनके भिन्न-भिन्न उत्तर भी हमारे सामने आते हैं। कुछ लोग इन प्राचीन पद्धतियों को आज के लिए बिलकुल निकम्मी समझते हैं और उनको, किसी रूप में भी आधुनिक आलोचना-पद्धति के लिए उपयोगी नहीं मानते। कुछ लोग, दूसरी ओर इन्हींको कसौटी मानकर आधुनिक रचनाओं को कसते हैं और उनके आधार पर खरी न उतरने वाली कृतियों को देखकर निराश होते हैं। मेरी समझ में ये दोनों ही दृष्टियाँ एकांगी हैं। जिस समय ये सिद्धान्त बने थे, तब से हमारे दृष्टिकोण और संस्कारों में बहुत कुछ विकास और परिवर्तन हुआ है, अतः उन सिद्धान्तों को यथावत् आधार मानकर हम अपना काम नहीं चला सकते। प्रमुख प्राचीन काव्य-सिद्धान्त, अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, अनुमिति और औचित्य हैं। इन सबकी कसौटी पर कसकर भी, हम ऐसा अनुभव करते हैं जैसे हमने किसी रचना का पूर्ण महत्त्व और प्रभाव स्पष्ट नहीं कर पाया। इन सिद्धान्तों पर कसने से आचार्य-वाक्य प्रमाण ठहरते हैं, पर कवि की अपनी मौलिकता को हम प्रकट नहीं कर पाते। संस्कृत-साहित्य में प्राप्त काव्य में समस्त लक्षणों और तत्त्वों को सामने रखकर भी काव्य की व्यापक, गम्भीर महत्ता हृदयगम नहीं कर पाते जो कि उसी साहित्य की ही, कवि और काव्य-प्रशस्तियों में प्रकट है। अतः निश्चित है कि हमें आज की दृष्टि से नये सिद्धान्त स्थिर करने चाहिएँ, जो काव्य और साहित्य के समग्र महत्त्व को प्रकट कर सकें।

परन्तु, एक बात का ध्यान हमें रखना है। संस्कृत-साहित्य के अनेक काव्य-सिद्धान्त, सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्व रखते हैं, अतः हम उनका पूर्णतया त्याग नहीं कर सकते। उनका उपयोग हमें नवीन, विकसित रूप में करना चाहिए। इस दृष्टि से अलंकार, रस और ध्वनि-सिद्धान्त आज भी हमारे लिए उपादेय हैं। आज के कवियों ने अपने प्रयोगों में अलंकारों का विकास किया है। अलंकारों के नवीन प्रयोगों और उनके भेद-प्रभेदों के विकास को आज की कविता में अध्ययन करके, यह निश्चित किया जा सकता है कि अलंकार कविता में अनिवार्य हैं या नहीं। पूर्ववर्ती अलंकारों का आज किस प्रकार विकास हुआ है, यह अध्ययन की वस्तु है। अलंकार के आधार पर जो काव्य-सौन्दर्य स्पष्ट होगा, वह अन्य आधारों पर नहीं। रस की दृष्टि से भी आज की रचनाओं में नवीन भावों की अभिव्यक्ति और पूर्वनिर्दिष्ट भावों की विवृति हुई है; देश-प्रेम, मानव-प्रेम धीरे-धीरे स्थायी भाव-से बनते जा रहे हैं, नये भाव भी अभिव्यक्त हुए हैं; जिन्हें पुराने लक्षण-बद्ध भावों के क्षेत्र में बन्द नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त रस भावानुभूति की प्रक्रिया पर भी आधुनिक मनोविज्ञान-प्रबुद्ध दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार शब्द-शक्तियों और ध्वनि-सिद्धान्त के क्षेत्र में भी सुन्दर प्रयोगों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होगा। ये सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि इन पर किसी भी भाषा के काव्य को परखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है।

बहुत-कुछ इसी प्रकार की बातें हम दूसरे प्रश्न के उत्तर में भी कह सकते हैं। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आलोचना-पद्धति के कुछ रूपों को आज भी हम उपादेय ठहराते हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य आलोचना के भी कुछ रूप हमारे लिए नवीन और आवश्यक हैं। ऐतिहासिक आलोचना और व्याख्यात्मक आलोचना इनमें प्रमुख हैं। ऐतिहासिक आलोचना के आधार पर ही हम किसी कृति का युग की पृष्ठभूमि में मूल्यांकन कर सकते हैं। जो कृति आज महत्त्वपूर्ण है सौ वर्ष बाद आवश्यक नहीं कि उसका महत्त्व उतना ही बना रहे। अतः कवि और उसकी कृति के साथ न्याय करने के लिए ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति आवश्यक है। व्याख्यात्मक आलोचना और भी अधिक उपादेय है। हम व्याख्यात्मक आलोचना के आधार पर, किसी भी कवि के निजी विशिष्ट काव्यादर्श को स्पष्ट कर सकते हैं। ऐसे ही किसी युग-विशेष की प्रवृत्तियों के विश्लेषण से युग की विशिष्ट काव्य-चेतना को समझकर उस युग के काव्यादर्शों को ढूँढा जा सकता है।

प्रश्न यह उठता है कि वैयक्तिक काव्यादर्शों और युग-विशेष के काव्यादर्शों की क्या आवश्यकता है? उसकी आवश्यकता अनेक दृष्टियों से है। जिस प्रकार हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक और उपकरण युगानुकूल बदलते रहते हैं, कुछ मूलभूत बातें और तत्त्व आती-जाती हैं और कुछ बातें बीच में कुछ समय तक उपेक्षित रहकर फिर नवोदित होती हैं, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी नवीन तत्त्वों का समावेश और प्राचीन तत्त्वों का तिरोभाव और नवोदय होता रहता है और इस प्रकार काव्यादर्श का विकास भी देखा जा सकता है, साथ ही इसके आधार पर नये सिद्धान्तों को भी खोजा जा सकता है। यदि इस प्रकार कवि के वैयक्तिक तथा युग के विशिष्ट प्रयोगों को प्रत्यक्ष न किया जाय, तो काव्य और उनके शास्त्र दोनों का ही विकास रुक जाता है। अतः व्याख्यात्मक समीक्षा-पद्धति हमारे बड़े काम की है।

काव्य और साहित्य व्यक्ति की सृष्टि और समाज की वस्तु हैं। अतएव व्यक्ति और समाज का ज्ञान प्रस्तुत करने वाले अनेक शास्त्र, काव्य में लागू होते हैं। वरन्, हम कह सकते हैं समाज और व्यक्ति के यथार्थ जीवन को सँजोये रखने वाली वस्तु काव्य ही है। ऐसी दशा में अनेक शास्त्रों के आधार पर भी काव्य की समीक्षा और उसका अध्ययन किया जा सकता है। जैसे मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र की दृष्टि से तथा समाजवादी कसौटी पर काव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। परन्तु यह आलोचना की कोई नई प्रणाली नहीं, वरन् शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति के ही ये विविध रूप हैं। काव्य को जैसे हम काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों की कसौटी पर कस सकते हैं, वैसे ही समाज-शास्त्रीय या मनोशास्त्रीय कसौटी पर। यह शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना का विस्तार है।

वैयक्तिक काव्यादर्शों का विकास पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में खूब देखने को मिलता है, परन्तु उनका उपयोग व्यापक काव्य-सिद्धान्तों के निर्माण में उतना नहीं किया गया। वैयक्तिक काव्यादर्शों के अध्ययन का प्रयत्न हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र के भीतर बहुत कम हुआ है। जब तक समस्त हिन्दी-काव्य के क्षेत्र से वैयक्तिक और युग के काव्यादर्शों का वास्तविक अध्ययन न किया जाय, तब तक हिन्दी-काव्य के आधार पर किसी नवीन सिद्धान्त का विकास हो सकता है या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हिन्दी-समीक्षा के अन्तर्गत जो प्रयत्न रीति-काल या मध्य-युग में हुआ है, उसमें हिन्दी-काव्य के वास्तविक स्वरूप और निजी प्रतिभा का विश्लेषण बिलकुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हुआ। इतना ही नहीं संस्कृत-काव्य-शास्त्र का आधार ग्रहण करके काव्य-रचना की प्रवृत्ति ने, बड़े-बड़े प्रतिभाशाली कवियों की प्रतिभा को भी स्वतन्त्र मार्ग में पूर्ण प्रकाश करने का अवसर नहीं दिया, फिर भी हम चन्द बरदायी, कबीर, विद्यापति, तुलसी, सूर, सेनापति, बिहारी, देव, घनानन्द, ठाकुर, पद्माकर, हरिश्चन्द्र आदि की रचनाओं में इनके निजी काव्यादर्शों को ढूँढ सकते हैं और उसके आधार पर ही हम उनकी विशेषताओं को स्पष्ट कर सकते हैं।

हिन्दी-कवियों की धारणा द्वारा काव्य का जो स्वरूप स्पष्ट होता है उसे संस्कृत-आचार्यों की परिभाषाओं द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** या **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** अथवा **'शब्दार्थौ सहितं काव्यम्'** आदि में काव्य का महत्त्वपूर्ण व्यापक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। तभी कबीर कहते हैं **'कवि कवीने कविता सूये'** और गोस्वामी तुलसीदास जी कवित-विवेक का दावा नहीं करते और यही कहते हैं कि **'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे'**। इसी परम्परा में आकर हमारे आधुनिक कवि भी **'जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है'**, कहते हैं। ये सभी धारणाएँ हमें काव्य के स्वरूप की फिर से परीक्षा करने के लिए प्रेरित करती हैं। जयशंकर प्रसाद तो **'सत्य को अपने मूलचारुत्व'** में ग्रहण करना ही काव्य मानते हैं। काव्य के इस स्वरूप को लेकर आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। यदि हम यह समझ लें कि भौतिक तथ्यों का अनुसन्धान और उद्घाटन जिस प्रकार वैज्ञानिक करता है, कवि भी उसी प्रकार हमारे मानसिक और आध्यात्मिक तथ्यों का उद्घाटन करता है, तो हम काव्य का यथार्थ मूल्य समझ सकते हैं। एक के लिए आँसू हाइड्रोजन और आक्सीजन का सम्मिश्रण है, तो दूसरे के लिए **'मस्तक में स्मृति रूप में छाई घनीभूत पीड़ा का, दुर्दिन में आँखों के द्वारा प्रकट रूप है'**। दोनों ही सत्य के रूप हैं।

मेरा अपना विश्वास तो कुछ ऐसा ही है कि साहित्य की समीक्षा का शास्त्र काव्य और साहित्य के इसी प्रकार के स्वरूप को स्पष्ट करे और काव्य और साहित्य के माध्यम से सत्य के उस पक्ष का विकास करने में सहायता प्रदान करे, जो वैज्ञानिक के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है, जो सुरुचि और सौन्दर्य को भी महत्त्व देता है और उसका एक अंग मानता है और जिसके आधार पर कवि के उद्गार हैं **'सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है'** (Beauty is truth, truth is beauty) जिसमें **'सत्यं शिवं सुन्दरं'** में भेद नहीं; वे एक ही वस्तु के विभिन्न पक्ष हैं।

मेरा आग्रह यह कदापि नहीं कि हिन्दी-समीक्षा-शास्त्र, अन्य समीक्षा-शास्त्रों से कोई नितान्त भिन्न हो सकता है और हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी के अलग-अलग समीक्षा-शास्त्र होने चाहिएँ। समीक्षा के व्यापक सिद्धान्त तो सभी साहित्यों पर लागू होंगे, परन्तु हिन्दी-कवियों और उनकी रचनाओं के द्वारा अभिव्यक्त स्वरूप को लेकर साहित्य-समीक्षा की एक नई और अब तक प्राप्त ज्ञान के आधार पर अधिक सम्पन्न कसौटी तैयार की जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त के समान, काव्य का कोई और व्यापक तथा आज की चेतना और धारणा को अपनाकर विकसित होने वाला काव्य-सिद्धान्त ढूँढा जा सकता है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि इसके ढूँढे जाने पर हमारे प्राचीन या आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्त व्यर्थ हो जायँगे या उनका महत्त्व कम हो जायगा। मेरा उद्देश्य यही है कि हमें काव्य के सिद्धान्तों का विकास करना चाहिए जैसा कि बराबर होता आया है। आज उसका फिर अवसर हम अनुभव करते हैं, क्योंकि कवि और पाठक काव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए अब तक प्राप्त और प्रचलित किसी एक परिपाटी से सन्तुष्ट नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर की पंक्तियों में मैंने यह भी सुझाने का प्रयत्न किया है कि मेरी दृष्टि से इसकी कार्य-प्रणाली क्या है ? आशा है विद्वान् लोग इस विषय पर अपने विचार और कार्य से हिन्दी-संसार को अवगत करेंगे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजेन्द्र यादव

हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास[1]

कङ्काल

'ज़्याँ वल् ज़्याँ' को जिन हाथों ने गढ़ा है, सचमुच वे बहुत कुशल और महान् कलाकार के हाथ हैं ; एक ऐसे समर्थ कलाकार के मस्तिष्क की प्रतिभा उसमें बोलती है जो भारत की अपेक्षा सामाजिक रूप से अधिक विकसित परिस्थितियों में जी रहा था। ह्यूगो की शब्द-बहुलता और अवान्तर प्रसंगों के प्रति अनुरक्ति भी उस चरित्र की अदम्य जीवनी-शक्ति को छीन नहीं सकी और आखिर 'पूज्य-विशप' को गढ़ने वाली सारी कलात्मक गरिमा पर वह 'महान् अपराधी' स्वयं एकाधिकार कर बैठा। उसकी हर टक्कर का एक ही दूसरा चरित्र मेरी निगाह में आता है वह है 'भूतनाथ'। वस्तुतः कितने आश्चर्य की बात है कि सामन्तवादी खण्डहरों की इस एक-मात्र चाबी को हिन्दी के बड़े-बड़े दिग्गजों ने अत्यन्त उपेक्षा और तुच्छता की दृष्टि से देखा है और मलवे के नीचे कराहते व्यक्ति की तरह यह गदाधरसिंह हर साहित्य के इतिहास-लेखक की ओर याचना-भरी दृष्टियों से देखता रहा है। फिर भी भूतनाथ इतना निरीह नहीं है, भरसक वह सर्व-शक्तिमान् है, वह 'अय्यार' है। जिन परिस्थितियों ने 'ज़्याँ वल् ज़्याँ' को अपराधी, नास्तिक और लुटेरा बना दिया है, लगभग वैसी ही परिस्थितियों ने गदाधरसिंह को 'भूतनाथ' अय्यार (अय्यार का अर्थ अरबी में है—बहुत चलने वाला। शायद इसीसे 'चलता हुआ' बना है।) जीवन में की गई 'एक भूल' उसे खा गई और यह 'अय्यार' हिन्दी के नवीनतम उपन्यासों में रूप बदल-बदलकर आता रहा।

भूतनाथ साधारण पात्र नहीं है। सामन्तवाद के बड़े-बड़े आदर्श राजा-महाराजाओं, प्रेमी-प्रेमिकाओं और युद्ध-द्वन्द्वों के बीच में (पन्द्रहवें भाग में) जिस पात्र के लिए स्वयं ग्रन्थकार को यह कहना पड़ा हो कि "इस उपन्यास-भर में जैसा भूतनाथ का अद्भुत रहस्य है, वैसा किसी का नहीं।" और स्त्रियों के लिए युद्ध करने वाले पतनशील सामन्तवाद की अट्ठाईस भागों की घटनाओं के घटाटोप से मनु की तरह जो पात्र उभरकर आता है और अन्त में जो स्वयं लेखक को इतना विवश कर देता है कि वह उसकी स्वतन्त्र आत्म-कथा ही लिखे—वह है मध्यवर्ग का प्रतीक भूतनाथ। दुष्ट और महात्माओं के 'सपाट' चरित्रों के बीच यही एक आदमी है जिसे वह बन जाना पड़ा है, जो यह कभी नहीं चाहता था। उस समय का यह पहला पात्र है जिसके अन्दर द्वन्द्व है, कचोट है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति' साधारण पाठक के लिए चाहे जो हो, लेकिन उपन्यास के माध्यम से युग का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए तत्कालीन समाज का ऐसा विशाल, किन्तु ज़रा

१. इस लेख के उपशीर्षकों का उन्हीं नामों के उपन्यासों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्र दर्पण है, तिलस्म है कि जिसकी चाबी मिलते ही सब दरवाजे अपने-आप खुलते चले जाते हैं। यह तिलस्म न 'तिलस्मे होशरुबा' से लिया गया है और न 'दास्ताने अमीर हमजा' से। क्योंकि दोनों के कथानकों की तर्ज में जमीन-आसमान का फ़र्क है। इन दोनों पुस्तकों में ही कथानक एक निहायत ही अनिश्चित गति से आगे बढ़ता है और तिलस्म वहाँ दैवी शक्तियों से परिचालित होता है। अय्यारों की भी अपनी मेधा, सूझ या चातुर्य काम नहीं करते, मुसीबत में पैग़म्बर उनकी मदद को आते हैं। 'होशरुबा' का तो उर्दू अनुवाद ही 'चन्द्रकान्ता' के बाद हुआ। 'उमरू अय्यार' चाहे शाहे लन्धैर के जाल में हों या 'जोहराए मिस्री' के; 'हजरत ख्वाजा खिज्र' उसकी मदद को आ जाते हैं। इसके ठीक विपरीत चन्द्रकान्ता के कथानक को आगे-पीछे सूत्रों का ताना-बाना बुनकर दैवी अतिरंजनाओं से बचाते हुए जो तर्क-संगत गढ़ाव दिया गया है, वह पाठक की बुद्धि और उत्सुकता को आदि से अन्त तक जकड़े रहता है। उसमें समाज में आती वैज्ञानिक युग की पूर्व सूचनाओं के आधार पर, ऊपर से असम्भव लगने वाले इन तिलस्मों को बिलकुल वैज्ञानिक मशीनरी द्वारा ही सम्भावित-संचालित दिखाने का प्रयत्न ही नहीं किया गया बल्कि बाद के परिशिष्ट में उसको और भी दलीलों से मान्य ठहराने की कोशिश की है। यहाँ तक कि हम (इक्कीसवें भाग) में सिनेमा देखते हैं, बिजली के बाजे सुनते हैं और सबके ऊपर बिजली की तरह चमककर करैण्ट से अचेत कर डालने वाले खंजर तो पूरे कथानक में चकाचौंध किये हुए हैं। बड़े-बड़े पहिए, चर्खियाँ, पेच और बटन ये सब उगते पूँजीवाद की छाया नहीं तो क्या हैं ? हाँ, भारतीय गौरव उस सबको विदेशी देन कहकर स्वीकार करने को तैयार नहीं था और "ये चीजें तो हमारे यहाँ भी थीं" की भावना से ऐतिहासिकता का जामा पहनाकर ही प्रस्तुत करता था। इसका सबसे अच्छा उदाहरण 'आश्चर्य वृत्तान्त' है। यही दम्भ आगे जाकर ऐतिहासिक ऐश्वर्यों से पूर्ण उपन्यास लिखने को प्रेरित करता है। तो उस समय का तिलस्म असल में और कुछ नहीं वैज्ञानिक विकास और आविष्कारों में चमत्कृत वस्तुसत्य की अनिवार्य छाया (क्योंकि तत्कालीन समाज उन सबसे सुनकर ही परिचित हुआ था, जीवन में अनुभव धीरे-धीरे ही कर रहा था) तथा पतनशील सामन्ती विचार-धारा के मानसिक द्वन्द्व और खिंचाव का प्रतिबिम्ब है। यही कारण है कि जैसे-जैसे सामन्ती विकास छूटता जाता है, तिलस्म शुद्ध वैज्ञानिक विकास बनता जाता है—'स्वर्ण रेखा', 'सुफेद शैतान', 'रक्त मण्डल' और 'लाल पंजा' इसके विकास-चिह्न हैं। यों लेखक के 'अनजान' ! में ही एक समाज-सत्य से उद्भूत 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के तिलस्म का कल्पनारूपक आगे जाकर दो धाराओं में उड़ता दिखाई देता है, एक शुद्ध सामन्तकालीन कथाएँ और दूसरी शुद्ध अय्यारी, तिलस्मी या जासूसी कहानियाँ। समाज-सत्य दोनों से लुप्त होता चला जाता है और बाद के इस ढेर में 'भूतनाथ' का कहीं पता नहीं चलता, केवल उसकी लाश लटकती रहती है।[1] यह उसके अज्ञातवास का काल है लेकिन लगभग 'चौदह वर्ष' के बाद अचानक 'सेवा सदन' के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही दारोग़ा कृष्णचन्द्र और उसके परिवार के रूप में प्रकट होकर यह एकदम पूरे साहित्यिक-संसार को चौंका देता है, क्योंकि वह ऐसा वेश भी रख सकता है इसकी किसी को कल्पना भी नहीं थी।

मध्यवर्गीय व्यक्ति या भूतनाथ के विकास पर आने से पहले इसके पूर्वरूप की रेखाएँ भी स्पष्ट कर दी जायँ।

१. भूतनाथ उपन्यास का अन्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के हिन्दी-लेखकों की एक चीज़ देखकर वास्तव में आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता—वह है समाज के प्रति उनकी ईमानदारी, उसकी समस्याओं का चित्रण और निदान खोजने की अकुलाहट। चाहे वे उपन्यासकार श्रीनिवासदास हों या निबन्धकार प्रतापनारायण मिश्र; नाटककार भारतेन्दु हों या पत्रकार बालमुकुन्द गुप्त सभी के सामने तत्कालीन समस्याएँ हैं और वे उनको हल करते हैं।

खुले आम १८५७ में समाज-व्यवस्था में परिवर्तन के परिणामस्वरूप लोगों के सामने नई-नई समस्याएँ, व्यक्ति और परिस्थितियाँ आ रही थीं, संस्कारबद्ध हृदय द्वारा इन नई परिस्थितियों को स्पष्ट स्वीकार नहीं किया जा सकता था; अतः ऐतिहासिक परम्पराओं से जोड़ या काटकर उन्हें ग्राह्य और अग्राह्य बनाया-बताया जा रहा था। वह निरीक्षण-परीक्षण जहाँ लोगों को अपने वर्तमान रूप के प्रति जागरूक बनाकर राष्ट्रीय चेतना बना रहा था, वहीं संस्कृति-साहित्य की परम्पराओं की रक्षा के लिए आर्यसमाजी तथा अन्य सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में भी जाग रहा था। पुराने को किस तरह ढाला जाय कि नये के अनुकूल तो वह बने ही—नये की चमक-दमक, शक्ति और सामर्थ्य के सामने भी हेय न ठहरे यही एक 'स्पिरिट' उस समय के लगभग पूरे साहित्य में आई है। देवरानियों—जिठानियों की लड़ाई को समाप्त करके एक आदर्श गृहस्थ की स्थापना (भाग्यवती—श्रद्धाराम फिल्लौरी), नई रोशनी की स्त्रियों की भर्त्सना करके आदर्श भारतीय नारी के रूप की महिमा (स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी—लज्जाराम मेहता)[1] या युवकों के लिए आदर्श चरित्र की अवतारणा (नूतन ब्रह्मचारी—बालकृष्ण भट्ट) अन्यथा फिर ऐतिहासिक ऐश्वर्य में अपनी तत्कालीन वस्तुस्थिति को भूल जाने वाले उपन्यास ही उस समय मिलेंगे। ऐतिहासिक उपन्यासों (या रचनाओं) के तो प्रेमचन्द्र के काफी बाद तक केवल दो ही दृष्टिकोण दिखाई देते हैं—एक तो प्राचीन गौरव की विशद विरुदावली, दूसरा अपने वर्तमान दुरवस्था के कारण और निदान की खोज। राष्ट्रीयता की परिभाषा चूँकि तब तक बन नहीं चुकी थी, इसलिए तत्कालीन विदेशी शोषण इत्यादि को प्राचीन विदेशी आक्रमणकारियों के प्रतीकों द्वारा बताया जा रहा था, इसीलिए गुप्त-काल से लेकर मुग़ल-काल तक इनका 'कैन-वास' था।

पूँजीवादी व्यवस्था आने से जो एक नया वर्ग—मध्य वर्ग—प्रकाश में आ रहा था, उसकी रूप-रेखाएँ स्पष्ट होती जा रही थीं। इस वर्ग के दो छोर थे—देशी व्यापारी और बाबू

१. 'आदर्श दम्पति' की भूमिका में मेहताजी ने लिखा है—"यद्यपि उपन्यास आजकल बिलकुल कल्पित और ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर लिखे जाते हैं और इसलिए इनकी कथा कोई प्रमाणभूत नहीं मानी जाती है, परन्तु मैं मानता हूँ और बड़े-बड़े विद्वान् मानते हैं कि उपन्यास समाज का चित्र है और आज उपन्यास की जो कथा कल्पित मानी जाती है, वही समय पड़ने पर इतिहास बन जाती है। इसलिए उपन्यास ऐसा बनना चाहिए जिससे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो—उन्हें पढ़ने से पाठकों के चरित्र सुधरें और वे दुराचार से छूटकर सदाचार में प्रवृत्त हों।"

ऐसी ही बात बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान एक सुजान' के अन्त में लिखी है—"अन्त में हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ़कर हम आशा करते हैं सुजान बनें।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग। इस वर्ग के दोनों ही प्रतिनिधि हमारे कथा-साहित्य में हैं। नवाबों और राजाओं का स्थान अब समाज में सेठ लोग ले रहे थे और मुसाहिबों तथा हाली मवालियों का छोटे-मोटे क्लर्क या मुन्शी लोग।

यह सेठ किस तरह बिगड़ जाते हैं—इस पर तत्कालीन सामाजिक स्थिति का बड़ा ही सुन्दर चित्रण करते हुए तीन प्रमुख उपन्यास हमारे सामने हैं—लज्जाराम मेहता का 'धूर्त रसिकलाल' बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' और श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु'। बम्बई, लखनऊ और दिल्ली के व्यापारी क्रमशः इनके नायक हैं। रसिकलाल मेहता वेश्या की मदद से सोहनलाल को बिगाड़ता है, लेकिन माधवदास उसका तथा उसकी पत्नी का उद्धार करता है—यह ढाँचा तीनों ही उपन्यासों का कहा जा सकता है। लेकिन सबसे ज्यादा बोलते पात्र हैं—लाला श्रीनिवासदास के। हिन्दी के इस पहले उपन्यास में कथानक, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, शैली, देश-काल और उद्देश्य आदि सभी के प्रति जो सावधानी और सफलता है उसे देखकर तो सचमुच ऐसा लगता है कि बँगला आदि के अनुवादों ने हिन्दी-उपन्यास के स्वाभाविक अंकुर को कुचल दिया। दोनों सेठों के मुकाबिले सेठ मदनलाल अधिक जीता-जागता मनुष्य है और सचमुच हर दृष्टि से 'सेवा सदन' तक इस उपन्यास-कला की कोई कड़ी नहीं मिलती। ध्यान रखना चाहिए कि उठती हुई महाजनी सभ्यता तब अपने प्रगतिशील दौर में थी—कुछ-कुछ पतन के चिह्न उसमें जरूर दृष्टिगोचर होते जा रहे थे। प्रथम महायुद्ध के रूप में जब अपनी मृत्यु का पहला उद्घोष उसने किया तो उसका 'रोल' बिलकुल बदल गया और कभी वह 'ज्ञानशंकर' के रूप में, कभी 'जॉन सेवक' के वेश में और कभी 'रायसाहब' की आवाज में अपनी असली सूरतें दिखाने लगा। इन तीनों उपन्यासों में भी सेठों का बिगड़ना सामाजिक सत्य है और उनका सुधार लेखकों की आदर्शवादी कल्पना का आग्रह। उस युग में भी जब लाला श्रीनिवासदास विदेशों में धन जाने की बात को अपने उपन्यास में वाद-विवाद का रूप देते हैं तो उनकी सत्य की पकड़ की तारीफ़ किये बिना नहीं रहा जाता।

दूसरा वर्ग है शहरी बाबू वर्ग और उसका प्रतिनिधि है—भुवनेश्वर मिश्र का पेशकार झगड़ूलाल (घराऊ घटना)। गृहस्थी की, पड़ौस की घटनाहीन बात और केवल एक परिवार का रोजमर्रा का चित्रण भी उपन्यास का विषय हो सकता है उसको उस समय शायद कोई सोच भी नहीं पाता था। खास तौर से ऐसे विषय के रूप में जिसका उद्देश्य कोई सामाजिक उपदेश देना नहीं था। लेकिन क्या युवक गृहस्थ की मनोभावनाएँ और क्या वस्तु-चित्रण सभी में 'स्केच-कला' के मूल बीज हमें 'घराऊ घटना' में मिल जाते है। बहुत सीधी शैली, बड़ी सादी बात और बहुत रोचक कहानी। 'घराऊ घटना' उस समय की अकेली रचना है जो प्रथम पुरुष में (बाद के दीनानाथ' को छोड़कर) लिखी गई है। आज भी झगड़ूलाल के साथ उसकी बीवी की बातचीत, गहनों के लिए पैंतरे या पड़ोसी नौकर की झड़प उस समाज का सफलतम चित्र दे देते हैं। कौन जाने 'गबन' का प्रेरणा-स्रोत यही हो।

व्यक्ति बन रहे थे—वस्तुसत्य उभर रहा था और सबके ऊपर समस्याओं का ऐसा शोर था कि कुछ सुनाई नहीं देता था। व्यक्ति, वस्तु-सत्य और समस्याएँ सब अलग-अलग थे और एक ऐसे कलाकार की कलम का माध्यम पाने के लिए ये सब छटपटा रहे थे, जो एक साथ तीनों को मिलाकर युग-सत्य को साहस से रख सके। व्याकुलता थी और समाधान नहीं था—इतनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल्दी उसका कोई उपचार भी नहीं था इसलिए अनुवाद स्थानापन्न बने हुए थे।

'चन्द्रकान्ता' के लेखक की सफलता यह थी कि उसने बहुत काफी कूड़ा-करकट छानकर एक ऐसे पात्र को खोज निकाला था जो दो समाज-व्यवस्थाओं की सन्धि से झाँककर प्रयत्नपूर्वक अपना सिर उठा रहा था और आने वाली समस्याओं को अपने में समोकर साक्षात् प्रश्न-चिह्न बना समाज-द्रष्टा उपन्यासकार के सामने जा खड़ा हुआ था—"बताओ मैं कौन हूँ, इस समाज में क्या मेरा स्थान है और क्या मेरा भविष्य है?"

मध्यवर्ग का प्रतीक भूतनाथ दो प्रवृत्तियों का द्वन्द्व है। वह किन्हीं विशेष परिस्थितियों का शिकार है और किन्हीं विशेष परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह की आग उसे एक चुस्त-चालाक अय्यार के रूप में चलाये रख रही है। 'विद्रोह' उस युग के यौवन की आवाज थी—और यह विद्रोह व्यक्तिगत हो यह उसकी सीमा। किन विशेष परिस्थितियों का किस-किस रूप में 'हड्डियों का ढाँचा' यह 'भूतनाथ' शिकार है, इसे चारों ओर से सोचने का उसके नये निर्माताओं को समय नहीं था। उन्होंने उसके केवल विद्रोह के आवेग को पकड़ा और 'रक्त मण्डल', 'लाल पंजा' इत्यादि आये।[1]

व्यक्तिगत विद्रोह अपने सक्रिय रूप में जो थोड़ा-बहुत आ पाया है वह इन्हीं उपन्यासों में मिलता है अन्यथा बाद के क्रान्तिकारियों के नाम पर लाये जाने वाले सारे नायक निष्क्रियताजन्य फ्रस्ट्रेशन ही प्रस्तुत करते हैं।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते

दोनों महायुद्धों के बीच का हिन्दी-उपन्यास वास्तव में नायक के लिहाज से व्यक्ति के अंकन और अध्ययन तथा व्यक्तित्व के निर्माण और गठन के ह्रास और विकास की कहानी है। व्यक्तित्व युगानुरूप विकास करता जाता है और 'व्यक्ति' संकुचित होकर समाज से कटता जाता है।

व्यक्ति को महत्त्व देने की भावना, या मानवतावादी दृष्टिकोण राजनीति के क्षेत्र में रूसो और वॉल्टेयर और साहित्य और कला के क्षेत्र में गेटे और ह्यूगो की देन थी। रूसो का यह वाक्य "मनुष्य जब पैदा होता है तो उस पर कोई बन्धन नहीं होता" या वॉल्टेयर की यह उक्ति, "तुम जो कुछ कहते हो मैं उसका डटकर विरोध करता हूँ लेकिन यह मरते दम तक मानूँगा कि तुम्हें अपनी बात कहने का अधिकार है" व्यक्ति की महत्ता की वैतालिका है, और यही भावनाएँ टाल्सटॉय, रस्किन या क्रापटकिन और अन्य क्रान्तिकारियों द्वारा भारतीय राजनीति में विभिन्न रूपों में आ रही थीं। इसकी दो धाराएँ तत्कालीन समाज में बहुत अधिक स्पष्ट हैं: हर व्यक्ति स्वतन्त्र है वह गुलाम नहीं रह सकता, के व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता के प्रयत्नों के रूप में तथा हर व्यक्ति मूलतः मानव है, उसे प्यार करो, उसके अधिकारों को मत छीनो और उसकी आत्मा पर छाये कलुष को उससे अलग करके देखो कि क्रिश्चियन-भारतीय दृष्टिकोण के रूप में। इन दोनों ने ही भारतीय समाज-चेतना को आगे विकसित किया (अपना ऐतिहासिक 'रोल' पूरा कर चुकने के बाद व्यक्तिवाद किस तरह एक अव्यावहारिक और प्रदर्शिनी की वस्तु बन जाता है इसके दो मजेदार चरम उदाहरण हमारे ही सामने हैं—जो इन दोनों धाराओं के प्रतिनिधि हैं—एक पैग़म्बर और एक डिक्टेटर—गांधी और हिटलर—या साहित्य में बर्नार्ड शॉ। "मैं ही ठीक हूँ"

१. द्रष्टव्य : 'आलोचना' के उपन्यास-अंक में नरोत्तम नागर का लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और "मैं ठीक हूँ क्योंकि मेरे पीछे भगवान् है या मेरी आत्मा कहती है" दोनों वाक्यों में व्यक्तिवादी आग्रह एक ही है। यही कारण है कि भौतिक अस्तित्व की समाप्ति के बाद इनकी देन का अव्यावहारिक भाग एकदम समाप्त हो गया।)

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और मानव मुक्ति की यह दोनों धाराएँ भारत के दो सीमान्तों से उठीं—कलकत्ता और पोरबन्दर। एक का शिक्षण और परिवर्धन-क्षेत्र बर्मा, रंगून, बंगाल आदि रहे—दूसरी का पश्चिमी तटों से लेकर अफ्रीका तक। दूसरी की उपयोगिता समझने के लिए पहली को ही पहले समझ लिया जाय।

औपनिवेशिक व्यवस्था व्यक्ति और समाज के बीच की खाई को हमेशा और चौड़ा करती जाती है और दोनों ही एक-दूसरे को अपरिचित या प्रायः शत्रुता की दृष्टि से देखते हैं। व्यक्ति का ध्वस्त आत्म-विश्वास 'अहं' बनता जाता है और विकासमान समाज की धारा में वह 'द्वीप' की तरह कटकर ठूँठ-सा खड़ा रहता है। सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा या प्राप्ति के प्रयत्न में जब वह लड़ते-लड़ते हार जाता है तो समाज से सहानुभूति चाहता है, सान्त्वना और समर्थन माँगता है; लेकिन चूँकि अपने पूरे युद्ध के दौरान में उसने समाज की इच्छा जानने की कभी कोशिश नहीं की थी इसलिए इनमें से उसे कुछ नहीं मिलता तो रुद्ध-विक्षोभ सिर्फ दो ही तीन दिशाओं में फूटता है। अपने 'अहं' को ही सर्वोपरि मानता हुआ वह विक्षिप्त की तरह हर वस्तु को निरर्थक[1] समझे और हर व्यवस्था के प्रति आस्था खो बैठे, अनारकिस्ट और निहलिस्ट हो जाय और समाज से तरह-तरह से अपनी उपेक्षा का बदला ले; तथा स्वयं अपने पतन की महानता को घोषित करे, पुरातनवादी हो जाय और प्रकृति या अध्यात्म की ओर भाग खड़ा हो या फिर सीधे ही ग़म ग़लत करने के लिए शराब पिये। क्रान्तिकारियों के व्यक्तिगत विद्रोह के इतिहास में इन सभी परिस्थितियों के उदाहरण हमें उपलब्ध हैं यह व्यक्ति-विद्रोह समाज-विद्रोह की ओर किस तरह विकसित होता है इसका काफ़ी अच्छा विवेचन है यशपाल का 'सिंहावलोकन'। व्यक्ति पराजय की यह प्रतिक्रियाएँ हमें हिन्दी-काव्य और कहानी के छायावादी विकास में, तथा इन्हीं प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित उपन्यासों में मिलती हैं।

"पराजित व्यक्ति के महिमा गीत" शरद्-साहित्य की ओर हिन्दी के उपन्यासकार (जो तत्कालीन युवक-वर्ग का ही एक प्रतिनिधि था) का झुकाव स्वयं उसकी इसी पराजित मनोवृत्ति

---

1. "When a man considers his own 'ego' to be the 'sole reality' then he can find no objective connection, 'rational' in the sense of being determined by definite laws, between his 'ego' on the one hand and the external world on the other. The external world must appear to him as either altogether unreal or as real only in part—in so far, namely, as its existence is based on the only true reality, that is to say on the 'ego' ". "If, however, some-one who is not philosophically inclined comes to consider his own 'ego' to be the sole reality, he will certainly not bother to ask himself how this 'ego' created the external world.....On the contrary, the world will appear to him a realm of 'meaningless chance".

—'कला और सामाजिक जीवन', प्लैख़नोव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का द्योतक है। महत्त्व की बात यह नहीं है कि शराब और जहर किसने किसलिए सुलभ किये, महत्त्व की बात यह है कि अपनी किन परिस्थितियों में व्यक्ति इनकी ओर उन्मुख हुआ? तीस साल बाद की सामाजिक स्थिति में रहने वाले लोगों को 'दोस्तायव्स्की' उतनी अन्ध-उत्कटता से क्यों नहीं आकर्षित करा सका? एकदम सीधा न होते हुए भी काफ़ी अंशों तक सही जवाब यह है कि हिन्दी-भाषी 'सचेत व्यक्ति' की मानसिकता ही उस समय उस स्थिति से गुज़र रही थी कि बंगाल ही क्या शरत् यदि तमिलनाड में होते हो वह उन्हें वहाँ से ही खोज निकालता। हिन्दी-उपन्यासकारों को यह श्रेय ज़रूर है कि उन्होंने शरत् के 'व्यक्तिवादी दर्शन' को ठीक वहीं से पकड़कर चरम पर पहुँचा दिया जहाँ से शरत् ने उसे छोड़ा था—उसने उसे पीछे से नहीं पकड़ा। सतही तौर से देखने पर हिन्दी-उपन्यास के तृतीय और चतुर्थ दशक (बीसवीं शताब्दी के) के ऐसे पात्र शरत् की नकल लगते हैं; लेकिन श्री इलाचन्द्र जोशी की इतनी बात मान लेने में कोई हर्ज नहीं कि वे उनका अगला विकास हैं। वह 'कु' है या 'सु' इसे अभी छोड़ दें।

प्रायः शरत् के सभी पुरुष—प्रमुख - पात्रों का ध्यान आते ही मेरी कल्पना में एक ऐसे ज़िद्दी बच्चे की तसवीर आ जाती है जिसे उसका प्राप्य नहीं मिला हो और इसलिए रूठ-मचलकर वह चौखट से अपना सिर फोड़-फोड़कर अपने गुस्से का इज़हार करता और दर्शकों की सहानुभूति प्राप्त करता है। उस स्थिति में उसे जो भी दिया जाता है उसे तो तोड़-फोड़ देता है और दिखाता यह है कि देखो मैं ऐसी बहादुरी से अपना सिर फोड़ सकता हूँ। शरत् की कला का सारा कमाल वेदना की इस कुशल विवृति में ही है। 'डुएल' उपन्यास में चैखव के लायस्की को देखकर हम सोचते हैं; देखो कितना अच्छा आदमी है लेकिन कैसी परिस्थितियों में पड़ गया है; बेचारा कुछ कर भी नहीं सकता। तब हमें उसकी कमज़ोरियों से भी सहानुभूति होती है। व्यक्ति की विवशताओं के साथ वहाँ परिस्थितियाँ भी सामने हैं, लेकिन शरत् के सामने परिस्थितियाँ या सामाजिक स्थिति उतनी महत्त्व नहीं रखतीं। तत्कालीन हिन्दी-उपन्यासकार ने परिस्थितियों को भी शरत् की अपेक्षा अधिक ईमानदारी से रखा है! 'कुण्डली चक्र' का अजित, लायस्की की तरह हमारी स्वस्थ सहानुभूति का पात्र है। वहाँ समाज और व्यक्ति का द्वन्द्व है—पराजित व्यक्ति की अपने प्रति ही नहीं समाज के प्रति भी प्रतिक्रिया है।

"तुम नश्वर हो जग नश्वर है बस मैं हूँ केवल एक अमर" के गायक भगवतीचरण वर्मा के रमेश और बीजगुप्त समाज द्वारा स्वीकृत हर सिद्धान्त को झूठा साबित कर देते हैं।—पाप-पुण्य के सिद्धान्त को, नैतिकता अनैतिकता-के सिद्धान्त को। शरत् में न तो उतनी तलखी है, न शक्ति। उनके पात्र बड़े कमज़ोर और दो विरोधी आलोचकों—डॉ० रामविलास शर्मा तथा श्री इलाचन्द्र जोशी—के शब्दों में निकम्मे, परोपजीवी, नपुंसक और हद दर्जे के आत्मकामी हैं। रमेश ललकारकर कह सकता है कि तुम्हारे समाज की नपी-तुली साफ़-सुथरी नारी सुधा से वेश्या सरोज लाख दर्जे अच्छी है। असली वेश्या सरोज नहीं सुधा है—या तुम्हारे बने-बनाये साधु कुमारगिरि से अय्याश बीजगुप्त अधिक मानव है। इस तरह साहसपूर्वक प्राचीन और नवीन दोनों समाज-मान्यताओं को ठुकरा देने की शक्ति तो श्री भगवतीचरण वर्मा के पात्रों में है लेकिन स्वयं किसी जीवन-दर्शन के अभाव में वे टेढ़े-मेढ़े रास्तों में भटकते हैं। दिशाहीन जोश के परिणाम में इस प्रकार सभी कुछ को झुटला देने का 'दर्शन' प्राकृतिक ही है। इस दिग्भ्रान्ति की स्थिति में उनके शरणस्थल हैं वृद्ध ताल्लुकेदार रमानाथ तिवारी के चरणकमल! (दुःख है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताल्लुकेदारी कांग्रेस सरकार ने खत्म कर दी) और यों उनकी कला, जो एक सशक्त असन्तोष को लेकर चली थी, छाती में छुरा भोंककर अपने जीवन का आखिरी दाँव लगा बैठी। प्लेखनोव की यह पंक्तियाँ वर्माजी तथा उन-जैसे अन्य व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की कितनी अच्छी तसवीर देती हैं "The tendency of artists, and of those who have a lively interest in art, towards art for art's sake, arises when they are in hopeless disaccord with the social environment in which they live."

जैसे मैंने अभी ऊपर कहा, सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि मराठी और बंगला की तरह 'क्रान्तिकारी व्यक्ति' को हम प्रगतिशील ऐतिहासिक भूमिका में नहीं पाते। 'रंगभूमि' के सूरदास के रूप में मानवतावादी व्यक्ति तो अपनी ऐतिहासिक भूमिका और पराजय को स्वीकार करता है[1] लेकिन ये क्रान्तिकारी या अन्य व्यक्ति विद्रोह के उपासक उपन्यास के नायक तभी बनते हैं जब वे विभिन्न कुण्ठाओं और विकृतियों के शिकार बन चुके होते हैं। हमारे नायकों में उनका प्रगतिशील 'रोल' नहीं है। "चारों ओर भय और विपद् के वातावरण से आकर्षक बने बायरनिक हीरो, मध्यवर्गीय क्रान्ति के उपासक" डॉ० सव्यसाची को भी तो शरत् ने तभी पकड़ा है जब कवि शशि को मध्यवर्ग के गीत गाने की वकालत करके भी वे अपने सारे प्रयत्नों के अन्त में सिंगापुर चल खड़े होते हैं। 'गोरा' तब भी अधिक प्रगतिशील है। खैर शरत् ने तो सव्यसाची को वहीं छोड़ दिया लेकिन उनकी पराजय के अवसाद और विषादयुक्त कुण्ठाओं तथा विद्रोह की शब्दावली को हिन्दी के दो नायकों ने अपनाया—हरिप्रसन्न और शेखर।

इन या ऐसे सभी नायकों को समझने के लिए सबसे अच्छा पात्र है 'नदी के द्वीप' का भुवन। हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने माना है कि 'शेखर' ही 'भुवन' है, बस उसके विद्रोह और क्रान्ति के 'नख-रद' टूट गए हैं। रह गया है बाक़ी केवल उसका 'अहं', जिस पर पूरा ढाँचा है। शेखर के वे सिद्धान्त क्या और कैसे हैं इसे थोड़ी देर के लिए स्थगित करके भी कहा जा सकता है कि 'सिद्धान्त-हीन' शेखर ही भुवन है और इसी निष्कर्ष पर पाठक चौंकता है कि शेखर के क्रान्ति और विद्रोह थे क्या, कि उन सबको तिलांजलि देकर उसे एकदम भुवन बन जाना पड़ा?—क्या वे सचमुच इतने ऊपरी थे। शेखर और भुवन क्यों एक हैं इसे ज़रा और भी गहराई से समझने की जरूरत है।

सुमित्रा और भारती का आदर डॉ० सव्यसाची के प्रति पाठक को श्रद्धावनत कर सकता है लेकिन रेखा और गौरा का आदर भुवन को पाठक के सामने आदरणीय नहीं बना पाता, क्योंकि डॉ० देवराज के शब्दों में "हमें यह महसूस नहीं होता कि भुवन के विचारों और संकल्पों का उत्तर विशेष ऊँचा है। वह एक ख़ास शिक्षित-वर्ग के चिन्ता के धरातल से ऊँचे उठते नहीं दीखता। कहीं भी भुवन के विचारों अथवा संकल्पों में ऐसी शक्ति नहीं है कि विचारवान पाठक को बहा ले जाय।" फिर भी अपने सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों से वह उसी व्यवहार की आकांक्षा रखता है जो 'शेखर' ने रखी थी। वह नारी को शेखर की तरह ही एक ऐसी सान मानता है जिस पर उसका जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज होता रहे। जिस पर मँज-मँजकर वह कुछ बने कि संसार के सामने खड़ा होने में लज्जित न हो—चाहे उसके बनने में स्वयं उसी के हाथों से वह टूट भी जाय। शरत् की आलोचना करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने एक

१. मन्मथनाथ गुप्त का लेख, 'नई धारा', जून १९५३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगह लिखा है कि अपनी असामर्थ्य और नपुंसकता छिपाने तथा उत्तरदायित्व से बचने के लिए वह बार-बार राजलक्ष्मी को छोड़-छोड़कर भागता है और कहता यही है कि "राजलक्ष्मी के लिए ही मुझे राजलक्ष्मी को छोड़कर जाना होगा। इसमें अब ज़रा भी आनाकानी करने से काम नहीं चलेगा" इस पर डॉ० शर्मा का व्यंग्य है कि "यही प्रेम का वह सूक्ष्म विज्ञान है जो पुरुष को नारी के निकट लाता है और फिर नारीत्व को निखारने के लिए उसे दूर ढकेल देता है।" प्रेम के इस 'सूक्ष्म विज्ञान' का भुवन और शेखर दोनों को बड़ा अच्छा अभ्यास है और कुशल लेखक ने भुवन को इस प्रकार के किसी आरोप से बचाने के लिए स्वयं रेखा को ही 'त्यागपत्र' की मृणाल की तरह इतना समर्पणशील और समझदार बना दिया है कि प्रेम का ऐसा अनुभव देकर वह स्वयं हट जाय। इस ट्रम्प चाल को ज्यों-का-त्यों लागू करने का श्रेय 'संन्यासी' के नन्दकिशोर से लेकर धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' के चन्दर और अंचल के 'चढ़ती धूप' के मोहन, 'मरु प्रदीप' के विमल तक को है।

इतनी प्रभावोत्पादक कला, इतना सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और ऐसी सजी-सुथरी, सँवरी और सार्थक भाषा के बावजूद भी भुवन पाठक को कहीं भी बहा नहीं पाता—पाठक हमेशा ही 'द्रष्टा' रहता है 'भोक्ता' नहीं, इसका एक-मात्र कारण उसकी इतनी अधिक सार्वभौमिकता है कि वह कहीं का नहीं रहता, आखिर किसी भी देश का आदमी तो उसे अपना समझे! अपने वर्ग और संस्कारों से कटा एक भूत और भविष्यहीन 'द्वीप'—यह असाधारण (शुक्लजी के अनुसार) शील का व्यक्ति पाठक के लिए दर्शनीय ही बना रह सकता है—संवेदनीय नहीं। इसीलिए उसका कारणहीन 'दर्द' उसका अपना ही है, साधारणीकृत नहीं, अतः लगता है वह दर्द नहीं शौक अधिक है। चाहे वह कितना ही तीव्र, गहन और चूर-चूर कर देने वाला क्यों न हो।

यह दर्द और दुःख का सिद्धान्त शेखर, भुवन और उधर जैनेन्द्र के पात्रों या कहा जाय मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवादी सभी नायकों—में अजब घपलेबाज़ मनोविज्ञान का जन्मदाता है। 'दोस्तायव्स्की' के 'पेशेवर आत्मपीड़कों' (प्रोफ़ेशनल सफ़रर्स) का गोर्की ने खूब मजाक़ उड़ाया है। 'पीड़ा ही सत्य है या सत्य दर्शन का एक मात्र माध्यम है'—यह सिद्धान्त भगवान् बुद्ध के "सर्वं क्षणिकं क्षणिकं सर्वं दुःखं दुःखम्" का ही पश्चिमी संस्करण है। भुवन तो 'क्षण' और 'दुःख' दोनों के सिद्धान्त को मानता है। ऐसे नायकों ने यह कभी नहीं सोचा कि भगवान् बुद्ध की यह 'प्राप्ति' ऐतिहासिक सीमा थी—मूल थी वह करुणा और व्याकुलता जिसके वशीभूत होकर वे दुःख और कष्ट से संसार को मुक्ति देने के लिए घर से निकल पड़े थे।

शेखर कहता है "दुःख उसीकी आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश नहीं करता।"

और भुवन बोलता है "पीड़ा से दृष्टि मिलती है इसलिए आत्मपीड़न ही आत्मदर्शन का माध्यम है।" या "दुःख सबको माँजता है और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु जिनको माँजता है उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"

एक आश्चर्य और है: पीड़ा से दृष्टि मिलने वाले नायकों के जीवन में स्त्री ही एक विचित्र—अत्यधिक महत्त्वपूर्ण—पार्ट अदा करती है। चाहे वे 'अज्ञेय' के शेखर और भुवन हों या दर्द में उतरकर सत्य पा जाने वाले धर्मवीर भारती के चन्दर और माणिकमुल्ला; वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिप्रसन्न और 'सुखदा' के हरीश हों या 'अंचल' के 'विमल चाँद भाई' या 'पथ की खोज' के चन्द्रनाथ आदि--प्रेम के परीक्षण की दृष्टि से इन सभी का दृष्टिकोण स्त्री के प्रति प्रयोगवादी, अधिकांश प्लेटोनिक, रहस्यपूर्ण अस्पष्ट और समग्रतः नॉर्मल नहीं होता--क्योंकि ये सभी उसके द्वारा जिन विचित्र ढंगों से दर्द लेते और 'दर्शन' पाते हैं--वह संसार के एक-मात्र दार्शनिक विवाद का मूल है। यह सभी दमित काम के कुण्ठित और कुञ्चित प्रतीक हैं और इस सम्बन्ध में जैनेन्द्रजी की आत्मस्वीकृति प्रायः सभी 'मनोवैज्ञानिक' समस्याओं को एक साथ हल कर देती है : "पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्मपीड़न के ही साधन हैं और इसीलिए मैंने इनमें 'काम-वृत्ति' की प्रधानता रखी है, क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्मपीड़न का तीव्रतम रूप है।"

तो हिन्दी उपन्यासों में पीड़ा से आत्म-शुद्धि या आत्म-शुद्ध करने वाले नायकों की एक काफ़ी लम्बी पलटन है—शुरू-शुरू में भले ही इसका कारण सामाजिक परिस्थितियाँ रही हों पर बाद के लेखकों के लिए यह एक फ़ैशन हो गया और इस पीड़ा की 'पंचाग्नि' में अपनी आत्मा का उत्थान और विकास करने वाले ये हठयोगी नायक स्वयं 'काम की यातनाएँ' पाते और इन यातनाओं की कारणस्वरूप नारियों को भी यातनाएँ देकर बड़ी सुन्दर शब्दावलियों और आकर्षक वाक्यों से उन्हें सजाते और 'उदात्तीकरण' करते हैं। सबसे मजे की बात तो यह कि "विद्रोह के लिए विद्रोह करने वाले" बड़े-बड़े क्रान्तिकारी, बड़े-बड़े आविष्कारक, वैज्ञानिक, रिसर्चस्कॉलर, दार्शनिक, प्राफ़ेसर और कवि, नाना वेश, स्वभाव और उद्देश्य वाले पात्र इस जगह सब एक हैं।

काम-मनोविज्ञान की शब्दावली में हैवलॉक एलिस् के अनुसार यह आत्मपीड़न (मॉस्केइज़्म) और आत्मपीड़न के लिए परपीड़न (सेडिज़्म) बड़ी विकृत स्थिति का सूचक है। यहाँ हम अभी तक प्रायः बचाये गए श्री इलाचन्द्र जोशी के नायकों को भी गिने लेते हैं। 'परदे की रानी' का इन्द्रनाथ 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ, 'संन्यासी' का नन्दकिशोर और 'निर्वासित' का महीप इत्यादि सभी नायक विकट आत्महीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त अपने सम्पर्क में आने वाली नारियों से बदला लिया करते हैं और काल्पनिक भ्रम या भ्रान्तिमूलक बातों की कल्पना करके अपने-आपको कष्ट देते और पाते हैं। लेकिन जोशीजी की कुछ बातें इन्हें शेष सभी 'मनोवैज्ञानिक' उपन्यासकारों के महानायकों से अलग कर देती हैं। पहली बात तो यह कि जोशीजी अपने पात्रों के प्रति इतने तटस्थ रह सके हैं कि उन्होंने विकृति को विकृति और रोग को रोग कहा है। यह दूसरी बात है कि वे शरत् के या उनके-जैसे निकम्मे आत्मकामी, दम्भी नायकों को ही अपनी 'लैब' में उठा लाते हों और चारों ओर से उसके खिड़की-दरवाजे बन्द करके उनका पोस्टमार्टम कर डालते, तथा उनकी रीडिंग पर मनोवैज्ञानिक लेख लिखने बैठ जाते हों। साथ ही उन्होंने अपने नायकों की कमजोरियों और विकृतियों को अन्य उपन्यासकारों की तरह नारियों से पुजवाया नहीं है, चूँकि उनके नायकों की सारी कुण्ठाओं की प्रतिक्रिया का शिकार नारी होती है; अतः ऐसी ही कोई 'तूफ़ानी मर्मांतक मनोविज्ञान की नारी' आकर उनको प्रभावित करती हुई क्रान्ति की मशाल हाथ में लेती है। प्रमुख बात इसमें न तो तूफ़ानी मनोविज्ञान है न वह क्रान्ति की मशाल (क्योंकि इस क्रिया में उनकी नारियों को ओवर एक्टिंग की आदत है जैसे 'निर्वासित' की शारदा, और 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा। दोनों आज के युग में जॉन ऑफ़ आर्क और श्रद्धा का पार्ट अदा करती हैं) सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि आध्यात्मिक और आदर्श प्रेम के नाम पर उन्होंने नारी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मसम्मान को पुरुष की झूठी-सच्ची सनकों के सामने रिरियाते और पैरों में पड़ते नहीं दिखाया है। लेकिन जोशीजी में तीन बहुत बड़ी कमजोरियाँ हैं। जिनकी वजह से वे प्रायः सम्यक् रूप से समझे नहीं जाते रहे हैं। उनकी एक कहानी का पागल नायक दुनिया-भर के चीथड़े, कूड़ा-करकट इकट्ठा करके रात को चौराहे पर जलाया करता है और पूँजीपतियों को गालियाँ देकर अपने मन का गुबार निकालता है। गोर्की ने भी समाज के कूड़ा-करकट—अर्थात् आवारे, हत्यारे, आत्मकामी इत्यादि लोगों को दिखाया है लेकिन समाज की गति के नित्य सम्पर्क में रखकर ही; जब कि जोशीजी उन सबको अपने 'एयरटाइट', 'परीक्षण-कक्ष' में उठा लाते हैं। इस कूड़ा-करकट-वादी दृष्टि से उन्होंने अपने आस-पास एक अजब शिवजी की बारात इकट्ठी कर ली है; दूसरे इन नायकों का मूल मनोविज्ञान तो जरूर समाज द्वारा निर्मित होता है लेकिन उठा लाने के बाद उसके कारणों की कथा स्वयं जोशीजी गढ़ते हैं, जो प्रायः ज्यामिति के किसी विशेष प्रमेय को सिद्ध कर डालने-जैसी बन जाती है। चैखव ने एक बार गोर्की से कहा था कि मनोविज्ञान का चित्रण बुरा नहीं है; लेकिन दिक्कत तब है जब लेखक अपने मनोविज्ञान को जीवित पात्रों से न लेकर स्वयं गढ़ने लगता है।" जोशीजी तो इस मनोविज्ञान को गढ़ने में प्रायः पृष्ठों की संख्या तक भूल जाते हैं और उनकी दिशा—दशा भी 'कॉडवैल' के शब्दों में "लेखक और रचना" ही रह जाती है, लेखक रचना और पाठक नहीं। जब लेखक और रचना केवल दो ही बिन्दु हों तो कला के लिए कला की रचना होती है। यहाँ वे अपने शेष सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के साथ हैं। जोशीजी की तीसरी कमी यह है कि विकृतियों और कुण्ठाओं को उन्होंने अभी बड़े शारीरिक और भौतिक स्तर पर ही खोज का विषय बनाया है उनकी आध्यात्मिक प्रतिक्रियाओं को वे 'फोकस' नहीं कर पाये। फिर भी प्रसन्नता है कि उपचेतना के स्तर-प्रस्तर तोड़कर विराट् विस्फोट कर डालने और किसी अनोखी गंगा को खोज निकालकर भगीरथ बन जाने का नशा उन पर से अब उतरता जा रहा है और उनके पात्र नार्मल होते जा रहे हैं।

दिक्कत उन आत्मपीड़क और परपीड़क अभिजात नायकों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में है, जो अपने को सबसे अलग समझकर विभिन्न आध्यात्मिक और दार्शनिक वाक्यों के दुशाले ओढ़-ओढ़कर आते हैं। भुवन और रेखा के लिए डॉ० देवराज लिखते हैं "उपन्यास में भुवन और रेखा जगह-जगह दूसरे कवियों के उद्धरण प्रयुक्त करते पाए जाते हैं जैसे वे स्वयं अपनी प्रेरणाओं से न जीते हुए विभिन्न कवियों के भाव-स्पन्दन में अपने खोखले जीवन को भरने की सामग्री खोज रहे हों।" यही बात उनके अपने चन्द्रनाथ के लिए भी सच है—वहाँ कविता की जगह दर्शन है।

इन सभी प्रेरणाहीन अद्वैती, हठयोगी, आदर्शप्रेमी क्रान्तिकारी नायकों का मानसिक धरातल आखिर किन सामान्य धातुओं का बना है, जरा और गहराई से देखिए।

ये सभी नायक शेष समाज से अलग एक विशेष बौद्धिक धरातल पर पहुँचे हुए व्यक्ति हैं जो जीवन की हर प्रकार की अनुभूतियों को बुद्धि द्वारा ही ग्रहण करते हैं। अन्य इन्द्रियों द्वारा नहीं। लगता ऐसा है कि ये हाड़-मांस के शरीर न होकर केवल बड़े-बड़े सिर-ही-सिर वायु-मण्डल में तैर रहे हों। वे चेतना-मात्र रह गए हैं। जैसा मैंने पहले भी बताया क्रियात्मक जीवन के साथ उन्हें आप नहीं देखते, उन्हें देखते तब हैं जब वे उस जीवन से तटस्थ, असफल और निराश होकर (चाहे इसे वे स्वयं स्वीकार न करें) 'घर' भाग आए हों। इतना विद्रोही कर्मठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायक शेखर भी अपने जीवन को जीता नहीं एक रात में देखता है। चूँकि शरीर और उसका अनिवार्य गुण क्रिया नहीं, केवल मात्र चेतना ही यह लोग हैं (और वह भी फ्रायडियन काव्य चेतना) इसलिए शून्य अन्तरिक्ष में जिधर धुन उठ जाती है उधर ही भटक जाते हैं। इस बात से यह भी सिद्ध होता है कि इन सभी नायकों की सिद्धान्तहीनता और लक्ष्यहीनता का कारण भी इनकी अशरीरी चेतना और क्रियाहीनता ही है। इनका विद्रोह दुनिया की हर बात—सिद्धान्त, लक्ष्य, शरीर, क्रिया जीवन हर चीज को झुठलाने और निषेध करने में है, इसलिए इन्हें 'नेति-नेति' वाला अद्वैत दर्शन ही शान्ति दे पाता है।

आप उस स्थिति का सहानुभूतिपूर्वक अनुमान लगाइये जब क्रान्ति आप कर डालना चाहें लेकिन हाथ में आपके 'टूटी तलवारों की मूठ'[1] ही हो तब आप 'हैमलेट' की तरह अपनी निष्क्रियता को ही विभिन्न दार्शनिक सुन्दर लगने वाली सूक्तियों से नहीं भरेंगे तो क्या करेंगे? जब बात कहना चाहें और जबान न हो तो एक ही रास्ता आपके पास है कि 'मौन' की महिमा बखानिये।[2] दर्द आपकी छाती को फूँके दे रहा हो और उसके कारणों को आप दूर न कर सकें तो ला-मुहाला आप समझौता करके आखिर कब तक उस दर्द को प्यार नहीं करेंगे? बस दर्द को सीने से लगाइए और नई दृष्टि प्राप्त कीजिए। इसे झुठलाना ग़लत होगा कि पीड़ा मनुष्य को नई दृष्टि नहीं देती, लेकिन कैसे? सचमुच पीड़ा, दर्द और दबाव ही मनुष्य की प्रगति और प्रयत्नों के मूल हैं। श्रद्धा कहती है "विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान्" आविष्कार के मूल में अभाव की अनुभूति और आवश्यकता की पीड़ा ही तो है। एक पीड़ा है जो पीड़ा सहने वालों और उन जैसों को पीड़ा से छुड़ाती है, 'रियलाइज़' कराती है और प्रेरणा देती है कि वे उन कारणों को बदल डालें और दूसरी पीड़ा है जो घुटती है; स्वयं निष्क्रियता से उत्पन्न पराजय का अवसाद होती है और शेष रही-सही कार्य-शक्ति को क्षीण कर डालती है (इसे हैमलेट ने भी स्वीकार किया है) तथा व्यक्ति को तटस्थ दर्शक अर्थात् 'दार्शनिक' बना छोड़ती है। वह वाग्विलास करता और अपने-जैसे शौकिया दुःख सहने वालों को सान्त्वना देता है कि 'सहना' ही चरम सुख है। यही साहित्य और कला में 'व्यक्ति-वैचित्र्य' और असाधारण मनोविज्ञान का मूल है।

'अज्ञेय' जी को इस बात का श्रेय जरूर है—और कम नहीं है—कि भुवन के रूप में उन्होंने इस तरह के नायकों का एक चरम प्रतिनिधि पात्र प्रस्तुत कर दिया है। जैसा कि अपने 'अहं' को ही निरपेक्ष सत्य मानने वाले व्यक्तियों का वर्गीकरण करते हुए प्लैखनोव ने आगे बताया है कि "यदि ऐसा व्यक्ति किसी विशाल सामाजिक आन्दोलन से सहानुभूति करने भी लगे तो वह फ़ॉक की तरह यही विश्वास करेगा कि सामाजिक विकास का कोई नियम इसकी सफलता का आश्वासन नहीं दे सकता; और उसका भविष्य या तो 'मानवीय मूर्खताओं' के या उन्हीं की तरह के 'अर्थहीन ऐतिहासिक संयोगों' के हाथ में होगा।" सच बात तो यह है कि जाने या अनजाने—अपने अस्तित्व तक से विद्रोह करने वाले ये सभी मनोवैज्ञानिक नायक जीवन में विश्वास ही नहीं करते, क्योंकि जीवन कोई इयाई चीज तो है नहीं, व्यवहार में उसका कुछ रूप है—किसी स्थान और देश के अनुरूप उसका कोई आकार है—और देश की सीमाओं से वे बँधे

१. हम सबके हाथों में 'टूटी तलवारों की मूठ'—धर्मवीर भारती की एक कविता-पंक्ति।
२. अज्ञेय जी की 'हरी घास पर क्षण भर' में 'नयी व्यंजना' कविता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हैं, इसलिए इस तरह के नायकों में न तो अपनी कोई सांस्कृतिक परम्परा होती है और न राष्ट्रीय चेतना, और अपनी इस कमी को इनमें से कुछ नायक गाँधीवादी अहिंसा के लबादे के नीचे छिपाते हुए ऐसा प्रदर्शन करते हैं जैसे वे विश्व-बन्धुत्व की प्रच्छन्न या प्रकट भावनाओं—या 'कॉस्मोपोलिटनिज़्म' से बुरी तरह पीड़ित हैं। उनकी जो भी बात है वह सार्वभौमिक स्तर पर होती है, अतः ऐसे ही तत्त्वों के वे बने भी होते हैं। उनके लिए काल भी स्वयं निरपेक्ष है, जिस क्षण में वे हैं बस उसी का अस्तित्व है—न तोवह क्षण किसी पहले क्षण का परिणाम है, न किसी अगले क्षण का प्रारम्भ। कार्य-कारण की शृङ्खला वहाँ नहीं चलती। इस प्रकार सार्वभौमिक, सार्वकालिक नित्य तत्त्वों से बनी सूक्ष्म चेतना के अविच्छिन्न प्रवाह में 'द्वीप' की तरह उभर आई इनकी व्यक्ति-चेतना यदि किसी क्रिया में विश्वास करे भी तो उस क्रिया को आखिर कहाँ और क्यों करे? इसीलिए इनके गुरु शंकर, शॉपेनहॉवर, अरविन्द, प्रूस्त और सार्त्र-जैसे लोग हैं।

बिना माध्यम के क्रिया की तड़पती हुई चेतना किस प्रकार महान् श्रद्धेय और मानवेतर होते हुए भी वहीं—उसी भौतिकता पर कैसे मँडराती और कष्ट पाती है यह तुलसी और केशव के 'प्रेत आख्यान' में बड़े सुन्दर ढंग से आया है। इन्हें मुक्ति देने का तरीका ही यह है कि इन्हें बैठाकर वह 'गाथा' सुनाई जाय, जिसमें एक्शन हो, क्रिया हो—शरीर हो।

तो 'काम-चेतना' को मूल मानने लेकिन सामाजिक व्यक्तिगत सीमाओं के कारण क्रिया को अस्वीकार कर देने वाले नायकों के साथ जो कठिनाई रही वह हिन्दी क्या दुनिया के सभी आध्यात्मिक प्रेम के अलमबरदारों की कहानी है। फिर एक बार कल्पना कीजिए ऐसे नायक की जिसके भीतर मचलती हुई काम-चेतना तो हो लेकिन अभिव्यक्ति के माध्यम कुण्ठित हों।

हिन्दी के चतुर आलोचक श्री धर्मवीर भारती ने 'प्रतीक' में विश्व-उपन्यास के नपुंसक नायकों पर एक लेख लिखा था और उसमें उन्होंने लेडी चैटर्लीज़ 'लवर' के कथानक को रूपक बनाकर दुनिया-भर के नायकों की सामाजिकता के कारण तो खोजे लेकिन हिन्दी-उपन्यासों के नायकों की बात करते हुए वे एकदम इस बात की शिकायत करने लगे कि हिन्दी में 'सव्यसाची'-जैसे 'धीरोदात्त' नायकों का अवतार क्यों नहीं हो रहा? उसके कारणों की बात उन्होंने नहीं की तो समुचित नायकों के निदान की बात कहाँ से करते?

भारत में पारिवारिक संघटन और विशेष रूप से सामन्ती ध्वंसावशेष 'पर्दे' ने तत्कालीन सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन की प्रबल आवश्यकता में विश्वास रखने वाले युवक की मानसिक बनावट में बड़ी उलझनें और खाइयाँ पैदा की हैं। महाजनी व्यवस्था के परिणामस्वरूप जब पुरुष नौकरी, यात्रा, युद्ध या अन्य समाज-सुधार के कामों से जाय तो उसे जितने दिन बाहर रहना है, अकेले रहकर खाने-पीने, रहने-सहने, हर इच्छा को जहाँ तक हो दबाना-कम करना या ज्यों-त्यों (शायद समाज में वेश्या का यही उपयोग हो!) पूरा कर लेना है। क्योंकि सामन्ती-व्यवस्था की शिकार उसकी सहचरी नारी उसके साथ तभी जा सकती है जब परिवार का ढाँचा विकसित होता या टूटता है। बाहर हर 'फ्रंट' पर वह अकेला ही है। 'घर और बाहर' दोनों जगह दो व्यवस्थाएँ, दो दुनिया हैं। वह जागता-चलता-फिरता एक व्यवस्था में है सोता-खाता-पीता दूसरी में। लेकिन यह स्थिति अधिक सह्य नहीं है इसलिए अनिवार्य एक को अपनाने के लिए, या उसमें अपना स्थान बनाने के लिए उसे दूसरी के विरुद्ध लड़ना पड़ता है जिसकी तस्वीरें 'पारिवारिक कलह' के रूप में हमारे सामने हैं। लड़ना उसे बाहर भी पड़ता है, क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाहर की व्यवस्था औपनिवेशिक साम्राज्यवादी व्यवस्था है। और धीरे-धीरे लड़कर, उसने घर की व्यवस्था को जो ढीला किया था। उसमें नई आवश्यकतानुसार 'छूटें' पाई थीं वह लड़ाई वहीं रुक जाती, मन्द पड़ जाती या स्थगित कर दी जाती है और उसका सारा ध्यान बाहर ही केन्द्रित हो जाता है। बाहर अब भी प्रायः वह अकेला ही है। व्यक्ति समाज की इकाई जरूर है लेकिन उसका क्रम व्यक्ति, परिवार और समाज है। पूरक प्रकृति के व्यक्तियों का सम्बन्ध परिवार बनाता है, जिनसे समाज बनता है। साम्राज्यवादी व्यवस्था से लड़ते हुए—चाहे वह सत्याग्रही हों या क्रान्तिकारी—व्यक्ति की आवश्यकता थी कि उसका परिवार भी पुनर्गठित हो, ताकि वह अकुण्ठित शक्ति से लड़ सके। लेकिन परिवार अपनी ही जगह रहा और नारी उसके साथ नहीं आई। आई भी तो परिवार के नये आदर्श के रूप में नहीं; 'बहन जी' और 'देवी जी' बनकर एक और—(कुछ रहस्यमय—) व्यक्ति के रूप में। वे लोग साथ रहते हुए भी अलग-अलग व्यक्ति थे, क्यों यह उस युग की विवशता थी और उन्हें पुराने समाज से साथ रहने की स्वीकृति लेनी थी। संक्षेप में व्यक्ति ने परिवार के पुनर्गठन तथा अपनी आवश्यकताओं को उस समय तक के लिए स्थागित कर दिया जब तक कि बाहर का युद्ध समाप्त न हो जाय। फलतः प्रकृति-विरुद्ध दिशा और कार्य ने शीघ्र ही उसे थका भी दिया और विकृतियाँ आनी शुरू हो गईं।

चाहे 'राजा राधिकारमण' के असहयोग-आन्दोलन के 'नारी और पुरुष' नेता हों या अन्य सारे 'क्रान्तिकारी', बाहर से हार-थककर जब वह घर आते थे तो इन्हें दूसरा ही नक्शा मिलता था। इस लम्बे दौरान में नारी उनके लिए अपरिचित और 'रहस्य' बन चुकी होती थी, और पुराने 'घर' (परिवार) में चूँकि असहयोग की धुन में उन्होंने उस घर में अपने लिए कोई 'स्थान' नहीं बनाया था इसलिए—केवल कुछ दरवाजे खुले थे—देवर भाई, या ट्यूटर बनकर आने के दरवाजे। मन से इन सभी पुराने सम्बन्धों के प्रति नास्तिक होते हुए भी ऊपर से इन्हें आस्तिक होने का बाना धारण करना पड़ता था। इसलिए मूलतः यह सम्बन्ध, सम्बन्ध न होकर सम्बोधन-मात्र रह गए थे। सिद्धान्ततः तो यह लोग मानते थे कि नारी, नारी है और पुरुष-पुरुष, सारे पारिवारिक सम्बन्धों के परे यही एक सम्बन्ध है। कठिनाई यह थी कि विदेशों की तरह—(पढ़े-लिखे होने के कारण बौद्धिक रूप से जहाँ यह रहते)—स्त्री-मित्र और प्रेयसी बनकर खुले-आम स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध स्वीकृत नहीं किये जा सकते थे, और न स्वीकृत करा सकने का इन लोगों में साहस और समय था। अतः भाभी शुद्ध परम्परागत रूप में भाभी नहीं थी, गुरु, गुरु नहीं था और बहन, बहन नहीं थी; यहाँ तक कि सूक्ष्म दृष्टि से बुआ भी बुआ नहीं थी।—वे सभी प्रेयसियाँ भी थीं। इस विचित्र स्थिति को न तो यह नायक झुटला सकते थे न स्वीकार कर सकते थे—अतः 'फ्रस्ट्रेट' कर रहे थे। वे नारी की ओर 'तीव्र काम-चेतना' से भी आकर्षित होते थे और साथ ही उसे बहन इत्यादि की पवित्र गरिमा से भी मण्डित रखना चाहते थे। नारी इनके इस विचित्र मनोभाव को न तो हृदयंगम ही कर पाती थी और न उसका प्रतिदान। अतः यह सब उसे मानवी की तरह नहीं एक विचित्र पहेली और आधिभौतिक शक्ति की तरह देखते थे। आवृत स्थिति में उसके आस-पास मण्डराते थे और जब वह झुँझलाकर अनावृत हो जाती थी (और हिन्दी उपन्यासों में कई जगह उसे भौतिक रूप से यह कार्य करना पड़ा) तो आँख बन्द करके भाग खड़े होते थे। ये नायक इसके सिवा कर भी क्या सकते थे कि समाज मान्यताओं में कोई परिवर्तन न कर सकने वाली अपनी इस 'नपुंसकता' को आत्मा-आत्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से प्रेम करने के सुन्दर नामों से अभिव्यक्त करते और नारी को अपनी महानता के लिए 'कन्विस' करते रहते ? डॉ० नगेन्द्र-जैसे आलोचक उनके साथ थे जो यह बताते कि 'प्रेयसीत्व' की शारीरिकता को 'बहनत्व' की 'आध्यात्मिक पवित्रता' में बदलने के लिए कितने डिग्री पीड़ा की आँच और कितने आत्मिक बल की जरूरत होती है।[1]

आत्मा-आत्मा के प्रेम ने सचमुच सारी मुश्किलें आसान कर दीं। व्यक्ति अपनी रोमाण्टिक प्राकृतिक भावना को भी पूरा करता चला जाय और किसी सामाजिक व्यवस्था को भी बदलने की जरूरत न हो—इससे अधिक आसानी और क्या होगी ? नारी कहीं रहे, उसका किसी से विवाह हो, पुरुष कहीं रहे उसकी कोई भी पत्नी हो ? दोनों अपनी बँधी-बँधाई परिवार-व्यवस्था में (जहाँ वे अपने को बिलकुल भी बाँध नहीं पाते थे) रहते हुए भी अपने आत्मा-आत्मा के प्रेम को कहीं-कहीं तो खुल्लमखुल्ला या प्रायः गुप-चुप चालू रख सकते हैं और प्रेम का आदर्श दुनिया के सामने रखते हैं। इस नपुंसकता के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण एक ओर सुनीता का पति श्रीकान्त (तथा उसकी अपटूडेट 'कार्बन कॉपियाँ') है, जो स्वयं हरिप्रसन्न (या लाल इत्यादि) को लाता और अवसर देता है और दूसरी ओर 'गुनाहों का देवता' का चन्दर है (तथा उसकी अगली-पिछली परम्परा के और लोग भी), जो सुधा को पवित्र प्रेम के नाम पर दूसरे से ब्याह देता या मरने छोड़ देता है (आत्म-पीड़न की चादर में यह वही ट्रम्प-चाल है जिससे शरत् के पात्रों ने अपनी नपुंसकता को छिपाया है)। नरोत्तम नागर[2] और विश्वम्भर मानव[3]-जैसे आलोचक यदि इस 'भाभी-पूजा' और 'बहनबाजी' पर झुँझला पड़ते हैं तो इसमें अस्वाभाविक क्या है ? आश्चर्य की बात है इस तरह के एक भी पवित्र निष्क्रिय प्रेम का उदाहरण—मजनूँ को छोड़कर—हमें न तो अपनी लोक-कथाओं में मिलता है और न प्राचीन साहित्य में। क्या सीता के लिए राम का प्रेम कम पवित्र और आत्मिक था, जिसके लिए राम ने पूरे मानव-इतिहास को मोड़ दिया ? सावित्री सत्यवान से कम प्रेम करती थी जिसके लिए वह साकार मृत्यु से जूझ गई थी ? फ़रहाद के लिए शीरी कम पवित्र थी कि उसने एक रात में पहाड़ खोद डाला ?

इसी आध्यात्मिक प्रेम की 'पवित्रता' की प्रतिक्रिया है कि लारेन्स की तरह पहले 'उग्र', फिर कुशवाहा 'कान्त' के उपन्यास या 'घेरे के बाहर' तथा उर्दू के मण्टो और इस्मत चुग़ताई के व्यभिचार और बलात्कार के साहित्य से हिन्दी-उपन्यास भर रहा है। इसका कारण स्पर्जन ने दिया है, "एक विचित्र किन्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार आध्यात्मिकता के अतिरेक के बाद कामुकता का प्रारम्भ होता है।"

असल में किसी भी परिवर्तन से बचने और उत्तरदायित्व से भागने की 'महत्त्वाकांक्षा' ही इन नपुंसक (कार्य-क्षेत्र में असफल और नारी के सामने 'आध्यात्मिक प्रेमी' महान् नायकों को परिचालित करती है। इन उपन्यासों के लेखकों का बड़ा सुन्दर विश्लेषण जैक्सन ने निम्न पंक्तियों में किया है :

"Contrariwise, the artist, pulled two ways, may have a deep dislike of his time, but an even deeper fear of revolutionary alterna-

१. विचार और अनुभूति—'शेखर' एक दृष्टि।
२. 'चकल्लस' का 'देवर भाभी अंक'।
३. आलोचना में 'पथ की खोज' का रिव्यू।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tive to things as they are. Such a writer may achieve an illusion of detatched impartiality by scattering his sarcasms over Right and Left at once".—(Old Friends To Keep.—Page 13)

यह है इन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्यक्ति-नायकों के मानसिक गठन के सामाजिक करणों का विश्लेषण। अपेक्षाकृत इनमें सबसे अधिक सशक्त नायक शेखर है और सबसे अधिक निकम्मा हरिप्रसन्न तथा उसके अन्य अवतार (वे भगवान् के अवतारों की तरह शीघ्र ही बाहर की संख्या पूरी करेंगे !)। लगता ऐसा है कि यह उस युग के 'मूल नायक' के ही दो पक्षों से लिये गए दो 'क्लोज़अप' हैं और मिलकर ही एक पूर्ण चित्र खड़ा करते हैं। फिर भी पुरुष पात्रों की अपेक्षा यह लोग नारी पात्रों का अधिक प्रभावोत्पादक कहीं-कहीं सफल चित्रण कर पाये हैं; क्योंकि उसे उन्हींने एक साथ पत्नी, प्रेयसी, बहन (इत्यादि) के तीनों आयामों (डाइमेंशन) तथा इनके मानसिक घात-प्रतिघातों—द्वन्द्वों के बीच में दिखाने की कोशिश की है। यह पुरुष-लेखकों का दृष्टिकोण है। तत्कालीन परिस्थिति को नारी-दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाली कोई प्रथम श्रेणी की महिला उपन्यास-लेखिका का सौभाग्य हिन्दी को है नहीं, फिर भी उषादेवी मित्रा की 'पपीहरा' (पिया) अपना विक्षोभ पुरुषों को कोड़े से पीटकर प्रकट करती है।

पथ की खोज

किसी स्वस्थ जीवन-दर्शन के अभाव में यह भावुक और भाववादी व्यक्तिनायक न तो मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतन्त्र और पूर्ण अभिव्यक्ति ही कर पाये[१] और एक्शन को झुठलाने के कारण[२] न कोई जीवन-दर्शन ही ऐसा दे पाये जो मानवता को नई राह दिखाता।[३] इनके स्रष्टा इनकी नपुंसकता को कितनी अच्छी तरह पहचानते थे कि इन सभी ने एक सिरे से अपने को अपने पात्रों के प्रति उत्तरदायी या उनका कर्ता होने की बात को ज़ोरदार ढंग से झुठलाया है। फ्लाबेयर की शब्दावली उधार लेकर जैनेन्द्रजी ने अपने नायकों में सब जगह होने और कहीं न होने की बात कही।[४] बाद में तो हरेक रचना की पाण्डुलिपियाँ उन्हें कभी किसी रोगिणी के पास या कभी किसी वकील की फाइलों में मिल गईं। इलियट की तरह 'अज्ञेय' जी ने कहा कि "जो कलाकार निर्माण करता है वह अनुभूति करने वाले कलाकार से भिन्न है—जितनी अधिक यह

१. In the absence of a world outlook, of an understanding of life no full and free expression of human personality is possible.
—रैल्फ़ फॉक्स

२. You can not show man complete unless you show him in action.
—फील्डिंग

३. तुलना कीजिए—"होरी में व्यक्तित्व है और वह उसका व्यक्तित्व भारतीय किसान के व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है। शेखर में व्यक्तित्व नहीं है, वह कोरा व्यक्तिवादी है अपना ही प्रतिनिधि है।

४. The author in his work must be like God in the universe, present everywhere and visible nowhere; art being a second nature the creator of this nature must act by similar methods.....
इत्यादि—फ्लाबेयर के पत्र से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्नता होगी उतनी ही सफल कला-कृति होगी।" इसी प्रकार श्री इलाचन्द्र जोशी ने अपने और अपने नायकों के साम्य पर शर्त ही लगा दी। यदि ऐसा हो तो वे अपने को कहानीकार ही मानना छोड़ देंगे। कला और जीवन के इस द्वैत पर इल्या एहरेनबुर्ग ने कहा है "बुर्जुआ समाज में कला और जीवन के बीच में हमेशा ही एक खाई रही है···जब कोई ऐसा अभिजात युवक किसी ग़रीब लड़की से शादी करना चाहता है···या ऐसा ही कोई कार्य करता है तो उसका बाप चिढ़कर कहता है जीवन उपन्यास नहीं है।"—अर्थात् इन कलाकारों ने उपन्यास को जीवन से बिलकुल अलग कर दिया है।

इनके जवाब में आते हैं हिन्दी के दूसरी प्रकार के मध्यवर्गीय—लेकिन बौद्धिक ही—नायक जो क्रियाशील भी दिखाई देते हैं, जीवन में सिद्धान्त भी बोलते हैं और व्यक्तिगत समस्याओं को भी सुलझाना चाहते हैं—यह है यथार्थवादी रोमाण्टिक व्यक्ति : यशपाल के ('दादा कॉमरेड' के) हरीश, ('देशद्रोही' के) डॉ० खन्ना आदि, 'अंचल' के ('चढ़ती धूप' के) मोहन, 'नई इमारत' के) महमूद और अशात, ('उल्का' के) चाँद, तथा श्रीकृष्णदास के ('क्रान्ति दूत' के) विनय, मदन तथा ('अग्नि पथ' के) रमेश-प्रेम।

हिन्दी के दो प्रगतिशील आलोचकों—प्रकाशचन्द्र गुप्त और रामविलास शर्मा—को शिकायत यह है कि ये सभी नायक सन्तुलित नहीं हैं और इनके साथ "ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है" वाला मामला है। वे प्रायः "राजनीति में रोमांस खोजने आते हैं।" अपने जीवन के सिद्धान्तों को इन लोगों ने प्रायः साम्यवादी शब्दावली में व्यक्त किया है लेकिन नारी का—यौन-जीवन का—इनकी दृष्टि से क्या स्थान है, इनमें से कोई भी साफ़ नहीं है। इसलिए 'नैतिकता के मूल्य बदलने' के नाम पर प्रायः ही इन्होंने अश्लीलता के प्रति रुचि दिखाई है—या कहिये समझ की ग़लती क्रिया में अश्लीलता के रूप में आई है। यह प्रवृत्ति अपने चरम रूप में उर्दू के अधिकांश लेखकों में—मुख्य रूप से कृष्णचन्द्र में—अध्ययन योग्य है। श्री कृष्णदास ने तो 'क्रान्ति दूत' की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है कि "जिस प्रकार मरुस्थल में चलते-चलते पानी पीने की आवश्यकता होती है और पानी पिया ही जाता है, उसी प्रकार अपने क्रियात्मक जीवन में हमें स्त्री की आवश्यकता होती है।" इस दृष्टिकोण में और सिपाहियों को लड़ते समय वेश्याएँ सप्लाई करने के दृष्टिकोण में क्या अन्तर है? वेश्या और सहचरी नारी होते हुए भी कहीं तो भिन्न हैं? यह ठीक है कि साम्यवाद सामन्ती नैतिकता के नियम नहीं मानता—लेकिन कोई नियम ही नहीं मानता, यह ग़लत है। उसके अपने नियम हैं और नियमहीन उच्छृङ्खलता से उसे गडमड करना उसके विकृत रूप को रखना है। एक गिलास से कई आदमियों द्वारा पानी पीने वाली यह वही ग़लत समझ है, जिसकी क्लाराज़ैटकिन को लिखे एक पत्र में, लेनिन ने भरपूर भर्त्सना की है। राजनीति और रोमांस दोनों में यह नायक मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद लेकर आये हैं और नारी के प्रति इनमें से कुछ का दृष्टिकोण तो इनके भाईबन्द निष्क्रिय व्यक्तिवादियों से बुरी तरह मेल खाता है। चाहे व्यक्तिगत क्रान्ति की भावुक विचार-धारा हो या अहिंसक क्रान्ति की आध्यात्मिक दलीलें—राजनीतिक प्रत्युत्तर तो इन सबका ये नायक काफ़ी अच्छा दे लेते हैं लेकिन स्वयं राजनीति में प्रायः वही ग़लती करते हैं, जिसे इधर संकीर्णतावादी ग़लतियाँ कहा गया है। इसे उस समय की राजनीतिक समझ कहकर टाला जा सकता है, जिसके लिए वे ही बेचारे अकेले दोषी नहीं हैं—उनके बड़े-बड़े 'आचार्य' भी यही सोचते थे। फिर भी यह प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो प्रायः उठता ही है कि क्यों यह लोग अपने-आपको प्रचार और राजनीतिक शब्दावली से इतना अधिक बाँध लेते हैं कि दूसरे दिन वह पुरानी पड़ जाय या उसके लिए इस प्रकार की कोई सफ़ाई देनी पड़े। ऐसी ग़लती तब होती है जब राजनीति और कला में माँ-बेटी का सम्बन्ध जोड़ा जाता है—माँ बेटी को 'डिक्टेट' करती है। कला और राजनीति दोनों जुड़वाँ बहनें हैं। उनका मूल एक ही है और वह है वह जीवन, जिस पर यह अपने को आधारित करती हैं। मूल विचार-धारा रोग, निदान और उपचार सबमें एकमत एक राय होते हुए भी दोनों की भाषा और शब्दावली अलग हैं और इन्हें सहायता के लिए भले ही—लेकिन बोझ लादने को नहीं—एक-दूसरे की ओर देखते हुए भी अपने उसी आधार को देखना चाहिए जहाँ इनकी जड़ें हैं। जीवन को सही यथार्थवादी दृष्टि से न देखना इन नायकों की मुख्य कमज़ोरी है।

यशपाल पर आरोप का यही कारण है कि उनके उपन्यासों की स्त्रियाँ आवश्यकता से अधिक नायकों को चलाती हैं, श्री कृष्णदास की स्त्रियाँ बिलकुल ही निर्जीव हैं। 'अंचल' ने तारा आरती इत्यादि प्रारम्भ के उपन्यासों को छोड़कर—अपनी स्त्रियों का निर्माण समय-असमय नायक के प्रति प्रेम-निवेदन करने को ही किया है। नायक को अन्धे होकर पूजना, प्रेम-निवेदन करना और उस पर अक्षत रोली चढ़ाना, पहले वर्ग के नायकों की विशेषता है, अतः 'अंचल' को भी बाद में हर लिहाज से हम उन्हीं नायकों की गिनती बढ़ाते हुए देखते हैं। वे 'उल्का' से लेकर 'मरु प्रदीप' तक में अपने साथी शेष 'कवि-उपन्यासकारों' के साथ आ गए। रईस की लड़की और गरीब के लड़के द्वारा वर्ग-संघर्ष की खाई को पाटने का घिसा-पिटा मन्त्र लेकर आने वाले श्री कृष्णदास को तो बहुत पहले ही 'हैण्ड्-अप' करके भाग खड़ा होना पड़ा था। जीवन के विभिन्न स्तरों का गहरा अनुभव, मानव-मनोविज्ञान की जानकारी एक स्वस्थ राजनीतिक दृष्टि और कलात्मक पृष्ठभूमि यशपाल को ज़रूर सही रास्ता खोज निकालने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करती रही है—जिस सबकी उनके साथियों में सख्त कमी थी। वे सही राह जाने के लिए मनुष्य के इस वर्ग-विभाजित समाज में विभिन्न रूप देखते रहे हैं। इस प्रयोग के दौरान में जहाँ उनकी कलात्मक शैली, भाषा की सामर्थ्य की तारीफ़ हुई है वहाँ उनके खन्ना और सोमा इत्यादि को गालियाँ भी बहुत पड़ी हैं। खन्ना 'आज़ाद कथा' के आज़ाद साहब की तरह भारत से रूस तक की स्त्रियों को 'फ़तह' कर आया, फिर भी उसकी राजनीतिक समझ चन्दा के आस-पास मँडराती रही, उसमें ज़रा भी अन्तर नहीं आया। उधर सोमा चैखव की डार्लिंग की तरह नये-नये पुरुषों का आधार खोजती रही, लेकिन स्वयं उसकी आयु और रूप कुछ भी नहीं बदले। गाँधी की 'बद्द' से लेकर 'पहाड़िन' एक्ट्रेस तक वह निर्लिप्त ही है।

आज के समाज में मध्यवर्गीय प्रेम-रोमांस के विभिन्न स्वरूपों को समझने और सामाजिक गत्यात्मकता में उसके स्थान के निरूपण करने का एक बहुत सराहनीय प्रयत्न 'अश्क' ने अपने 'गर्म राख' के नायकों द्वारा किया है। यद्यपि 'स्पिरिट' और कुछ अंशों तक प्रयत्न सही होते हुए भी वे प्रकृतिवाद से उसके स्वरूप को नहीं बचा पाये हैं और उसकी रक्षार्थ उन्हें हरीश को बना-बनाया उतारना पड़ा है। फिर भी इन सभी की अपेक्षा वे आपने पात्रों के प्रति अधिक तटस्थ सहानुभूति बरत सके हैं और व्यक्तित्वहीन जगमोहन में उन्होंने आज के मध्यवर्गीय युवक के नपुंसक उलझे प्रेम को अच्छी तरह पेश किया है। निश्चय ही 'सितारों के खेल' के पवित्र प्रेम के लिए खिड़की से कूद पड़ने वाले नायक का यह अगला विकास है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्णतः इस तरह के नायक नारी के लिए भूल में पहले वर्ग के नायकों का ही दृष्टिकोण भले ही रखते हों—और उनकी सेवा-आदर प्राप्त करने के लिए अक्सर बीमार पड़ जाया करते हों, लेकिन वे सही राह खोजने की तड़प से भरे हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। असल में इन उपन्यासकारों की ग़लती यह नहीं है जो डॉ० रामविलास शर्मा समझते हैं कि "वे पूँजीवादी कला और मार्क्सवादी राजनीति को मिलाते हैं।" बल्कि कमज़ोरी उनकी यह है कि पूँजीवादी कला से क्या लेना और मार्क्सवादी राजनीति से उसका कैसे मेल बैठाना है। इसका उचित अनुपात अभी यह लेखक नहीं पा सके हैं। इस सही अनुपात की प्राप्ति को माओत्से तुंग ने समाजवादी लेखक की सफलता ही माना है, क्योंकि शुद्ध कलाकारों[1] को बात तो कुछ कहनी नहीं होती इसलिए कला को माँजने की काफ़ी फ़ुरसत रहती है—इसलिए बात कहने के लिए इनकी मँजी कला ली जा सकती है।

बहती गंगा

चैखव, तुर्गनेव, टाल्सटाय और डिकेन्स की सबसे बड़ी विशेषता है, वस्तुस्थिति की उनकी पकड़ और तज्जन्य मानसिक संवेदनाओं का सामाजिक परिपार्श्व में ऐसा अंकन कि आगे आने वाले किसी भी मत के पाठक को तत्कालीन युग को समझने का उससे सच्चा और अच्छा माध्यम ही न मिले। उसका मतवाद भले ही उन्हें उपन्यासकार के 'निदान' से असहमत होने को विवश करे—उसे उनकी व्यक्तिगत या तत्कालीन सीमाएँ मानकर छोड़ा भी जा सकता है। सामाजिक सम्बन्धों में मानव-हृदय की यही समझ थी जिसने डिकेन्स को हर युग में हर देश के महान् लेखकों द्वारा पढ़े जाने का समर्थन प्राप्त कराया है और रॉबर्ट लिण्ड को चैखव के विषय में यह कहना पड़ा कि मानव-हृदय का इतना बड़ा जानकार इस नक्षत्र पर पैदा नहीं हुआ और स्तालिन को यह मानना पड़ा कि यदि तत्कालीन परिस्थितियों में रूसी हृदय को समझना है तो चैखव से बड़ा कोई कलाकार नहीं मिल सकता। यही नहीं मानव-चेतना के तीन छोरों को—टाल्सटाय, गोर्की और समरसैट मॉम की—समान निष्ठाभरी भाषा में उसे श्रद्धांजलि देनी पड़ी।

कुछ हद तक यह सही है कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न यौन-कुण्ठा—जिसके विषय में ऊपर काफ़ी कहा जा चुका है—उस समय के युवकों के एक वर्ग में सत्य थी—और प्रेमचन्द ने उसे प्रायः अपने किसी भी उपन्यास में प्रायः किसी भी रूप में स्थान नहीं दिया है। यह भी कह सकते हैं कि मानव-चेतना की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ किस तरह किन्हीं विशेष परिस्थितियों में प्रतिबाधित और रुद्ध होकर असामान्य मनोविज्ञान की सृष्टि करती हैं इसका एक भी चित्र हमें प्रेमचन्द में नहीं मिलता, इसलिए कुछ लोगों को उनमें 'मनोवैज्ञानिक गहराई' या चेतना के विभिन्न (विकृत) स्तरों के दर्शन नहीं होते। फिर भी स्तालिन ने जो बात चैखव के सम्बन्ध में लिखी है वही प्रायः प्रेमचन्द के विषय में भी कही जाती है। इसका कारण यह भी है कि प्रेमचन्द ने अपने सभी पात्रों को विकासमान घटना-क्रम में ही देखा है जिससे उनकी विकृ-

१. "Why we should admire a 'pure artist' more than a 'pure woman' is one of the mysteries of the age. Why not just an artist and a woman? They are both interesting and they both suffer, but not in order to be beautiful" —फ़ॉक्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तियाँ और कुण्ठाएँ प्रायः क्रिया के रूप में ही ढल गई हैं। उन्होंने उन्हें कहानी से अलग हटा-कर स्थिर और विश्लिष्ट करके उनकी महीन-से-महीन रुद्धता का मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और परीक्षण नहीं किया और न ही हर अनुभूति को बौद्धिक स्तर पर ले जाकर उसका तटस्थ 'दर्शन' करते हुए भाषा और भावों की उलझन और गरिष्ठता में अपने को खोया है। उन्होंने 'अन्त-राल' बनाकर अपने पात्रों को और भी अधिक आत्मालोचन और आत्म-ज्ञान की छूट भी नहीं दी और मेरी समझ में यह एक सही दृष्टिकोण था। मनोवैज्ञानिक गम्भीरता, चेतना के स्तर-प्रस्तरों का अनुसन्धान मानव-मन की कुण्ठा और विकृति को—सफल या असफल—यदि चाहे तो कौन-सा लेखक नहीं चित्रित कर सकता और किस स्वस्थ-से-स्वस्थ मनुष्य में इस तरह की गाँठें नहीं हैं? पवित्र-से-पवित्र पानी के एक छोटे-से बिन्दु में या दही और वनस्पतियों में कीटाणुओं की कितनी विराट् संख्या छिपी है इस बात के वैज्ञानिक सत्य से इन्कार करना मूर्खता होगी; लेकिन हर जगह व्यक्ति यही सब देखने बैठ जायगा तो उसका खाना-पीना, उठना-बैठना सब-कुछ हराम हो जायगा। प्रेमचन्द के दृष्टिकोण को सही या ग़लत कह देना अलग बात है लेकिन उसे उनकी कमज़ोरी मानना उचित नहीं है। प्रवृत्तियों और चेतना की किन अनिवार्य वृत्तियों को हम स्वीकार या नज़रन्दाज़ कर सकते हैं, इसे हमें एक सामाजिक प्राणी की दृष्टि से ही सोचना होगा।

प्रेमचन्द की एक-मात्र सफलता यह थी कि उनकी कहानी उस बिन्दु से शुरू होती है, जिसे बहुत बाद तक भी लोगों ने—विशेषकर मध्यवर्गीय अभिजात आलोचकों और उपन्यासकारों ने—कोई महत्त्व नहीं दिया। वह था व्यक्ति और समाज का मिलन-बिन्दु अर्थात् परिवार। प्रेमचन्द कुछ वर्गों के चित्रण में बहुत अधिक सफल रहे हैं, कुछ के में कम, यह उनके अनुभव की अपनी सीमा थी लेकिन उनके उपन्यास का कोई भी प्रमुख पात्र कम-से-कम दो ऐसी विशेषताएँ रखता है जो उन्हें सामयिक तथा परवर्ती सभी उपन्यासकारों से अलग कर देती हैं। या तो वह एक परिवारिक पृष्ठभूमि लेकर आता है या एक से अधिक सम्बन्धों में हम उसे चलते-फिरते देखते हैं—यहाँ तक कि उनका एक-मात्र अभिजात या आदर्श प्रेमी विनय भी केवल सोफ़िया के साथ ही मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का 'प्लांचेट' नहीं है—उसके और भी सम्पर्क और सम्बन्ध हैं। इस कला के द्वारा वे अपने नायकों के किसी विशेष व्यक्तित्व पर कई तरह से या व्यक्तित्व के कई पक्षों पर एक साथ सधा और सीधा प्रकाश डालने में समर्थ हो सके हैं—वर्ना रायसाहब ज्ञानशंकर, अमरकान्त इत्यादि को परम्परागत रूप में ढला-ढलाया खलनायक न बनने देकर इतनी अधिक मानवीय तटस्थता से वे उनका चित्रण न कर पाते। मैं खलनायक इसलिए कह रहा हूँ कि आज के उपन्यासकार के लिए—जो किसी भी 'रैडी मेड' चीज़ में विश्वास नहीं करता, सबसे अधिक मुश्किल है खल नायक का निर्माण।[1] आज वह किसे सड़क पर खड़े होकर और किस आधार पर और क्यों कह दे कि तू खलनायक है? यही वह स्थान है जहाँ हिन्दी के सबसे बड़े कलाविद 'अज्ञेय' तक 'फेल' हो गए हैं और जब उनका चन्द्रमाधव आता है तो ऐसा लगता है कि राजा शिवदत्त (चन्द्रकान्ता सन्तति) चले आ रहे हैं। केवल यही उद्देश्य न होने के कारण प्रेमचन्द अपने अन्तिम दो नायकों को छोड़कर भले ही उस विधि का सफलतापूर्वक उपयोग न कर पाए हों, लेकिन यह अन्तर्दृष्टि उन्होंने जरूर दी कि चाहे कितना ही अतलान्तक

१. 'पाँचू' के चित्रण में विशेष सफलता न मिलते हुए भी 'मोनाई' (खलनायक) के चित्रण 'महाकाल' में श्री अमृतलाल नागर को जो सफलता मिली है वह इसका अपवाद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गूढ़-गम्भीर मनोविश्लेषणात्मक नायक हो तब तक न तो उसकी मानसिकता का सफल चित्रण ही हो सकता है और न उसे 'टाइप' ही बनाया जा सकता है जब तक कि उसे कई कोणों, क्रिया-परम्पराओं और सम्बन्धों के बीच में नहीं देखा जाता। इल्या एहरेन बुर्ग ने इसे ही नई शब्दावली यों दी है—"१९वीं शताब्दी का उपन्यास मुख्य रूप से या तो व्यक्तियों या उन परिवारों को लेकर चलता है जिनमें लेखक अपने एक या अधिक नायकों के आस-पास चरित्रों को एकत्र कर देता था। आज का सामाजिक जीवन व्यक्ति के घरेलू जीवन का ही हिस्सा अधिक है। आज चाहे मनोवैज्ञानिक हो या अन्य, "ऐसे उपन्यास की कल्पना ही नहीं की जा सकती जिसमें नायक या नायकों के सम्पर्क में आने वाले विभिन्न व्यक्तियों का चित्रण न हो।"[1]

व्यक्ति को कई कोणों और पक्षों से दिखाना प्रायः उपन्यासकार को प्रकृतिवादी यथार्थवाद में उलझा देता है, जैसा कि कुछ अंशों में 'प्रसाद' के 'कंकाल' और 'तितली' में और बाद के रांगेय राघव में हुआ। सचेत उपन्यासकार परिस्थिति और समस्याओं में ही उलझा रह जाता है, न तो वह व्यक्ति बना पाता है और न इस दिशा में कोई आशाजनक प्रयास करता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण होते हुए भी अपरिहार्य घटनाओं और व्यक्तियों को छाँटने के विवेक के अभाव में प्रायः ही उपन्यासकार असन्तुलित होकर अवान्तर प्रसङ्गों के विस्तार में बहक जाते हैं। कुछ अंशों में 'अश्क' का 'गिरती दीवारें' इसका उदाहरण है।

यह चयन या छाँटने का काम तब बहुत आसान—कहना चाहिए तभी सम्भव होता है जब[2] लेखक अपने नायक के विषय में सभी कुछ जानता हो। इसके बिना न तो वह कहानी को ही चला सकता है और न व्यक्तित्व के खास-खास पक्षों को ही शक्तिशाली ढंग से रख सकता है। विशेष रूप से व्यक्तिवादी नायकों के स्रष्टा मूलतः जानते ही नहीं थे कि उनका कोई विशेष चरित्र किन सामाजिक या अन्य परिस्थितियों या प्रतिक्रियाओं के कारण ही वैसा बन गया है और उस स्थिति में केवल वही कर सकता है, जैसा करते हुए उन्होंने दिखाया है। वे कटे-छटे कलापूर्ण चरित्र के नाम पर जो कुछ देते थे वही अपने पात्रों के विषय में जानते थे या अपने चरित्रों को केवल इसी रूप में वे समझ भी पाये थे। उनकी पारिवारिक स्थिति, सगे-सम्बन्धी, जीविका का साधन, व्यक्तिगत रुचि आदि किसी भी पात्र की इस प्रकार की 'हिस्ट्री-शीट' से उपन्यासकार को कोई मतलब नहीं होता था इसलिए ये चरित्र बड़े एकाङ्गी लगते हैं, जैसे अंधेरे में घूम रहे हो। 'गोदान' का होरी इस दृष्टि से भारतीय कथा-साहित्य में बेजोड़ है और बाद के चरित्रों में तो इस तरह का एक ही प्रयत्न ध्यान में आ रहा है जिसे इतने अधिक सम्बन्धों और सम्पर्कों में रखने की कोशिश की गई—वह है विष्णु प्रभाकर की 'ढलती रात' का 'दर्शन-हीन' नायक कान्त। 'चेतन' सामाजिक परिस्थितियों के अङ्कन के लिए केवल एक ऐसा पारदर्शी माध्यम बन गया है कि व्यक्तित्व नहीं बन पाया। उसकी सफलता इस बात में है कि वह जीवन से कटे हुए यौन-कुण्ठा-ग्रस्त व्यक्तियों को एक सामाजिक पृष्ठभूमि में चित्रित करने का प्रयास है।

१. लेखक और उसका शिल्प।

२. "उपन्यास के लेखक को अपने पात्रों की बचपन से लेकर बुढ़ापे तक की जिन्दगी से परिचित रहना चाहिए। वह इन सबको चित्रित नहीं भी कर सकता, परन्तु अपनी रचना और दृष्टिकोण के अनुसार कुछ परिवर्तन करके उनमें से आवश्यक चीज़ें छाँट अवश्य लेता है।" इल्या एहरेनबुर्ग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी कथा के लिए हम उसका उपयोग या चित्रण किसी भी रूप में और कितना ही करें नायक को हम तब तक सजीव और सम्पूर्ण नहीं बना सकते जब तक कि उसके व्यक्तित्व के दो पक्षों को हम बहुत अच्छी तरह न समझ लें। रैल्फ फॉक्स के अनुसार "हर मनुष्य के दो इतिहास होते हैं। जाति-पात्र (टाइप) के रूप में उस व्यक्ति का सामाजिक इतिहास होता है और एक व्यक्ति के रूप में उसका अपना व्यक्तिगत इतिहास होता है। इन दोनों ही इतिहासों में परस्पर चाहे कितना ही द्वन्द्व और संघर्ष क्यों न दिखाई दे, असल में है यह अविछिन्न ही। यह सही है कि व्यक्तिगत इतिहास अन्ततः सामाजिक इतिहास द्वारा ही निर्धारित होता है किन्तु इसका यह मतलब कभी नहीं है और न होना चाहिए कि कला में व्यक्तित्व के ऊपर सामाजिक जातीयता ही हावी हो जाय।" और यह सामाजिक इतिहास आज हमारे समाज में कितनी धाराओं में बँटा है तथा किस तरह विकास, गति और रूप प्राप्त करता हुआ व्यक्तिगत इतिहास या व्यक्तित्व का निर्माण करता है यही उपन्यासकार की अन्तर्दृष्टि की कसौटी है।

होरी और उसके केवल दो उत्तराधिकारी—अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँकेमल' और नागार्जुन का 'बलचनमा'—अपने व्यक्तित्व में सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को इस तरह आत्मसात् करके साकार हो उठे हैं और इतने अधिक 'अपने व्यक्तित्व' के लोग बन गए हैं कि जहाँ हम उनमें एक युग अपनी सारी विशेषताओं के साथ देखते हैं, वहाँ वे बहुत ही साधारण लेकिन बेजोड़ आदमी भी हैं। यदि सामन्तवाद की समाप्ति[1] के साथ होरी की कहानी समाप्त होती है तो 'बाँकेमल' और 'बलचनमा' अपने पुराने संस्कारों के साथ नई सभ्यता का ऐसा गंगा-जमुनी समन्वय देते हैं कि दो अद्भुत व्यक्तित्व सामने आते हैं। बाँकेमल तो सचमुच ही अद्वितीय चरित्र है, जो हँसते-हँसते अपने युग की प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील दोनों धाराओं का दिग्दर्शन कराता है। वह पुराने का भक्त है। अपने समय से चिपका है। गाँव में जाता है तो पनिहारिनों से मजाक करने में या उनके साथ मजा लूटने में; बगीची में आशिक-माशूकी की शायरी करने में या अपने गाहकों की, यहाँ तक कि लाला मूलचन्द की भी जेब काटने से नहीं चूकता। लेकिन एक जगह वह परम क्रान्तिकारी है। मुसलमान बादशाह को हृदय से प्यार करता है। गरीबों की शादी के लिए छाती ठोककर लड़ने को तैयार हो जाता है। सबके ऊपर उसकी अपनी सनकें तो हैं ही। वर्णनात्मक शैली की सजीवता की दृष्टि से भारतीय साहित्य के बाहर भी ऐसा मस्त चरित्र मिलना मुश्किल है।

रतिनाथ और बलचनमा के रूप में ऐसा लगता है कि नागार्जुन ने प्रेमचन्द की विस्मृत कथा-परम्परा और होरी की वंशावली—अर्थात गोबर—को चित्रित किया है। लेकिन सामाजिक और सांस्कृतिक सत्यों को समोकर वह भी इतना सशक्त पात्र नहीं दे सके, जो बाँकेमल है। हालाँकि बाँकेमल अपने-आपमें उपन्यास का अधूरा ही पात्र है जिस तरह होरी का ढीला-ढाला प्रशान्त चरित्र बिना धनिया की तेजी और सड़क के नहीं निखर सकता था उसी तरह बाँकेमल तो केवल चौबे जी के चरित्र का पूरक है। वह उनकी कथाओं को ऐसी निष्ठा और लगन से

१. श्री शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है—"होरी के जीवन में अविराम संघर्ष है, लेकिन अकेला होते हुए भी होरी इस संघर्ष में अकेला नहीं है। होरी के गिरने पर समाज का पूरा ढाँचा गिरता दीखता है और उठने पर पूरा समाज उठता नज़र आता है।" 'प्रगतिवाद', 'कथा साहित्य की समस्याएँ'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बयान करता है जैसे 'संकोपांजा' के मुँह से हम 'डॉन क्विकजोट' के या 'खोजी साहब' के मुँह से 'मियाँ आजाद' के कारनामे सुन रहे हों, लेकिन उसने जिस ढंग, जिस लहजे और जिस लटके में इन सब का वर्णन किया है वह इनकी अपेक्षा अधिक उस समय का पूरा चित्र देने में सक्षम है।

सामन्ती व्यवस्था से व्यक्ति को मुक्ति दिलाने का काम तो मानवतावाद ने बड़ी सफलतापूर्वक किया है लेकिन निरस्त्र और असमर्थ[1] होने के कारण स्वयं पूँजीवाद के सामने उसे हार स्वीकार करनी पड़ी। 'रंगभूमि' का 'सूरदास' पुराने संस्कारों, रूढ़ियों और क्षुद्रताओं में जकड़े लोगों को अपनी व्यक्तिगत सिद्धि और हार्दिक निश्छलता के प्रभाव से एक उद्देश्य के लिए संगठित तो कर सका, लेकिन वह 'अन्धा' था। उस संगठन का किस दिशा में और किस प्रकार उपयोग किया जाय, न वह जानता था न देखता था, इसलिए उमड़ते पूँजीवाद के थपेड़ों में निर्भयता पूर्वक एक ओर फेंक दिया गया। इस वैज्ञानिक सत्य के साथ प्रेमचन्द ने सूरदास की बातचीत, चाल-ढाल, रहन-सहन, व्यवहार, मान्यताओं और संस्कारों को जो व्यक्तिगत आकार दिया है वह व्यक्तित्व-निर्माण का एक अत्यन्त ही उत्कृष्ट और प्रभावशाली उदाहरण है। पूँजीवाद के मुकाबले में निरीह मानवतावाद को समर्थ करने का एक-मात्र श्रेय—या युगानुरूप मानवतावाद को ढालने का एक-मात्र श्रेय—मार्क्सवाद को है और इसकी अभिव्यक्ति मार्क्सवादी ग्रन्थों की वाक्यावली उद्धृत करने से नहीं, यहीं की धरती में वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि से समाजवादी यथार्थ के चित्रण के रूप में होगी—इस दिशा की ओर प्रेमचन्द का दूसरा सधा, कलापूर्ण कदम था होरी। हालाँकि 'गोदान' में संघर्ष-जैसी कहीं कोई चीज नहीं है। होरी एक रूढ़िगत अभिलाषा—गोदान की अभिलाषा—को लेकर जीवन के अन्तिम दम तक अपनी सीमाओं, बुराइयों-भलाइयों के बीच उनसे जूझता, समझौता करता, जीवित रहने के लिए लड़ता चला जाता है और अन्त में अपने इस लड़ने की परम्परा को गोबर अर्थात् सर्वहारा वर्ग को दे जाता है। सच पूछा जाय तो उस परम्परा को उसी दृष्टि और गहराई से यथार्थ पृष्ठभूमि में अभी तक बढ़ाया ही नहीं गया केवल उस दिशा में कुछ प्रयोग हुए हैं और चूँकि वे प्रयोग हैं इसलिए काफी अपरिपक्व भी हैं।

(नया व्यक्ति अपने जीवित रहने के लिए पुरानी व्यवस्था से संगठित और समर्थ होकर लड़े, इस दिशा में सही—लेकिन बहुत अपरिपक्व केवल एक प्रयत्न देखने में आया है वह है यशपाल का 'पार्टी कामरेड'। उसमें यशपाल की एक-मात्र सफलता यह है कि वे भावरिया को एक व्यक्ति लड़ाकू बनाने में—कुछ लोगों का कहना है बड़े सस्ते ढंग से—सफल हो सके हैं। गीता को देखकर सस्ते रोमांस की जगह किसी और सशक्त प्रवृत्ति द्वारा वे यदि भावरिया के मानवतावाद का 'हृदय-परिवर्तन' दिखाकर समर्थ बना पाते तो शायद ज्यादा अच्छा होता। यों रोमांस

१. टाल्सटाय के अहिंसावाद के सिद्धान्त से पूरी तरह मुक्ति चैखव को 'शाख़ालिन' द्वीपों की यात्रा ने दिलाई, जहाँ उन दिनों अपराधी जाते हैं। वहाँ से 'सुवोरिन' को पत्र लिखा था "यदि अहिंसा के सिद्धान्त में ज़रा भी व्यावहारिकता और हृदय-परिवर्तन की सामर्थ्य होती तो इस स्थान से अधिक उपयुक्त स्थान उसके लिए कोई नहीं था। यहाँ मैंने सैकड़ों मनुष्यों को क्रूर अधिकारियों द्वारा गुलामों की तरह शान्त और निरीह पिटते देखा है और युग बीत गए हैं किसी अधिकारी का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहे उसका प्रारम्भ कितना ही विकृत क्यों न हो लेकिन मूल और अन्तिम परिणति में मानवता के सभी तत्त्वों से वंचित है ऐसा मैं नहीं मानता।)

इन सभी प्रयोगों में 'गिरती दीवारें', 'बीज' और गंगाप्रसाद मिश्र के 'संघर्षों के बीच' से लेकर 'गंगा मैया', 'बहती गंगा' से 'प्रेत बोलते हैं' तक विकासमान समाज के वैज्ञानिक सत्य और उसकी समस्याओं-परम्पराओं इत्यादि को आज तक की स्थिति में छोटे-बड़े स्तर पर समझने का प्रयत्न तो जरूर ईमानदार है; लेकिन इनका भी इन-जैसे अन्य समकालीन सभी लेखकों की एक बहुत बड़ी कमजोरी है। वे विकासमान समाज का विश्लेषण, उसके विभिन्न रूपों का निरूपण तथा पिछली गति का चित्रण तो काफी सफल कर सके हैं लेकिन आज के बाद उसकी एक भी कड़ी का सही रूप नहीं दिखा पाये और उन्हें प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों की तरह 'आदर्श' की या तो एकदम अवतारणा करनी पड़ी है या अधिक तर्कसंगत होने के आग्रह में उन्हें उस कड़ी को वहीं छोड़ देने को विवश कर दिया है। दूसरी और बहुत बड़ी कमजोरी इन लोगों की यह रही है कि अभी तक ये लोग किसी ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर पाये जैसे पिछले युग के सूरदास, होरी, बाँकेमल और बलचनमा हैं। व्यक्ति केवल कुण्ठाओं, विकृतियों और मनोवैज्ञानिक गाँठों का अजायबघर ही नहीं एक बीतती संस्कृति का गवाह और उगती संस्कृति का परिवाहक भी है। वह संस्कृति और समाज के इतिहास की एक कड़ी है उसे एक गतिशील संस्कृति के सजीव, अकृत्रिम प्रतीक के रूप में ऐसी दृष्टि से देखना खुली और स्वस्थ दृष्टि का परिचायक है जिसमें उसका अपना व्यक्तित्व भी उभरे। होरी और बाँकेमल गाँव और शहर की मरणशील सभ्यता के ऐसे अध्ययन हैं जो जीते-जागते व्यक्तित्व वाले आदमी भी हैं और अपनी वस्तुसत्यता की पकड़ के लिए इतिहास के अमर नायक भी। यदि 'रथ के पहिये' (देवेन्द्र सत्यार्थी) एक जाति और 'बहती गंगा' (शिवप्रसाद मिश्र) एक नगर का अध्ययन है तो यशपाल एक 'घटना', 'गिरती दीवारें' (अश्क) एक वर्ग और 'प्रेत बोलते हैं' (राजेन्द्र यादव) एक घर का, लेकिन व्यक्ति इनमें कोई उभरकर नहीं आता।

मैं मानता हूँ कि यथार्थवादी होते हुए भी यह इन रचनाओं के लेखकों का प्रकृतिवादी रुझान हो सकता है कि न तो वे समाज-विकास की अगली कड़ी दे पाते हैं और न कोई व्यक्तित्व लेकिन इनके प्रयोगों की ईमानदारी के बारे में सन्देह करना गलत होगा। अगली कड़ी देने के नाम पर इनमें से वह जल्दबाजी बहुत कम लोगों ने की है जो 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के लेखक धर्मवीर भारती कर बैठे हैं। उन्होंने कहीं सुना कि "मार्क्सवाद उपन्यासकार को एक ऐसी दृष्टि से सम्पन्न कर देता है कि वह वर्तमान को भविष्य की दृष्टि से देख सके" बस सारे मार्क्सवाद को समझकर 'सातवें घोड़े के रूप' में बिना लिङ्क मिलाये हुए डोरे में बँधा 'भविष्य' उन्होंने रंगमंच पर ला उतारा। मार्क्सवादी दृष्टि का यह विशेषण—"मुक्तदायिनी लेकिन ज़रा खतरनाक" उन्होंने नहीं पढ़ा। इस खतरे का दूसरा उदाहरण व्यक्तित्व-निर्माण के नाम पर 'गर्म राख' का हरीश है।

फिर व्यक्ति का निर्माण इतनी आसानी से नहीं हो सकता। सूरदास और होरी प्रेमचन्द के कितने लम्बे प्रयोगों की कड़ी के परिणाम हैं, यह देखने पर पूरी बात समझ में आ जाती है। 'सेवा सदन' से लेकर 'कर्मभूमि' तक समस्याएँ-ही-समस्याएँ हैं। उन समस्याओं को लेकर आने वाले कुछ पात्र हैं, जो उन्हें प्रस्तुत करने के ढंग के कारण ही आपस में भिन्न हैं, व्यक्तित्व है ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। कम-से-कम उस अर्थ में नहीं हैं जिसमें ये पिछले दो नायक हैं। दूसरे प्रेमचन्द के युग से आज व्यक्तित्व का निर्माण करना ज्यादा कठिन काम इसलिए भी है कि प्रेमचन्द जिस युग में जी रहे थे और जी चुके थे दोनों व्यवस्थाएँ उनके सामने थीं। 'नये' में वे रहते थे और 'पुराने' को खूब अच्छी तरह जानते थे। आज के उपन्यासकार को इतना ही जानना काफी नहीं है 'एक' अनिवार्य अनागत की छाया भी उसकी छाती पर मँडराती है—यदि वह केवल होरी-जैसे पात्र को चित्रित करके छोड़ देता है तो यह उसका निराशावादी दृष्टिकोण ही माना जायगा उससे माँग की जायगी कि अगले आदमी का चित्र दे जो इस निराशावाद के खिलाफ लड़ रहा है। होरी-जैसा पात्र भी अङ्कित न कर पाने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि उस 'अगले आदमी' की आवश्यकता खुद लेखक कम उत्कटता से नहीं अनुभव करता। यहाँ तक कि वह इस इच्छा को अलग भी नहीं कर सकता और समझता भी नहीं है, क्योंकि इस 'अगले आदमी' की तस्वीर अभी इतनी धुँधली और अस्पष्ट है कि उसकी रेखाएँ अभी पकड़ में नहीं आतीं और उनके बिना तस्वीर पूरी नहीं होती। फिर भी व्यक्तित्व-निर्माण के माहिर श्री अमृतलाल नागर तथा अन्य लेखकों के 'बूँद और समुद्र'-जैसे प्रयोग अभी जारी हैं और देखें कौन है जो बिहारी की नायिका की तरह नित्य परिवर्तनशील उसकी 'छवि' को 'लिख' पाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों से विचार हो सकता है—(१) यह रूप क्या होना चाहिए और (२) इस रूप के क्या होने की सम्भावना है ?

जहाँ तक क्या होना चाहिए का प्रश्न है, भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं के लोगों की भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं। आजकल सबसे अधिक प्रचलित विचार-धारा यह है कि हिन्दी के भावी रूप में भारतवर्ष की समस्त चौदह प्रधान भाषाओं की शब्दावली और कदाचित् व्याकरण के रूपों का मिश्रण होना चाहिए। जब तक ऐसा न होगा तब तक हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में देश के भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी भागों में स्वीकृत नहीं हो सकेगी—प्रादेशिक साहित्यिक भाषा चाहे वह बनी रहे। यह तो अभी निश्चय नहीं किया जा सका है कि किस अनुपात से यह मिश्रण हो; किन्तु यह सिद्धान्त अकाट्य मान लिया गया है कि मिश्रण अवश्य होना चाहिए। फलस्वरूप हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली निर्माण करने वाली उपसमितियों में यदि अन्य भाषा-भाषी सदस्य होते हैं तो वे कभी-कभी अपनी भाषाओं के कुछ शब्द सुझा देते हैं और लेन-देन तथा समझौते की भावना से इन्हें स्वीकृत कर लिया जाता है।

इसी सिद्धान्त से सम्बन्धित एक विचार-धारा यह है कि हिन्दी भाषा का रूप इस दृष्टिकोण से सरल किया जाना चाहिए जिससे कि वह भारत के भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों को सीखने में कठिनाइयाँ न उपस्थित करे। उदाहरण के लिए इस प्रकार तर्क दिया जाता है कि भारतवर्ष की बंगाली आदि पूर्वी भाषाओं में लिङ्ग-भेद के कारण व्याकरण-सम्बन्धी रूपों में विभिन्नता नहीं होती, फलस्वरूप इन भाषा-भाषियों के सुभीते के लिए हिन्दी भाषा से लिङ्ग-भेद हटा देना चाहिए। जैसे हिन्दी के विशेष स्त्रीलिंग रूप जैसे 'जाती, खाती, पढ़ती' आदि आवश्यक हैं। इनके स्थान पर 'जाता, खाता, पढ़ता' आदि रूपों का ही प्रयोग सर्वत्र होना चाहिए। जिस तरह हिन्दी में 'राम जाता है' कहते हैं, वैसे ही 'सीता जाता है, रेल जाता है, लड़की जाता है' आदि प्रयोग चलाने चाहिएँ।

हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, इस सम्बन्ध में दूसरी विचार-धारा हिन्दुस्तानी का पक्ष लेने वाले वर्ग की है। ये लोग अब भी इस विचार के हैं कि हिन्दी की ध्वनियाँ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दावली तथा व्याकरण उर्दू के काफ़ी निकट लाया जाना चाहिए और उर्दू-भाषा-भाषियों की सुविधा को ध्यान में रखकर इनमें आवश्यक परिवर्तन होने चाहिएँ, जिससे उर्दू के जानकारों को हिन्दी सीखने में कठिनाई न पड़े और यदि सम्भव हो सके तो खड़ी बोली की हिन्दी और उर्दू शैलियाँ एक हिन्दुस्तानी शैली में घुल-मिल जा सकें। इसी विचार-धारा के परिणामस्वरूप हिन्दी के लिए देवनागरी लिपि के साथ उर्दू लिपि को, जो उद्गम की दृष्टि से अरबी लिपि है, सीखने पर बल दिया जाता है।

हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में तीसरी विचार-धारा संस्कृत की ओर झुकने वाले विद्वानों की है। इनकी धारणा है कि वास्तव में संस्कृत को भारत की राष्ट्रभाषा होना चाहिए। प्राचीन काल में बहुत समय तक यह भारतवर्ष की अन्तर्प्रादेशिक और राजभाषा रही भी है और आज भी यह देश के समस्त हिन्दुओं की धर्म और दर्शन की प्रधान भाषा है। किन्तु यदि संस्कृत राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकी है तो हिन्दी को इतना संस्कृत-गर्भित कर देना चाहिए कि वह संस्कृतमय हो जाय। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत को हिन्दी-पाठ्य-क्रम का अंग बनाया जा रहा है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, बंगला, मराठी या गुजराती आदि अन्य भारतीय भाषाओं के पाठ्य-क्रमों में संस्कृत को इस प्रकार का असाधारण स्थान नहीं दिया जा रहा है।

पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में यथासम्भव संस्कृत-तत्सम शब्दों अथवा संस्कृत-व्याकरण के आधार पर गढ़े हुए शब्दों को यह वर्ग अच्छा समझता है। इस सम्बन्ध में यह तर्क भी उपस्थित किया जाता है कि ऐसी सांस्कृतिक शब्दावली से युक्त होने पर हिन्दी का रूप भारत के अन्य साहित्यिक भाषा-भाषियों के लिए सरल पड़ेगा, क्योंकि तैलुगु, मराठी, बंगला आदि भाषाओं में भी संस्कृत-तत्सम शब्दावली का व्यवहार स्वतन्त्रता से होता है। उदाहरण के लिए संस्कृत-तत्सम रूप 'क्षेत्र' अन्य भाषा-भाषियों के लिए अधिक सुबोध हो सकेगा 'क्षेत्र' का तद्भव हिन्दी रूप 'खेत' केवल हिन्दी-भाषी-प्रदेश तक ही सीमित है।

हिन्दी के भावी रूप की कल्पना के सम्बन्ध में चौथी और अन्तिम विचार-धारा अंग्रेज़ी पढ़े भारतीयों की है, जिन्होंने अंग्रेज़ी शासन-काल में अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा पाई थी। क्योंकि उस समय शिक्षा-क्रम में भारतीय भाषाओं को उचित स्थान प्राप्त नहीं था, अतः ये लोग अपनी-अपनी भाषाओं के ज्ञान से प्रायः वंचित हैं। इस वर्ग का सच्चा विश्वास तो प्रायः यह है कि यदि अंग्रेज़ी ही शासन, शिक्षा तथा न्याय आदि के क्षेत्र में चलती रहती तो अच्छा होता, क्योंकि भारतीय भाषाएँ कभी भी अंग्रेज़ी के स्तर तक पहुँच सकेंगी, इसमें उन्हें सन्देह है—जो हो, उनके अनुसार निकट भविष्य में तो नहीं पहुँच सकती। किन्तु यदि हिन्दी को चलाना ही है तो कम-से-कम समस्त पारिभाषिक शब्दावली तो अंग्रेज़ी की ज्यों-की-त्यों ले ही लेनी चाहिए। इस शब्दावली को अंग्रेज़ी-शब्दावली न कहकर अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली नाम दे दिया गया है। इस बात का भी इधर प्रयत्न हो रहा है कि माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में अंग्रेज़ी को फिर से लौटाया जाय।

इस प्रकार हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, इस सम्बन्ध में चार भिन्न विचार-धाराएँ अपने देश में चल रही हैं, जिन्हें संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि—(१) हिन्दी का भावी रूप भारत की समस्त भाषाओं की खिचड़ी से बनना चाहिए, (२) हिन्दी को उर्दू के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकट लाने के लिए इसे हिन्दुस्तानी बनाना चाहिए, (३) हिन्दी संस्कृत-गर्भित होनी चाहिए और (४) हिन्दी भाषा और अंग्रेजी शब्दावली के मिश्रण से 'हिन्दुस्तानी' के वजन पर हिन्दी का नया रूप इंगलिस्तानी बनना चाहिए।

वास्तव में जो समझने की बात है वह यह नहीं है कि हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, बल्कि क्या होने की सम्भावना है? संसार में हजारों भाषाएँ हैं और उनका हजारों वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। भाषाओं के इन इतिहासों की जानकारी के आधार पर भाषा-विज्ञान के पण्डित वर्तमान भाषाओं के भविष्य के सम्बन्ध में लगभग निश्चय के साथ वैज्ञानिक परिणामों पर पहुँच सकते हैं।

इस सम्बन्ध में पहली बात जो समझने की है वह यह है कि यद्यपि भाषा निरन्तर परिवर्तन शील है किन्तु इसमें परिवर्तन यकायक नहीं होते हैं, और न कृत्रिम ढंग से सहसा किए जा सकते हैं। भाषा-विज्ञान का यह चिर-परिचित नियम हिन्दी-भाषा पर भी लागू होगा। उदाहरण के लिए खड़ी बोली हिन्दी की साहित्यिक शैली, जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से विकसित हुई, गत ७०-८० वर्षों में ही काफी प्रौढ़ हो गई है और भविष्य में यह प्रौढ़ता आगे बढ़ेगी, यह निश्चित है। किन्तु विकास की यह प्रक्रिया स्वाभाविक ढंग से धीरे-धीरे हुई है और भविष्य में भी ऐसे ही होगी। भाषा-शैली के रूप के सम्बन्ध में हम कानून बनाकर उसमें सहसा उलट-पलट नहीं कर सकते। यदि हम चाहें कि हमारा १० वर्ष का बच्चा ६ महीने में ही १६ वर्ष का बड़ा लड़का हो जाय तो यह हमारे बस की बात नहीं है। अधिक-से-अधिक हम उसके स्वाभाविक बढ़ने में कुछ साधक अथवा बाधक हो सकते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि हिन्दी की वर्तमान शैली को आमूल रूप से परिवर्तित किया जाना संभव नहीं है। हाँ, उसे प्रौढ़ और विकसित करने में सहायता पहुँचाई जा सकती है।

दूसरी बात जो समझने की है वह यह है कि भाषा में विकास आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। मध्यकाल तथा अंग्रेजी शासन-काल में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का प्रयोग ललित साहित्य की रचना के लिए तो हुआ, किन्तु शासन अथवा ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकताओं के लिए उनकी उपेक्षा की गई। सुलतानों तथा मुगलों के शासन-काल में राज-भाषा फारसी थी ज्ञान-विज्ञान की विशेष चर्चा हमें मध्यकाल के भारत में दिखलाई ही नहीं पड़ती। अंग्रेजी शासन-काल में राज-भाषा अंग्रेजी हो गई और ज्ञान-विज्ञान तथा शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी ही थी। अतः इस काल में भी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को इन क्षेत्रों में विकसित होने का अवसर नहीं मिला। भविष्य में हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं को शासन, ज्ञान-विज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्रों में जितना शीघ्र और अधिक अवसर दिया जायगा उतनी ही तीव्र गति से ये भाषाएँ अपना स्वरूप स्थिर कर सकेंगी। इन क्षेत्रों के लिए भारतीय भाषाओं के प्रति सच्चे अनुराग और विश्वास की आवश्यकता है जो भारतीय भाषाओं की शिक्षा के अभाव के कारण हम अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों में साधारणतया पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता।

यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा को सम्पन्न करने का कोई राज-मार्ग नहीं है। जिस क्षेत्र के लिए उसे सम्पन्न करना है उस क्षेत्र में उसका निरन्तर प्रयोग करना ही उसका एक-मात्र साधन है। फलस्वरूप हम अंग्रेजी का सहारा शासन तथा शिक्षा के क्षेत्रों में जितने दिन अधिक लेते रहेंगे उतना ही अधिक समय हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के पुष्ट होने में लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ सम्पन्न हो जायँ तब अंग्रेजी हटाई जाय—यह तर्क वैज्ञानिक नहीं है। हमें हिन्दी का प्रयोग उन क्षेत्रों में तेजी से बढ़ाना होगा और स्तर गिरने की आशंका रहते हुए भी अंग्रेजी को अधिकाधिक स्थान-च्युत करना होगा। शासन तथा शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हिन्दी का शीघ्र और समुचित विकास इसी प्रकार हो सकेगा।

तीसरी बात जो समझने की है वह यह है कि भाषाएँ शब्दों के कृत्रिम ढंग से गढ़ने के द्वारा सम्पन्न नहीं की जा सकतीं। इधर कुछ वर्षों से हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का कार्य अनेक संस्थाओं के द्वारा किया जा रहा है। ऐसा समझा जाता है कि क्योंकि हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली की कमी है, अतः पहले बैठकर शब्द गढ़ लिए जायँ और तब इन विषयों के साहित्य का निर्माण किया जाय। वास्तव में ठीक शब्द की कसौटी उसके सफल प्रयोग में होती है और भाव को प्रकट करने के प्रयत्न में ही ठीक शब्द सूझ पड़ता है। अतः साहित्य-निर्माण के फलस्वरूप शब्द-निर्माण होता है; शब्द-निर्माण के उपरान्त साहित्य-निर्माण नहीं होता। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के बाद हमें एक बार फिर ज्ञान-विज्ञान के साहित्य-निर्माण के समय इन शब्दों की परीक्षा करनी पड़ेगी और इन कृत्रिम कोषों के शब्दों को बदलना पड़ेगा अथवा इनमें आमूल परिवर्तन करने होंगे। शब्दों का स्तर हमारे लेखकों और विद्वानों तथा पाठकों और विद्यार्थियों के अनुरूप ही हो सकता है। परिवर्तन-काल में इन पारिभाषिक शब्दों तथा उपयोगी साहित्य के सम्बन्ध में एक नीति बरतनी पड़ेगी तथा उसके उपरान्त कदाचित् नीति में परिवर्तन करना पड़ेगा। अतः पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में सम्भावना यह है कि इसमें दो बार परिवर्तन होगा। वर्तमान समय में अंग्रेजी शब्दावली का सहारा हमें अधिक लेना होगा, किन्तु नई पीढ़ियों के साथ यह प्रभाव कम होता जायगा। जैसे-जैसे हमारी शिक्षा का वातावरण सच्चे अर्थ में भारतीय बनता जायगा वैसे-वैसे हमारी भाषाओं के वातावरण में भी भारतीयता बढ़ती जायगी। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को स्वाभाविक स्थिति तक पहुँचाने में हमें कम-से-कम ५० से १०० वर्ष तक लग सकते हैं। लेकिन इस बीच हमें काम तो चलाना ही है और अपनी भाषाओं को आगे भी बढ़ाना है। भाषा का प्रवाह एक दिन को भी रोका नहीं जा सकता।

अतः संक्षेप में हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में सम्भावनाओं का वैज्ञानिक निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है, (१) हिन्दी भाषा का भावी शैली में कोई आमूल कृत्रिम परिवर्तन सम्भव नहीं है। इस प्रकार के प्रयास शैली को पथ-भ्रष्ट ही करेंगे, उसकी वास्तविक सहायता नहीं कर सकते। (२) हिन्दी के भावी रूप का निर्माण उसके भिन्न क्षेत्रों में अधिकाधिक प्रयोग पर निर्भर है। इन प्रयोगों के अवसरों को हम जितना अधिक बढ़ायँगे उतनी ही शीघ्रता से हिन्दी भाषा और साहित्य के अधिक पुष्ट होने की सम्भावना है। (३) हिन्दी के भावी रूप का निर्माण हिन्दी में ललित साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान के विषयों का लेखक करेगा—न प्रचारक कर सकते हैं, और न कोष-निर्माता। अतः जैसे-जैसे साहित्य के सृजन और उपयोग के लिए हम अधिक अवसर देंगे और इसके लिए साधन जुटा सकेंगे वैसे-ही-वैसे यह कार्य सुकर होता जायगा।

हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में मतभेद तथा तर्क-वितर्क चलते ही रहेंगे, किन्तु उसका स्थायी निर्माण एक-एक ईंट रखकर हिन्दी के भिन्न-भिन्न विषयों के लेखक चुपचाप कर रहे हैं। दीवारें कुछ उठ जाने पर सर्वसाधारण को भी दिखलाई पड़ने लगेगा कि भवन विशाल और भव्य बन रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी अर्थात् पछाहीं खड़ी बोली हिन्दी इस समय एक अनपेक्षित अवस्था में आ पहुँची है। सौ बरस पहले खड़ी बोली हिन्दी एक अनादृत और उपेक्षित भाषा थी। इसमें साहित्य-सर्जना उस समय केवल अर्धशताब्दी व्यापी ही थी, पर इसके पीछे, इसकी पटभूमिका या आधार-स्वरूप उत्तर भारत की विभिन्न प्रान्तिक बोलियों में लिखा हुआ साहित्य समग्र रूप से विद्यमान था। खड़ी बोली हिन्दी का मुसलमानी रूप उर्दू ही का, बोलबाला था·····जिन प्रान्तों को लेकर आधुनिक 'हिन्दी-संसार' बना है, उनमें विद्यालयों में·····अँग्रेजी सिखाने के लिए प्रतिष्ठित हाई स्कूलों में भी,·····छात्र लोग, क्या हिन्दू क्या मुसलमान, ज़्यादातर उर्दू ही सीखते थे। अब यह परिस्थिति बिलकुल बदल गई है। हिन्दी अर्थात् नागरी लिपि में लिखित शुद्ध संस्कृत-शैली की हिन्दी, कम-से-कम वैधानिक रूप में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य भारत, हिमाचल प्रदेश तथा आंशिक रूप से पूर्वी पंजाब की प्रान्तिक भाषा मानी गई और उपरन्तु हिन्दी को अखिल भारतीय सरकारी भाषा की मर्यादा भी मिली है। हिन्दी अपने घर पछाँह के भूभाग में अब रानी बनी है, पड़ोस के कुछ प्रान्तों में भी इसका राज फैला है, बिहार, मध्य भारत, मध्य-प्रदेश, राजस्थान, उत्तराखण्ड, हिमाचल प्रदेश, पूर्वी पंजाब, इस स्थानों के निवासियों ने हिन्दी को शिक्षा, साहित्य तथा बाहरी जीवन की यथासम्भव एक-मात्र भाषा ही बना लिया है; और यों ये सब स्थान या प्रान्त एक विशाल 'हिन्दी-संसार' के अन्तर्मुक्त हो गए हैं। भीतर के एक छोटे वृत्त के चारों तरफ एक बृहत्तर वृत्त अब सुप्रतिष्ठित हो गया है। भीतरी और बाहरी इन दोनों वृत्तों के अलावा और दो बृहत्तर वृत्त आकर, अब हिन्दी के क्षेत्र को और भी व्यापक, और भी बृहत् बना दिया है। हिन्दी-संसार को घिरकर भारत का आर्यभाषी संसार भी है, जिसने और उसे घिरकर, तमाम आर्य संसार के बाहर, जो द्राविड़ निषाद किरात संसार है उसने भी, अब हिन्दी को भारतीय राष्ट्रभाषा के तौर पर मान लिया है। अब इन कारणों से हिन्दी की परिस्थिति विशेष रूप से व्यापक और साथ-ही-साथ जटिल हो गई है। इस व्यापकता और जटिलता के साथ हिन्दी के भावी रूप का एक गहरा सम्बन्ध है। हिन्दी आज चतुर्मुख रूप में दिखाई देती है। (१) जिनकी मातृभाषा या घरेलू भाषा खड़ी बोली हिन्दी ही है, ऐसे लोग संख्या में बहुत ही कम होंगे,·····उर्दू बोलने वालों को लेकर इनकी संख्या डेढ़ या दो करोड़ से अधिक नहीं होगी, पर पछाँही हिन्दी बोलियाँ जैसे ब्रज भाषा, कन्नौजी, बुन्देली, बाँगरू या जाटू और मेरठ रुहेलखण्ड और 'पूर्वी पंजाब' की ठेठ पछाँही हिन्दी ये खड़ी बोली से इतना निकट सम्बन्ध रखती हैं, कि इनके बोलने वालों को हम खड़ी बोली हिन्दी जिनकी मातृभाषा है उनमें गिन सकते हैं और इस हिसाब से लगभग पाँच करोड़ मनुष्यों को हम हिन्दी-संसार के पछाँही हिन्दी घराने बोल सकते हैं। इनके लिए हिन्दी का एक खास रूप है, ये हिन्दी को विरासत या पितृ-पितामहों से प्राप्त रिक्थ की तौर पर प्राप्त भाषा-सी बोलते हैं। (The well of Hindi undefited) इन ही की मौखिक भाषा में विद्यमान है, इनके मौखिक भाषा के आधार पर हिन्दी का व्याकरण और प्रयोग, शब्द और वाक्यरीति ये सब बने हैं। हिन्दी यदि केवल इनमें सीमित रहती, तो इसके भावी रूप पर विचार करने की कोई खास जरूरत नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती। (२) बाहरी वृत्ति के 'हिन्दी संसार' वाले, घर में राजस्थानी और मालवी बोलियाँ, पंजाबी, गढ़वाली, कुमाऊँनी तथा अन्य पहाड़ी बोलियाँ, कोसली बोलियाँ यानी अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि दूसरी भाषाएँ बोल लेते हैं। इनके बारे में इतनी दिक्कत खड़ी बोली हिन्दी के लिए नहीं है·····वे तो खड़ी बोली हिन्दी जैसी पछाँहें में चालू है उसे मान चुके हैं,·····सीखकर उसके प्रयोग में इनकी ओर से जो भूलें भ्रान्ति, जो प्रादेशिकपन अनिवार्य होंगे, उनका असर कुछ-न-कुछ खड़ी बोली हिन्दी पर पड़ेगा ही। पर उससे हिन्दी पर कुछ आशंकाजनक खतरा नहीं पहुँचेगा, शुद्ध हिन्दी ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। पर परोक्ष भाव से इन प्रान्तिक बोलियों का प्रभाव कुछ-न-कुछ हिन्दी पर पड़ेगा। जैसा इस युग के पूर्व हुआ भी है। अब राष्ट्रभाषा बनने के कारण हिन्दी, केवल हिन्दी-संसार में सीमित नहीं रहकर, दूसरी आर्य भाषाओं के बोलने वालों के, तथा द्रविड़ादि अनार्य भाषियों के भी प्रभाव में आने वाली है। आधुनिक जगत् की शिक्षा और संस्कृति में राष्ट्रनैतिक तथा अर्थनैतिक प्रगति में अंश ग्रहण कर, पृथिवी की अन्यतम श्रेष्ठ और संस्कृतिवाही भाषा बनने का दायित्व हिन्दी पर आज आ गया है। इसलिए हिन्दी का, न केवल शब्द-सम्भार बढ़ाना होगा·····यह तो स्वीकृत हो गया है कि यथासम्भव संस्कृत से ही इसे शब्द-सम्भार लाना चाहिए, ताकि हिन्दी अखिल भारत की जनता द्वारा ग्रहण योग्य हो, उपरन्तु हिन्दी की वाक्य-रीति और भाव-प्रकाश-भंगी को और भी मार्जित, परिष्कृत और सुविचारानुसारी होना पड़ेगा। भावी काल की हिन्दी को, इन सब विषयों में, अब की हिन्दी से, कुछ-न-कुछ परिवर्तित होना ही होगा। बंगाली, असमिया लोग, उड़िया लोग, आन्ध्र, कनडिग, तमिल, मलयाली, मराठे, गुजराती, नेपाली, ये सब मैथिल मगहिया, भोजपुरिया, गढ़वाली, कुमाऊँनी, पंजाबी, सिरमौरी, कुलूई, सिन्धी, काश्मीरी जैसे-वैसे हिन्दी सीखेंगे, हिन्दी बोलेंगे और हिन्दी में लिखेंगे। चाहे जितना ही सावधान होकर इनमें से श्रेष्ठ हिन्दी दाँ हिन्दी का प्रयोग करें। इनकी मातृभाषाओं की उच्चारण रीति और स्वर-भंगी, इनकी शब्दावली, इनकी वाक्य-रीति भावी, कालीन अखिल भारतीय हिन्दी में कुछ-न-कुछ आवेंगे। उच्चारण के सम्बन्ध में तो हम देखते हैं हमारे सामने दो पीढ़ियों में हिन्दी पर कितना संस्कृत, पंजाबी तथा राजस्थानी और गुजराती प्रभाव पड़ा है। शब्दों के आदि में अन्तःस्थ 'व-कार' का बहुशः प्रयोग 'त्व' के 'छ' या 'च्छ' उच्चारणों को छोड़कर 'क्ष' उच्चारण की प्रतिष्ठा, 'ण' के सम्बन्ध में सावधानता तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' के पुरानी हिन्दी उच्चारण यथाक्रम 'स' और 'ख' का त्याग और उनके स्थान उर्दू 'शीन' और अंग्रेज़ी Sh की-सी एकमात्र ध्वनि का प्रयोग·····हिन्दी में ये सब हाल की बात है। शब्दों के बीच में और अन्त में ह्रस्व अकार का लोप, हिन्दी की एक रीति है, पर द्राविड़ भाषियों को, महाराष्ट्रियों को, बंगला उड़िया असमिया बोलने वालों को यह रीति निहायत श्रुतिकटु लगती है, 'कमला, विमला, भारतीय' ऐसे शब्दों को, तीन या चार अक्षरों के शब्दों की तौर पर नहीं उच्चारण करे : जैसे 'क-म-ला, वि-म-ला, भा-र-ती-य' : कमला, विमला, भारतीय ऐसा उच्चारण किया जाता है। शुद्ध या ठेठ हिन्दी शब्द और रूपों में ऐसा करने में कोई बाधा या आपत्ति उठ नहीं सकती··· जैसी 'करता, चलता, विनती, धरती, उलटा, झगड़ा' आदि शब्दों में, इन ठेठ हिन्दी-शब्दों का उच्चारण ज्यों-का-त्यों चालू रहेगा, पर मेरे विचार में, निखिल भारत की सब भाषाओं में प्रयुक्त शुद्ध संस्कृत शब्दों में, ताकि हिन्दी का उच्चारण समग्र भारत के शिष्ट-समाज का अनु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोदित हो, संस्कृत के अनुसारी उच्चारण हिन्दी के भावी रूप में आ जायगा। इस समय हम सुन पाते हैं, पंजाब और हिन्दी-संसार के बाहर के लोग 'लोक-सभा' नहीं बोलते, ज्यादातर 'लो-क-स-भा' ही बोलते हैं। 'अमला, जनता, परमात्मा' इत्यादि शब्दों के चालू उच्चारण द्वारा विभ्रान्त होकर हिन्दी के कुछ छात्र ऐसे शब्दों का हिज्जे या वर्ण-विन्यास यों लिख बैठते हैं··· 'अम्ला, जन्ता, प्रमात्मा'। यह सर्वथा अवांछनीय है। शब्दों के विषय में, भावी काल की हिन्दी-संस्कृतनिष्ठ रहते हुए भी पछाँह की भाषा में आगत बहुतेरे अरबी और फारसी शब्दों को हिन्दी के टकसाली शब्दों की तौर पर रखेगी···इन्हें कुल्लमकुल भाषा से बहिष्कार करने की प्रवृत्ति जो आजकल कुछ लेखक या भाषा-सुधारकों की ओर से दिखाई देती है उसे थोड़ा-सा रोकना पड़ेगा। अंग्रेजी शब्द, स्वाधीन भारत की औद्योगिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के कारण, भावी हिन्दी में और भी अधिकतया गृहीत होंगे, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है, शब्दों के बारे में छूत-अछूत मानने वालों की राय चाहे न हो, चाहे जो हो। ऐसे द्रविड़, कोल और किरात शब्द भी कुछ आवेंगे।·····तैलुगु, कन्नड़, तमिल, मालयाली, संथाली, खासी, मणिपुरी, नेवारी, बोडो आदि भाषाओं से। हिन्दी का चालू व्याकरण कहाँ तक परिवर्तित होकर भविष्य की हिन्दी बनेगी, यह विचारणीय है। मेरे विचार में, दो प्रकार की हिन्दी का रू-ब-रू कायम हो जाना असम्भव बात नहीं है, एक शुद्ध व्याकरणानुसारी हिन्दी, जैसे अब चालू है, जो पछाँह की और सम्भवता अब के हिन्दी-संसार की (Regional) या प्रान्तिक भाषा बनकर ठहरेगी, और दो·····लघु हिन्दी, जिसमें से लिंग-भेद, क्रिया के कर्मणि प्रयोग और वचन और नाम-शब्दों के पर सर्गग्राही रूप आदि निकाल दिए जायँगे, ऐसी लघुशैली की हिन्दी, कम-से-कम 'मौखिक बोली' के रूप में, भारत की एक मामूली राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त करेगी। पर यह बात विवादग्रस्त है। लिपि के बारे में, मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमारे अपने सुभीते के लिए अन्त में हमें नागरी के साथ रोमन लिपि को भी भविष्य की राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए मान लेना पड़ेगा, पर समयाभाव-वशतः इस पर कुछ विचार करना अब सम्भव पर नहीं है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी के भावी रूप पर विचार करते समय इतिहास कल्पना की आँखों के सामने आगे बढ़ने लगता है। वर्तमान के गर्द-गुबार से भरे अपने संघर्षशील कदम मिलाती हुई देश की चेतना सामूहिक विकास के पथ पर अग्रसर होती हुई-सी प्रतीत होती है। पीछे की ओर देखने पर सदियों की पराधीनता एवं मध्ययुगीन ह्रास के विवाद से मुक्त होकर नवीन राष्ट्र का जीवन, कुहासों से निखरते हुए प्रभात की तरह, चुपचाप दृष्टि को आकर्षित कर लेता है और आज की जटिल परिस्थितियों एवं भयानक वास्तविकताओं का जगत् भविष्य की अनेक सुनहली सम्भावनाओं से खुलकर सहसा मन के सम्मुख उद्भासित हो उठता है।

राष्ट्रभाषा के निर्माण के लिए आज हमारे चारों ओर जहाँ प्रचुर प्रशस्त सामग्री बिखरी पड़ी है वहाँ उसके पथ में अनेक विघ्न-बाधाएँ भी खड़ी हैं। पहले मैं उन अभावों अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाधाओं की चर्चा करूँगा जिनसे आज हिन्दी को संघर्ष करके शक्ति-संचय करनी है। वे बाधाएँ एक प्रकार से बाधाएँ नहीं, किन्तु अपने देश की विगत ऐतिहासिक तथा वर्तमान सामाजिक एवं मानसिक स्थिति के कारण वे हमें, आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की उतावली में, संकट की स्थितियों-सी प्रतीत होती हैं। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर वे समस्त संकट एवं अभाव राष्ट्रभाषा को दैन्य मुक्त करने के लिए खाद अथवा पोषक तत्त्वों की तरह काम में लाए जा सकते हैं।

सबसे मुख्य, अतः जानने योग्य बात जिसे बाधा भी कहा जा सकता है···हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध में यह है कि उनमें संसार के पिछले दो-ढाई सौ वर्षों के जीवन के विराट् क्रिया-कलापों एवं विचार-धाराओं को नहीं के बराबर वाणी मिली है। और ये दोनों ढाई सौ वर्ष विश्व-सभ्यता के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए हैं, जिनमें मानव-सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास बहुत आगे ही नहीं बढ़ गया है, उसमें अनेक मौलिक परिवर्तन तथा जीवन-मान्यताओं की दृष्टि से छोटी-बड़ी क्रान्तियाँ भी घटित हो चुकी हैं। यह लम्बा युग वैज्ञानिक तथा औद्योगिक युग के नाम से पुकारा जाता है। जिसका रंगमंच विशेषतः पश्चिम अथवा यूरोप में रहा है। समस्त एशिया तो तब हारे-थके साँड की तरह रोमन्थ अथवा पिष्टपेषण कर ही रहा था, हमारा देश भी तब दासता के बन्धनों में जकड़ा हुआ अपने महान् सांस्कृतिक ह्रास के अन्धकार में भटक रहा था और यहाँ जो जागरण की प्रेरणा आई वह एक विदेशी सभ्यता के सम्पर्क तथा विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा आई है। इस प्रकार दो-ढाई सदियों का विश्व जीवन एवं मानस-संचय हमारी भाषाओं में यदि थोड़े-बहुत अभावों में अभिव्यक्त हुआ भी है तो वह बासी-निवासी छाया के रूप में छनकर। जिसके कारण हम अपनी भाषाओं को अत्यन्त निर्धन तथा परिक्षीण पाते हैं। अपने इन सब सालों की सज-धज को लेकर भी वे आज पश्चिमी भाषाओं की तुलना में, कटाक्ष-कौशल-शून्य, भोली-भाली और सम्भवतः भौंडी, गाँव वालियाँ-सी प्रतीत होती हैं। यह ऐतिहासिक संयोग भाषा ही की दृष्टि से नहीं, भौतिक सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक बड़े भारी हीन-भाव तथा कुण्ठा के रूप में हमारे मन में जम गया है और इन पराधीनता की सदियों में उसके मूल हमारे भीतर इतने गहरे बैठ गए हैं कि आज स्वाधीनता मिलने पर भी हम उन्हें उखाड़कर बाहर फेंकना तो दूर रहा···हिलाने में भी समर्थ नहीं हो सके हैं। अन्यथा अपने राष्ट्र-गौरव, स्वाभिमान एवं जन-ऐक्य की कल्पना के विरुद्ध हम एक विदेशी भाषाओं को अपनी राष्ट्रीय एकता का मिलन-तीर्थ बनाए रहते, यह किसी दृष्टि से भी सम्भव नहीं होना चाहिए था।

अतएव राष्ट्रभाषा के पथ में सबसे बड़ी बाधा, मेरी समझ में, हमारी हीन भावना है, जिसके कारण हम अपनी भाषाओं को नहीं अपना पा रहे हैं। अंग्रेजी को तुरन्त हटाने में जितनी भी बड़ी व्यावहारिक कठिनाई हमारे सामने हों, हिन्दी के लिए मनसा स्थान बनाने में आज उससे भी बड़ी कठिनाई हमें प्रतीत हो रही है और हमारी यह आत्म-पराजय तथा कुण्ठित अनिच्छा अनेक वितण्डावादों का प्रतारक रूप धारण कर रही है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भाषा का सम्बन्ध केवल सम्पन्न अभिधान, शब्द-संग्रह अथवा अभिव्यक्ति की क्षमता से ही नहीं होता, उसका उससे भी कहीं गहरा सम्बन्ध हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं, हमारे जीवन-दर्शन तथा जातीय विकास के इतिहास से होता है और समुद्र पार से उधार ली हुई एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशी भाषा को आकाश-लता की तरह उपरेक ओढ़ लेने से हम अपनी जन-संकुल एवं मानस-उर्वर-भूमि की मौलिक, प्राणप्रद तथा प्रेरणाप्रद समस्त शक्तियों का विकास रोके हुए हैं।

इस दैन्य तथा कुण्ठा से शीघ्र ही मुक्त होकर हमें अपने विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी को और भी महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए और उच्च कक्षाओं में अंग्रेजी पढ़ाने के लिए अंग्रेज शिक्षकों को नियुक्त करना चाहिए, जिससे हमारे देश में अंग्रेजी का स्तर नीचे न गिरने पाए, और एक ऐसे बहुविधि-सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम के समुचित उपयोग से हमें वंचित न रहना पड़े। वैज्ञानिक शब्दों को अंग्रेजी से ज्यों-का-त्यों हिन्दी में लेने के बदले उनका बहुत हद तक हिन्दीकरण करना अधिक संगत होगा और यह हिन्दीकरण विशेषतः ध्वनि-संगीत की दृष्टि से करना उचित होगा। क्योंकि हर पाँच-दस साल के बाद हजारों नये वैज्ञानिक शब्द पैदा होते रहेंगे और पुराने शब्द बासी पड़ जायँगे। इस प्रकार इतने विदेशी शब्दों को आत्मसात् करने का साहस करना किसी भी भाषा के लिए असम्भव एवं गाल फुलाना-मात्र होगा। इस समय पारिभाषिक शब्दों के हिन्दीकरण के सम्बन्ध में कुछ मौलिक लचीले नियमों को निर्धारित कर लेने के बाद हमारी समस्त साहित्यिक संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, राज्यों, तथा केन्द्रीय शासन को नवीन शब्दों को गढ़ने के प्रारम्भिक प्रयोग उत्साह तथा लगन के साथ करने चाहिएँ। पीछे उन शब्दों को भाषा-निर्माण की सृजनात्मक कसौटी में कसकर उनका समुचित रूप निश्चित किया जा सकेगा, एवं उनकी कृत्रिमता तथा अपरिपक्वता दूर हो सकेगी। शासन तथा शिक्षा-क्षेत्र में हिन्दी को अधिक-से-अधिक अवसर देकर उसका निर्माण करना हिन्दी-प्रान्तों का विशेष उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य है जिसके व्यावहारिक क्रिया-कलापों के क्षेत्र में भी हिन्दी की पैठ तथा प्रयोग हो सके। इन प्रयोगों का तात्कालिक अथवा प्रारम्भिक रूप जो भी हो····उसमें भले ही ५० प्रतिशत अंग्रेजी या इतर भाषाओं के शब्द क्यों न हों, इससे हमें विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि जब तक सभी क्षेत्रों में हिन्दी के लिए प्रयोग के द्वार नहीं खुल जायँगे वह शिल्प-विधान की दृष्टि से नहीं पनप पायगी और न विचारों की दृष्टि से ही लोक-मानस में प्रवेश कर घर कर सकेगी।

वैज्ञानिक युग का अभी समारम्भ-भर हुआ है। सच्ची वैज्ञानिक चेतना आज के अधकचरे बाहरी वैज्ञानिक प्रयोगों से अभी बहुत दूर है। हिन्दी को विदेशी भाषाओं के समकक्ष लाने के लिए समस्त वैज्ञानिक शब्दावली को आत्मसात् करना उसके लिए उतना आवश्यक नहीं जितना कि उसके लिए वैज्ञानिक चेतना के भावी विकास में सहायक होना है। आज तक की ऐतिहासिक शक्तियों के वितरण को देखते हुए यह विकास केवल पूर्व और पश्चिम के सामंजस्य से ही सम्भव हो सकता है। जिस महती भूमि पर आगे मानवता पदार्पण करने जा रही है यदि उस जीवन को हिन्दी वाणी दे सकी तो पिछली दो-तीन सदियों की तर्क-बुद्धि की चमक तथा धर्मवैज्ञानिक की तड़क-भड़क से वंचित होकर भी वह भविष्य में विश्व-भाषाओं के वृत्त में अपने को संकीर्ण परिधि अथवा केन्द्रशून्य नहीं पायगी। जिन भाषाओं की वीणा में भविष्य की मानवता के विकास योग्य प्रेरणा-शक्ति तथा चैतन्य होगा वही भाषाएँ भविष्य की भाषाएँ होंगी और हमारी विश्व की कल्पना भी भाषाओं तथा संस्कृतियों के वैचित्र्य से विलीन नहीं रहेगी।

इस हीन भावना के दुर्लंघ्य विघ्न को लाँघ जाने के बाद हिन्दी के सामने जो छोटी-मो उलझनें रह जाती हैं, उन्हें बाधाएँ नहीं कहा जा सकता। इनमें पहली उलझन है हम प्रादेशिक भाषाओं-सम्बन्धी, जिसे हम भाषा-साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता-सम्बन्धी अस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वग्रह भी कह सकते हैं। यह उलझन, अपनी राष्ट्रीय एकता की अनिवार्य आवश्यकता सामने रखते हुए, केवल हमारी मध्ययुगीन पार्थक्यवादिता अथवा पृथक् रहने की प्रवृत्ति ही कहलाई जा सकती है, जिसे मिटाने के लिए हमें समय, धैर्य, सद्भाव तथा पारस्परिक विश्वास की आवश्यकता है। जैसे-जैसे हमारे ह्रास-युग के संस्कार छूटते जायँगे और उनके स्थान पर राष्ट्रीय उत्तरदायित्व एवं सामूहिक संगठित शक्ति की भावना हमारे भीतर बढ़ती जायगी उपर्युक्त भेद-जनित पूर्वग्रह भी अपने-आप कोमल पड़कर विलीन होते जायँगे। आज की परिस्थिति में हम बाहर से प्रचार करके तथा ऊपर से हिन्दी को लादकर अपने देश के मध्यकालीन मानस-स्तर पर दबाव नहीं डाल सकते। बाह्य बल पर आश्रित हमारे सब प्रयत्न निष्फल होने के साथ ही हमारे प्रान्तीय पूर्वग्रहों को और भी कटु एवं कठोर बना देंगे। अतः भाषा-सम्बन्धी अन्तरप्रादेशिक समस्या का हल केवल परस्पर के सद्भाव, विश्वास, सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा राष्ट्रीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास पर ही निर्भर है। जिसके लिए हमें सृजनात्मक तथा निर्माणात्मक प्रयत्नों की आवश्यकता है जो हमारे पुरातन मानस के नवीन राष्ट्रीय इकाई में ढलने का इतिहास होगा, जो पुनः काल-अपेक्षित, धैर्य अपेक्षित और सर्वोपरि सत्प्रयत्न अपेक्षित है।

दूसरी छोटी-सी उलझन हिन्दी-उर्दू की है; जिसका क्षेत्र सीमित है और जो मुख्यतः उत्तर प्रदेश की समस्या है। जो हिन्दी उर्दू वालों के पूर्वग्रहों के कारण और भी उलझ गई है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई हिन्दी अधिक-से-अधिक उर्दू के शब्दों का ग्रहण कर सकेगी। उन दोनों के बोल-चाल के स्तर में तो समानता है ही, गद्य तथा पद्य बराबर साहित्य के स्तर पर भी दोनों का सम्मिश्रण न्यूनाधिक मात्रा में परस्पर होता जा रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से, पिछली समस्त संस्कृतियों का नवीन मानवता के धरातल पर आरोहण करना है, जो मध्ययुगीन हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के लिए भी लागू है। लिपि की दृष्टि से उत्तर प्रदेश में राज-कार्य के लिए प्रारम्भ में नागरी के साथ आवश्यकतानुसार उर्दू या अरबी लिपि का भी प्रयोग किया जा सकता है और इसी प्रकार केन्द्र में रोमन लिपि को भी स्थान दिया जा सकता है। छापे की सुविधा के अनुरूप तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं की ध्वनियों की दृष्टि से भी नागरी लिपि में थोड़े-बहुत परिवर्तन किये जा सकते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी प्रादेशिक भाषाओं के लिंग, मुहावरों एवं वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी विचित्रताओं का समावेश हिन्दी में किया जा सकता है। काल के प्रवाह में घुल-मिलकर आगे इनमें भाषा के नियमों के अनुसार स्वर-संगति बिठाई जा सकेगी। और 'लड़की जाता है' के स्थान पर लोग 'लड़की जाती है' कहना ही पसन्द करेंगे। तब क्रिया-पदों में रवीन्द्र की कोमलता एवं साहित्य का प्रभाव उनके कानों का नया अभ्यास बन जायगा और वह उनके लिए नवीन नन्दतिक उपलब्धि होगी।

अब मैं संक्षेप में उन उपकरणों तथा शक्तियों का भी दिग्दर्शन कराऊँगा जो हिन्दी के भावी प्रवाह में अनेक प्राणप्रद धाराओं की तरह सम्मिलित होकर उसमें गति, गाम्भीर्य, व्यापकता आदि भरेंगे। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि उत्तरा पथ की प्रायः सभी उन्नत भाषाएँ संस्कृत से शक्ति-संचय करती हैं और दक्षिण की भाषाओं में संस्कृत का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में होता है। संस्कृत की पृष्ठभूमि हमारी सभी भाषाओं को मिलाने के लिए एक सबल संयोग तथा स्थायी साधन और सम्पत्ति है। उत्तर प्रदेशीय दृष्टि से हिन्दी में छाया-वैचित्र्य करने के लिए हिन्दी की जनपदीय बोलियों से सहायता लेना भले ही ठीक हो किन्तु अन्तरप्रादेशिक दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग ही साम्य तथा व्यापकता लाने में इस समय सहायक होगा। और पचास, सौ या दो सौ साल के बाद जब चयन तथा संस्कार का युग आयगा तब भाषा विज्ञान, सारल्य, ध्वनि-संगीत आदि सभी दृष्टियों से भाषा को नवीन अभ्यासों एवं अभिरुचियों के अनुरूप सुधारा-सँवारा जा सकेगा। तब तक अन्य प्रान्तों की प्रतिभाएँ भी हिन्दी के माध्यम से सृजन करके उसे प्रादेशिक संस्कारों के रुधिर से उर्वर तथा सम्पन्न बनाने में सफल हो सकेंगी। आज के हिन्दी-अहिन्दी प्रान्तों की रुचियाँ युगवत् बदलकर एवं अधिकाधिक सार्वदेशिक होकर तब एक-दूसरे के सन्निकट आ जायँगी। वह चयन का युग नवीन प्रेरणाओं एवं नंदतिक बोधों से चालित होने के कारण राष्ट्रभाषा के वास्तविक रूप-निर्माण का युग होगा।

दूसरा शक्तिशाली प्रभाव जो हमारी भाषाओं में सामंजस्य स्थापित करके उनको राष्ट्रभाषा के रूप में समन्वित कर सकेगा वह है हमारे विभिन्न साहित्यों की सांस्कृतिक चेतना की एकता। हम अनेक भाषाओं के माध्यम से एक ही संस्कृति को वाणी दे रहे हैं, जिसका अर्थ है कि हमारे बीच किसी प्रकार का आन्तरिक व्यवधान नहीं है। शिल्प, रूप-विधान तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से भी हमारे प्रेरणा के स्रोत एक ही हैं। अतः आपने राष्ट्रीय अस्तित्व की चरितार्थता एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व के हेतु हमारे लिए अपनी अनेक सम्पन्न भाषाओं के साथ हिन्दी को एक सार्वजनिक भाषा के रूप में ग्रहण करना कठिन नहीं होगा। हिन्दी के भावी रूप को गढ़ना वास्तव में देश के बच्चों की भावी पीढ़ी को गढ़ना है, जिनकी कोई भाषा नहीं होती।

वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रभाषा का बलपूर्वक प्रचार करने के बदले हमें सत्संकल्पपूर्वक हिन्दी का निर्माण तथा संस्कार करना चाहिए। हमें सार्वभौम भाषा का संगठन करने के बदले सार्वभौम मानस का संगठन करना चाहिए। हमें अपने सांस्कृतिक संचय को साहित्यिक आदान-प्रदान द्वारा नये युग के अनुरूप ढालना चाहिए। अपने देश के विभिन्न वैयक्तिक, प्रादेशिक, नैतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक मतों वादों में व्यापक सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक-दूसरे का विरोधी न बनाकर पूरक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। राष्ट्रीय एकता की धारणा, अत्यन्त जटिल, सूक्ष्म तथा विविधता के वैचित्र्य से भरी-पूरी धारणा है। उसे यान्त्रिक न बनाकर हमें अधिक-से-अधिक व्यापक, नयनीय तथा स्वर-संगीतपूर्ण बनाने की आवश्यकता है। क्योंकि राष्ट्र-भाषा राष्ट्र-मानस भी है, जिसके लिए राष्ट्र जीवन का अन्तःसंगठन ही दूसर पर्याय है।

हमें एक राष्ट्रभाषा अवश्य चाहिए। वह हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक तथा भौतिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। एक भाषा···जिसमें करोड़ों कण्ठ धरती और आसमान कह सकें, असंख्य आँखें जिसके दर्पण में फूल का मुख, चाँदनी की स्वच्छता तथा ऊषाओं, सन्ध्याओं का सौन्दर्य पहचान सकें, सहस्रों हृदय जिसकी झंकारों से गीतों-छन्दों में मुखरित हो उठें और अनेकों मानस जिसका गम्भीर आह्वान तथा जाग्रत जीवन-सन्देश सुनकर आलोकित हो उठें।

हिन्दी का भावी रूप···वह केवल शब्द-शिल्प का ढेर, सुन्दर वाक्य-योजना तथा व्याकरण का सुगठित विधान ही नहीं है। वह हमारे राष्ट्रीय जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति, हमारी मानसिकता का विकसित व्यापक संतुलन, वर्तमान प्रान्तीय वर्गीय अभ्यासों तथा अभिरुचियों से ऊपर हमारी सामाजिक सामूहिक चेतना का मानवीय एकीकरण एवं संयोजन है। क्योंकि भाषा के साथ फूल-पत्तों, चाँद-सितारों के साथ ही हमारी परम्परागत मूल मर्यादाएँ, विकासशील चेतना की संभावनाएँ तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलता हुआ जीवन का ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टिकोण भी जुड़ा हुआ है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर चुकने के बाद उसे अपनाने एव उसका निर्माण करने के लिए हमें किसी प्रकार के आमूल परिवर्तन की आवश्यकता नहीं, केवल वर्तमान परिवेश में एक व्यापक सामंजस्य, एक वृहत्तर संयोजन पर स्थापित करने की आवश्यकता है।

आज की जटिल परिस्थितियों से निखरते हुए हमारे राष्ट्रीय जीवन-चेतना के साथ आज के मानसिक ऊहापोहों में उलझा हुआ हमारी राष्ट्रभाषा का भावी रूप भी अपने सम्पूर्ण अन्तर-चैतन्य तथा सर्वांगीण बाह्य वैभव के साथ प्रस्फुटित तथा विकसित हो सके···हमारे मानवीय विकास के लिए यह सामाजिक कामना आज की आवश्यकता की एक अनिवार्य कड़ी है।[1]

१. आकाश वाणी प्रयाग के सौजन्य से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

डॉ० रामकुमार वर्मा

दृश्य-काव्य में हास्य-तत्त्व

प्राचीन दृश्य-काव्य में हास्य का विधान दो रूपों में किया जाता था। एक तो विदूषक की उक्तियों में और दूसरे प्रहसन की परिस्थितियों में। इस प्रकार पात्रों की वार्ता और परिस्थितियाँ दोनों ही हास्य की अवतारणा करती थीं। नाटक में विदूषक नायक का सहचर था। जिन नाटकों में शृङ्गार रस प्रधान होता था उनमें विदूषक आवश्यक हो जाता था, क्योंकि आचार्य भरत ने 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' सूत्र में हास्य की उत्पत्ति शृङ्गार से ही मानी थी। धीरोदात्त नायक जब-जब प्रेम के झंझावात में तिनके की तरह अव्यवस्थित होता था तब-तब उसका मनोरंजन करने के लिए अथवा आशा देने के लिए विदूषक अपने हास्य का प्रयोग करता था। किन्तु हास्य केवल शृङ्गार से ही प्रेरणा नहीं पाता, जीवन की अनेक परिस्थितियों से बल ग्रहण करता है। अभिनव गुप्त ने हास्य का मूल अनौचित्य प्रवृत्ति में माना है। अनौचित्य प्रवृत्ति प्रत्येक रस के उद्दीपन या आलम्बन में हो सकती है अतः प्रत्येक रस में हास्य की सम्भावनाएँ हो सकती हैं। आज जब जीवन का मूल्यांकन रस-दृष्टि से न होकर केवल मनोविज्ञान के सिद्धान्त से हो रहा है तब तो हास्य का बीज पत्थर पर भी अंकुरित हो सकता है और यह बीज इतना विचित्र है कि इसमें अनेक रंगों के फूल एक साथ ही प्रस्फुटित हो सकते हैं।

आचार्य भरत ने हास्य के दो विभाग किये हैं, आत्मस्थ और परस्थ। जब पात्र स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ है जब दूसरे को हँसाता है तो परस्थ है। पंडितराज जगन्नाथ ने इसका विवेचन दूसरे ढंग से किया। हास्य के विभाव को देखने से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है और किसी अन्य को हँसता हुआ देखकर जो हास्य उत्पन्न होता है वह परस्थ है।

वस्तुतः अपने प्रभाव की दृष्टि से हास्य तीन प्रकार का माना गया, उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीन प्रकारों में प्रत्येक के दो भेद हैं। उत्तम के भेद हैं स्मित और हसित, मध्यम के भेद हैं विहसित और उपहसित तथा अधम प्रकार के भेद हैं अपहसित और अतिहसित। ये प्रत्येक भेद आत्मस्थ और परस्थ हो सकते हैं। इस प्रकार निम्न प्रकार से हँसने की क्रिया बारह तरह से हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

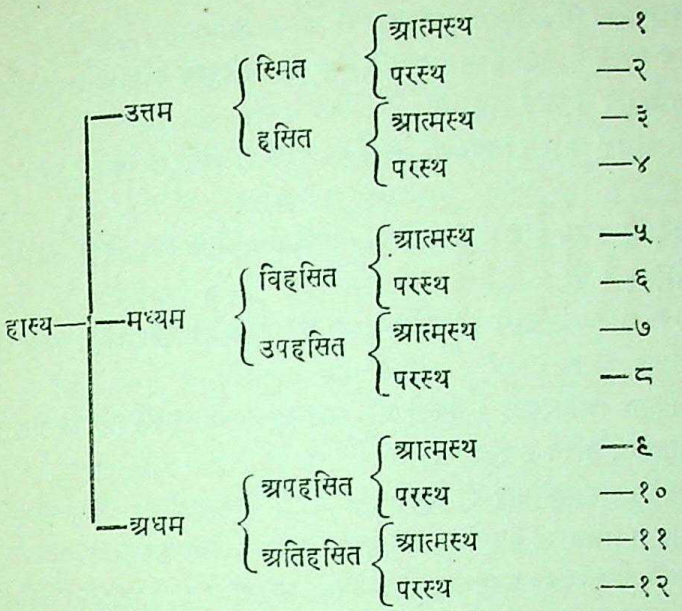

हास्य के जो छः विशिष्ट प्रकार हैं, उनकी विशेषता निम्नलिखित है—

(१) स्मित—शब्द रहित, मन्द मुस्कान

(२) हसित—मुस्कान के साथ दन्त-दर्शन

(३) विहसित—दन्त-दर्शन के साथ मधुर शब्द
(स्त्रियों के कण्ठ से 'ई' स्वर)
(पुरुषों के कण्ठ से 'आ' 'ऊ' या 'ओ' स्वर)

(४) उपहसित—मधुर शब्द के साथ शरीर-संचालन

(५) अपहसित—शरीर-संचालन के साथ हर्षाश्रु

(६) अतिहसित—हर्षाश्रु के साथ ताली और अट्टहास

हास्य के ये प्रकार हँसने के मनोभावों के विकास के आधार पर ही हैं। इस विकास में अनुभावों की रूपरेखा भी दृष्टि में रखी गई है। किन्तु जब हास्य के झोड़ में विनोद-मात्र न होकर कोई छल हो, प्रकट हो गई वस्तु को छिपाने का भाव हो अथवा ध्वनि-विकार से या श्लेष से अभिप्राय का रूपान्तर हो तो वह 'हास्य' रहते हुए भी एक नवीन कोटि की सृष्टि करेगा। हास्य के इस रूपान्तर को हमारे यहाँ के आचार्यों ने 'रस' के अन्तर्गत रखकर अलंकार के अन्तर्गत रखा है। यही कारण है कि हमारे अलंकार-ग्रन्थों में हास्य की इस कोटि को व्याजोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा और वक्रोक्ति आदि अलंकारों द्वारा व्यक्त किया गया है।

आचार्य मम्मट ने इन अलंकारों के लक्षण निम्न प्रकार से दिए हैं—

व्याजोक्ति— 'व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्न वस्तु रूप निगूहनम् ॥१०॥११८।
(प्रकट हुई वस्तु को छल से गोपन किया जाय।)

अप्रस्तुत प्रशंसा—अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥१०॥९८।
(प्रस्तुत के आश्रय से अप्रस्तुत का वर्णन)

वक्रोक्ति— यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लेषेणवाक्या वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥६॥७८।

(एक प्रकार से कहा हुआ वाक्य श्लेष अथवा ध्वनि-विकार से दूसरे प्रकार के अभिप्राय से जोड़ दिया जाय)

शब्द-शक्तियों में लक्षण और व्यंजना भी लक्ष्य या व्यंग्य (ध्वनि) से हास्य की उत्पत्ति कर सकती हैं।

पाश्चात्य साहित्य में हास्य (Humour) ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर अनेक रूप धारण किये हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं:—

(१) Satire (विकृति)—आक्रमण करने की दृष्टि से वस्तुस्थिति को विकृत करके उससे हास्य उत्पन्न करना।

(२) Caricature (विरूप अतिरंजना) किसी भी ज्ञात वस्तु या परिस्थिति को अनुपात-रहित बढ़ाकर या गिराकर हास्य उत्पन्न करना।

(३) Parody (परिहास) उदात्त मनोभाव को अनुदात्त संदर्भ से जोड़कर हास्य उत्पन्न करना।

(४) Irony (व्यंग्य) किसी वाक्य को कहकर उसका दूसरा ही अर्थ निकालना।

(५) Wit (वचन-वैदग्ध्य) विचारों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग। फ्रायड ने इसे दो प्रकार का माना है। सहज चमत्कार (Harmless wit), और प्रवृत्ति चमत्कार (Tendency wit)। सहज चमत्कार में केवल विनोद-मात्र रहता है किन्तु प्रवृत्ति चमत्कार में ऐन्द्रियिक या प्रति-कारात्मक भावना रही है।

मैंने पिछले पच्चीस वर्षों में एकांकी-नाटकों के क्षेत्र में जो प्रयोग किये हैं वे पश्चिम की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर भी भारतीय नाट्य-शास्त्र के क्रोड़ में पोषित हुए हैं। सम्भवतः इसी-लिए मेरे नाटकों में यथार्थवाद से उद्भूत एक नैतिक आदर्शवाद है और परिस्थितियों के विचित्र संघर्षों में रस की स्थिति में मेरा विश्वास है। यह रूप मैंने रूढ़िवाद के शिकंजे से मुक्त होकर ही करने का प्रयत्न किया है नहीं तो नवीन प्रयोगों के लिए मुझे कोई क्षेत्र ही न मिलता। इन प्रयोगों को ध्यान में रखकर हास्य के विभावों को मनोविज्ञान में स्थापित करके मैंने हास्य के पाँच भेद किये हैं जिनमें प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—

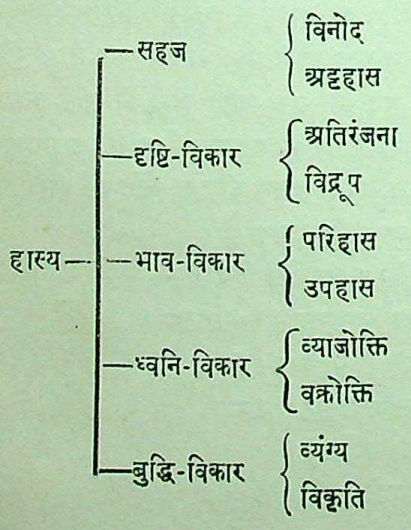

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस भांति हास्य सहज विनोद से चलकर क्रमशः दृष्टि, भाव, ध्वनि और बुद्धि में नाना रूप ग्रहण करता हुआ विकृति में समाप्त होता है और अपनी यात्रा में मनोविज्ञान की सभी स्थितियों से गुजर जाता है। सहज भाव में जब परिस्थितियों की प्रतिक्रिया होने लगती है तभी विकार आरम्भ हो जाता है। सबसे पहले यह विकार दृष्टि में आता है फिर वह भाव में परिणत होता है। भाव ध्वनि में प्रकट होता है और ध्वनि की प्रतिक्रिया में बुद्धि-विकार होता है। इस भाँति यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो बुद्धि-विकार दो प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होता है और ये प्रतिक्रियाएँ हैं दृष्टि तथा ध्वनि की। इसलिए हास्य के अन्तर्गत व्यंग्य और विकृति की रचना गहरी दृष्टि और विस्तृत अनुभव की अपेक्षा रखती है।

सहज के दो रूप हैं विनोद और अट्टहास। इन दोनों में केवल हास्य की निरीह और निर्दोष भावनाएँ हैं जो हृदय को चिन्ता से मुक्त करके प्रसन्नता का वरदान देती हैं। विनोद तो एक बुलबुले की भाँति भाव-लहरों पर तैरकर फूट पड़ता है और अट्टहास बढ़ती हुई लहर की भाँति जीवन के दोनों तटों को अपनी बाहु में समेट लेना चाहता है, अतः इन दोनों का चित्र मेरी कल्पना में क्रमशः एक बिन्दु (O) और एक वर्तुलाकार रेखा (V) की भाँति है। दृष्टि-विकार दो प्रकार से होता है—एक अतिरंजना में वस्तु या परिस्थिति को अनुपातरहित घटा-बढ़ा देने में जैसे कोई कार्टून बनाने वाला छोटे शरीर पर बड़ा सिर बना दे या छोटे सिर में बड़े पैर जोड़ दे और दूसरे विद्रूप में (अर्थात् परिस्थितियों को उलट देने में जैसे उल्टवासियों में हास्य के दर्शन होते हैं। अतिरंजना और विद्रूप वस्तुस्थिति की सभी दशाओं में हो सकता है इस भाँति इनका रूप मेरी कल्पना में चतुर्भुजी है। एक सीधा (▱) दूसरा उलटा (▱)।

भाव-विकार दो रूप में होता है एक परिहास में जिसमें उदात्त मनोभाव को अनुदात्त संदर्भ में जोड़ दिया जाता है और उपहास जिसमें उदात्त मनोभाव ही अनुदात्त हो जाता है। इस भाँति उपहास परिहास का ही विकसित रूप है। मेरी कल्पना में परिहास त्रिभुज है (△) और उपहास त्रिभुज की नीचे की ओर बढ़ी हुई रेखाएँ A हैं। ध्वनि-विकार व्याजोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में प्रकट होता है। व्याजोक्ति में प्रकट को गुप्त कर देने का वाणी-चातुर्य है और वक्रोक्ति में संदर्भ ही बदल देने की मनोवृत्ति है, जो ध्वनि-विकार से भी संभव है। व्याजोक्ति रूप वाणी के चतुर्दिक् चातुर्य से वर्गाकार (▱) है, जो वक्रोक्ति में वक्र रेखाओं से (▱) निर्मित होता है।

बुद्धि-विकार व्यंग्य और विकृति से व्यक्त होता है। व्यंग्य बड़ा तीखा है। वह कहता एक बात है और मतलब दूसरी बात का हो जाता है। यह बहुरूपिया है, अमृत में विष डालना या फूल में कीट बनकर पहुँचना इसीका काम है। विष में बुझे हुए बाणों की नोक की भाँति यह तीखा है। मेरी कल्पना में इसका चित्र बाण के मुख की भाँति है। विकृति तो व्यंग्य और विद्रूप से संभव होकर वस्तु की चारुता को विचित्र तरह से मोड़ देती है। इसका रूप बाणों की उलटी और सीधी नोकों के अन्तर्व्याप्त होने में है। यही शब्दों के तीखेपन का कारण होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० माताप्रसाद गुप्त

'कान्हड़ दे प्रबन्ध' और उसका पाठ

राजस्थान राज्य द्वारा संस्थापित राजस्थान-पुरातत्त्व-मन्दिर, जयपुर ने अपनी स्थापना के गत कुछ ही वर्षों में साहित्य की अच्छी सेवा की है। उसने पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजय जी के प्रधान सम्पादकत्व में एक दर्जन से अधिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादित संस्करण प्रकाशित किये हैं। इन्हीं में से एक ग्रन्थांक ११, कवि पद्मनाथ-विरचित 'कान्हड दे प्रबन्ध' है, जिसका सम्पादन प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् और लेखक कान्तिलाल बलदेव राम व्यास, एम० ए० ने किया है। इसका प्रकाशन १९५३ के अन्त में हुआ है। अभी ग्रन्थ का पहला भाग ही निकल पाया है, जिसमें प्रधान सम्पादक मुनि जिनविनय जी का प्रास्ताविक वक्तव्य, सम्पादक प्रो० कान्तिलाल बलदेवराम व्यास द्वारा लिखित भूमिका, ग्रन्थ का निर्धारित पाठ, जिसके साथ पाद-टिप्पणियों में विभिन्न प्रतियों के पाठान्तर हैं, और तीन परिशिष्टों के रूप में क्रमशः (१) विभिन्न प्रतियों में समान रूप से भूल के कारण छूटे हुए पद या पदांश, और समान रूप से पाए जाने वाले पाठों का सार, (२) पाठ-भेद के स्थलों पर गृहीत पाठों के विषय में आलोचनात्मक उल्लेख, (३) अकारादि क्रम से ग्रन्थ की छन्द-सूची है। दूसरे भाग में विद्वान् सम्पादक के अनुसार, "कृति की ऐतिहासिक और भाषा-सम्बन्धी पृष्ठभूमि, कृति का अनुवाद, जो कदाचित् अंग्रेजी में ही होगा, जैसा उसका समस्त आयोजन है, उसमें प्रयुक्त शब्दों की एक पूर्ण सूची ('इण्डेक्स') और यदि संभव हुआ, विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक विवरण होंगे।" अतः यह सम्पूर्ण योजना कितनी सुव्यवस्थित और पूर्ण होगी इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है। जितना परिश्रम विद्वान् सम्पादक ने इस कृति पर किया है, और करने का अश्वासन दिया है। वह अत्यन्त सराहनीय है और राजस्थान-पुरातत्त्व-मन्दिर भी इस प्रकाशन के लिए समस्त राजस्थानी साहित्य-प्रेमियों के द्वारा प्रशंसा का पात्र है।

मूल ग्रन्थ स्वतः भी अनेक दृष्टियों से असाधारण महत्त्व का है। यद्यपि जिस छन्द में उसकी रचना-तिथि दी हुई है, उसके दो परस्पर भिन्न पाठ इस प्रकार हैं—

(१) पचतालीसउ पूठि बरीस, माह मागसिर पूनिम दीस।
संवत पंनर बारोतरउ, तिणि दिनि सोमवार विस्तरु ॥४.३४३॥

(२) संवत पनर बारोतर सार, माह मास पुंन्यम सोमवार।
जालहुर गढ घण उलट धरी, गायु कान्ह विशेषि करी ॥४·३४३॥

किन्तु दोनों में रचना-संवत् १५१२ ही आता है और ग्रन्थ की एक प्रति, जिसको सम्पादक ने सबसे अधिक मान्यता भी दी है, "सं० १५९८ आषाढ़ादि वर्षे कात्ती वदी ९ गुरुवार" की लिखी हुई है, इसलिए यह बहुत-कुछ निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ग्रन्थ की रचना सं० १५१२ में हुई होगी। राजस्थानी ही नहीं हिन्दी के भी प्रारम्भिक युग के ग्रन्थों में कदाचित् ही कोई ऐसा माना जा सकता है जिसकी रचना-तिथि इतनी निश्चित हो। इसी प्रकार, इसकी विभिन्न प्रतियों में पाठ-विषयक समानता इतनी अधिक है कि उक्त युग के अन्य किसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में कम ही मिलेगी, जिससे यह मानना पड़ता है कि ग्रन्थ का पाठ भी अपने मूल रूप में प्रायः सुरक्षित है और अपने युग की भाषा के अध्ययन के लिए एक दृढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का महत्त्व कम नहीं है। ग्रन्थकार उसी राज-वंश से सम्बन्धित था जिसको ग्रन्थ के कथानायक ने पवित्र किया था और इस बात की संभावना यथेष्ट है कि उसको कथा की समस्त सामग्री उस राज-वंश के लिखित और अलिखित इतिहासों से प्राप्त हुई हो। इसलिए उस युग के इतिहास के अध्येता के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त मूल्यवान होगा।

कविता की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपेक्षणीय नहीं है। यद्यपि अलंकृत-शैली अथवा अभिव्यक्ति-चमत्कार का ग्रन्थ में प्रायः अभाव मिलेगा, किन्तु आदर्शों के लिए जीवनोत्सर्ग-काव्य के रूप में इसका स्थान साहित्य के इतिहास में अवश्य ही सुरक्षित रहेगा।

कथा अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार है :

मारवाड़ देश में स्थित जालौर नगर का शासक कान्हड़ दे था, जो कि सोनगिरा चौहान वंश का था। उसका कनिष्ठ भाई मालदेव तथा उसका पुत्र कुमार वीरम दे था। इसी समय गुर्जर का राजा सारंग दे था। उसने माधव नामक एक ब्राह्मण का अपमान किया, जिसके कारण ही विग्रह का प्रारम्भ हुआ। अपमान से क्षुब्ध होकर माधव ने प्रतिज्ञा की कि वह भोजन तभी करेगा जब वह गुजरात पर तुर्कों को ला उपस्थित करेगा। वह दिल्ली चला गया और सुलतान अलाउद्दीन से मिला। अलाउद्दीन से उसने सारी कथा बताई और इस बात के लिए उसे प्रेरित किया कि वह गुजरात पर आक्रमण कर दे। सुल्तान ने उसकी बात मान ली और आक्रमण की आज्ञा दे दी। किन्तु दिल्ली से गुजरात का मार्ग जालौर होकर था, इसलिए उसने कान्हड दे के पास दूत भेजा कि वह उसकी सेना को मार्ग दे दे। कान्हड दे ने सुलतान के इस अनुरोध को अस्वीकार कर दिया। इस पर सुल्तान की सेना ने मेवाड़ होकर गुजरात पर चढ़ाई की। मेवाड़ के रावल साहसी ने उसे मार्ग दे दिया। सुलतान की प्रचण्ड वाहिनी के सम्मुख गुर्जराधीश ठहर न सका और पाटण पर सुलतान की सेना का आधिपत्य हो गया। इसके अनन्तर सुलतान की सेना ने एक-एक करके गुजरात और सौराष्ट्र के सम्पूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया। सोमनाथ की रक्षा का यत्न राजपूतों ने बड़ी ही वीरता के साथ किया, किन्तु वे असमर्थ रहे और उन्होंने वीरता के साथ युद्ध करते हुए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया।

गुजरात और सौराष्ट्र की विजय के अनन्तर सुलतानी सेना मारवाड़ की ओर मुड़ी। किन्तु कान्हड दे की सेना उसका सामना करने के लिए प्रस्तुत थी और विषम युद्ध के अनन्तर सुलतानी सेना पराजित हुई। जालौर पर पुनः आक्रमण का आदेश हुआ। इस बार जालौर के समीपस्थ समीयाणे पर आक्रमण हुआ, जो कान्हड दे के भतीजे सांतलसिंह के अधिकार में था। कान्हड दे ने सांतलसिंह की सहायता की और सुलतानी सेना को पुनः पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

इन पराजयों से सुलतान को बड़ा क्षोभ हुआ। पहले के उपर्युक्त आक्रमणों में सैन्य-संचालन उसके सेनापतियों ने किया था। इस बार उसने स्वतः सैन्य-संचालन का भार लिया और आक्रमण कर दिया। समियाणे पर घेरा डाल दिया गया, किन्तु सात साल के घेरे के बाद भी समीयाणे पर उसका अधिकार नहीं हो सका। बल द्वारा गढ़ पर अधिकार होना असम्भव समझकर अलाउद्दीन ने एक घृणित उपाय का अवलम्बन किया। गढ़ की दीवालों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हटकर बना हुआ गढ़ के भीतर ही उसका जलाशय था, एक-मात्र जिसके जल पर ही समीयाणे की समस्त जनता का जीवन निर्भर करता था। अलाउद्दीन ने गाएँ कटवाकर और उन्हें बोरों में बँधवाकर रातों-रात गढ़ की दीवार पर से उस जलाशय में डलवा दिया। सवेरा होने पर जब समीयाणे के लोगों ने यह दुष्कृत्य देखा, तो उनके सम्मुख केवल दो विकल्प शेष रह गए थे या तो इस जल को ग्रहण करना अथवा जल के अभाव में अपना जीवन देना। उन्होंने दूसरे ही विकल्प को स्वीकार किया और वहाँ की समस्त वीराङ्गनाओं ने जौहर किया। इस समाचार को सुनकर अलाउद्दीन ने सांतल के पास सन्देश भेजा कि वह उसका आधिपत्य-मात्र स्वीकार कर ले तो घेरा उठा लिया जायगा, किन्तु सांतल ने यह अस्वीकार कर दिया। तदनन्तर सम्पूर्ण राजपूत सेना ने खुलकर सुलतानी सेना से एक साथ युद्ध किया और प्रत्येक वीर ने लड़ते-लड़ते अपने जीवन का बलिदान कर दिया।

समीयाणे पर आधिपत्य कर लेने के अनन्तर अलाउद्दीन ने कान्हड दे के पास सन्देश भेजा कि वह उसकी वश्यता स्वीकार कर ले। किन्तु कान्हड दे ने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। अलाउद्दीन ने जालौर पर आक्रमण कर दिया। उसकी सेना का पड़ाव जालौर के समीप ही पड़ा। इस आक्रमण में सुल्तान के साथ उसकी कन्या कुमारी फीरोजा भी थी जो कान्हड दे के कुमार वीरमदे के गुणों की प्रशंसा सुनकर उस पर अनुरक्त हो चुकी थी। वीरमदे के साथ विवाह की उसकी इच्छा जानकर अलाउद्दीन ने विवाह-सम्बन्धी प्रस्ताव कान्हड दे के पास भेजा। किन्तु अपनी जाति-कुल की मर्यादा का ध्यानकर कान्हड दे ने अलाउद्दीन का यह प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया। अलाउद्दीन ने आगे बढ़कर जालौर पर घेरा डाल दिया। इस बार भी सफलता न मिली और अलाउद्दीन के लौटने की तैयारी की। किन्तु राजकुमारी वीरमदेव के दर्शनों के लिए लालायित थी, इसलिए वह सेना की एक छोटी-सी टुकड़ी लेकर गढ़ के भीतर गई। कान्हड दे ने उसका स्वागत किया। वीरमदे भी उससे मिला। राजकुमारी ने स्वतः वीरमदेव से विवाह का प्रस्ताव किया, किन्तु वीरमदेव ने अपनी जाति-कुल की प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसके अनन्तर राजकुमारी ने जालौर देखने की इच्छा प्रकट की। कान्हड़ दे ने उसके लिए सम्पूर्ण सुविधाएँ कर दीं और तदनन्तर उसे प्रचुर भेटों के साथ विदा किया। अलाउद्दीन लौट गया।

आठ वर्ष बाद अलाउद्दीन की सेना ने जालौर पर पुनः आक्रमण किया। इस बार राजकुमारी फ़ीरोजा ने अपनी धाय को सेना के साथ भेजा कि यदि वीरम युद्ध में बन्दी हो तो वह उसके पास जीवित लाया जाय और यदि युद्ध में धराशायी हो तब उसका सिर लाए। जालौर के चारों ओर घेरा डाल दिया गया। चार वर्षों तक मालदेव तथा वीरम दे के नेतृत्व में जालौर-निवासियों ने सुल्तानी सेना का मुक़ाबिला किया। जब राजकीय भाण्डार रिक्त हो गए, वहाँ के व्यवसायियों ने अपने समस्त भाण्डार स्वतः अपने देश के लिए अर्पित कर दिए। इस सामग्री से आठ और वर्षों तक शत्रु का सामना किया गया। इन बारह वर्षों के बीच जलाभाव का भी एक से अधिक बार भय हुआ, किन्तु ईश्वर की कृपा से वह पूर्ण होता गया। किन्तु इसी बीच एक सेजवाल वीकम से उसे प्रलोभन देने पर शत्रु को एक गुप्त मार्ग का ज्ञान हो गया और सेना-शत्रु उसी मार्ग से गढ़ के भीतर घुस आई। सेजवाल की स्त्री हीरादेवी को जब यह ज्ञात हुआ कि उसके पति ने यह विश्वास-घात किया है, उसने उसका वध कर डाला और शत्रुसेना के गढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भीतर आने की सूचना कान्हाड दे को दी। समस्त शत्रु-सेना धीरे-धीरे गढ़ के भीतर पहुँच गई। राजपूत सैनिकों की संख्या इन बारह वर्षों के घेरे के बाद थोड़ी ही रह गई थी। वश्यता स्वीकार करने अथवा प्राणों की आहुति देने के अतिरिक्त कोई विकल्प शेष नहीं था। राजपूत वीरों ने दूसरे ही विकल्प का वरण किया। कान्हड दे युद्ध करता हुआ मारा गया। साढ़े तीन दिनों तक वीरम दे ने युद्ध किया। इसी बीच रानियों ने जौहर किया। वीरम दे ने जब देखा कि युद्ध को अब और अधिक चलाने की सम्भावना नहीं है और वह पराजित होने पर बन्दी हो जायगा उसने अपने उदर में कटार भोंक ली और शत्रु-पक्ष के अनेक सामन्तों को मारकर उसने प्राण त्याग दिये। धाय उसका सिर लेकर दिल्ली आई और उसने उसको राजकुमारी फ़ीरोज़ा को भेंट किया। राजकुमारी उस सिर को लेकर यमुना-तट पर गई और उसका संस्कार किया। तदनन्तर वह यमुना में उस सिर को लेकर कूद पड़ी और इस प्रकार अपने प्रेम को प्रमाणित किया।

अपने साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है—वह है उनके आकार के सम्बन्ध का। अधिकाधिक पूर्णता लाने के लिए उनमें पाठ-वृद्धि प्रायः निरपवाद रूप से हुई है। इसलिए 'कान्हाड दे प्रबन्ध' के सम्बन्ध में भी यह जिज्ञासा होना ठीक ही है कि उसका मूल परिमाण क्या था और पाठ-वृद्धि उसमें कहाँ तक हुई है।

परिमाण के सम्बन्ध में एक बात महत्त्व की है, ग्रन्थकार ने स्वतः ग्रन्थ के अन्त में उसका उल्लेख किया है। सम्पादित रूप में उक्त उल्लेख इस प्रकार है :

सांभलतां सरीर उल्हसइ, चउपई बन्ध इसी इग्यारसइ।
च्यारिषंडजिस्यां नवनीत, दूहाचउपई मधुरां गीत ॥ ४.३४२ ॥

सम्पादक ने अंग्रेजी के ए से लेकर एल तक के वर्णों द्वारा निर्दिष्ट बारह प्रतियों का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें से आई एक मुद्रित संस्करण है, जिसका सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से नहीं हुआ है। इसलिए उसका उपयोग नहीं किया गया है और जी तथा एच एक ही प्रति के दो अंश-मात्र हैं, इसलिए उपयोग वस्तुतः दस ही प्रतियों का किया गया है। इन दस में भी तीन प्रतियाँ ई, एफ तथा जी एच समाप्ति के पूर्व ही खण्डित हो जाती हैं, अतः केवल शेष सात प्रतियों में ही यह छन्द पाया जाता है। इन सात में ग्रन्थ के परिणाम-सूचक शब्द 'इग्यारसइ' की स्थिति यह है कि वह केवल के में पाया जाता है जे में छन्द की वह पंक्ति ही नहीं है जिसमें यह शब्द आता है, ए में, जो ग्रन्थ की सबसे प्राचीन प्रति है, और जिसे अन्यथा सम्पादक ने सबसे अधिक मान्यता दी है, पाठ है 'नुवसइं', इसी प्रकार सी में पाठ है 'नवसि' बी में पाठ है 'सातडस', इसी प्रकार ही में पाठ है 'सातसइ' और एल में पाठ है 'च्यारिसइ'। प्रश्न यह उठता है कि ग्यारह सै, नव सै, सात सै और चार सै में कौन सी संख्या मान्य हो सकती है और क्यों?

इन सात प्रतियों में प्रत्येक में अलग-अलग कुल छन्द-संख्या क्या है, यह सम्पादक ने नहीं लिखा है, किन्तु भूमिका में दी हुई सूचनाओं से ज्ञात होता है कि केवल तीन—ए, के, तथा एल में छन्द-संख्या सम्मिलित रूप में दी गई है, शेष प्रतियों में छन्द-संख्या खण्ड-क्रम से दी गई है। दिये हुए प्रतियों के अन्तिम पृष्ठों के चित्रों तथा सम्पादक द्वारा दी हुई सूचनाओं के आधार पर ए, के तथा एल में कुल छन्द-संख्या इस प्रकार ठहरती है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ए—प्रति के अन्तिम पृष्ठ का चित्र भूमिका में दिया हुआ है। उसके अनुसार ग्रन्थ की अन्तिम छन्द-संख्या १०१० है।

के—प्रति का अन्तिम पन्ना नहीं है, किन्तु उसके पूर्व वाले पृष्ठ के, जिसका चित्र भूमिका में दिया हुआ है, अन्तिम छन्द की संख्या १००६ है और निर्धारित पाठ में इस छन्द के बाद भी छन्द आते हैं, इसलिए प्रति का अन्तिम छन्द १०१६ रहा होगा।

एल—प्रति का अन्तिम पन्ना नहीं है, किन्तु उसके पूर्व वाले पृष्ठ के, जिसका चित्र भूमिका में दिया हुआ है, अन्तिम छन्द की संख्या ८४० है और निर्धारित पाठ में इस छन्द के बाद भी ११ छन्द आते हैं, इसलिए प्रति का अन्तिम छन्द ५१ होना चाहिए। किन्तु भूमिका (पृष्ठ २६) में विद्वान् संपादक ने लिखा है कि इस प्रति में कभी-कभी दो और कभी-कभी चार छन्दों तक को यथा एक छन्द गिना गया है। इसलिए प्रति पर लिखित यह छन्द-संख्या विश्वसनीय नहीं है। संपादित संस्करण तथा उसकी टिप्पणियाँ देखने पर ज्ञात होगा कि निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है[1], जिसके १३½ छन्दों के चरण इस प्रति में नहीं हैं और निर्धारित पाठ में इस प्रति के ४ छन्दों के चरण स्वीकार नहीं किये गए हैं, अतः प्रति की कुल छन्द-संख्या १०११ होनी चाहिए।

शेष चार प्रतियों की कुल छन्द-संख्या इस प्रकार होगी—

बी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से १५ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं और ऐसे ३½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या १०१७ होनी चाहिए।

सी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ६०½ छन्दों के चरण प्रति में नहीं है और ऐसे १५½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या ६५३ होनी चाहिए।

डी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ३१ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं, और ऐसे १½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इसलिए प्रति की कुल छन्द-संख्या ६६६ होनी चाहिए।

जे—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ४७½ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं और ऐसे २½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या ६८३ होनी चाहिए।

ऊपर परिमाण के सम्बन्ध में जो छन्द-गणना की गई है, उसमें भूल की सम्भावना हो सकती है। मान लीजिए कि यह सम्भावना १० छन्दों की पंक्तियों के सम्बन्ध की हो और गणना में १० अधिक गिन जाने के स्थान पर भूल से कम ही गिन लिया गया हो, तो भी विभिन्न-

१. खंड १ : २५६ छन्द ; खंड २ : १६८ छन्द ; खंड ३ : २५१ छन्द ; खंड ४ : ३५३ छन्द।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतियों की कुल छन्द-संख्या अलग-अलग निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ से आगे नहीं बढ़ती। दूसरी ओर, हम यह देखते हैं कि ये १० जोड़ देने पर भी एक प्रति-सी-के अनुसार ग्रन्थ के पाठ का परिमाण ६६३ तक हो जाता है। प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थिति में 'इग्यार सइ', 'नुव सइ', 'सरत सइ' और 'च्यारि सइ' में कौन-सा पाठ अधिक वस्तुसंगत हो सकता है। प्रकट है कि 'च्यारि सइ' तथा 'सात सइ' तो स्पष्टतः अस्वीकार्य हैं, 'इग्यार सइ' भी असम्भव है, क्योंकि दस सै से १०-२० ऊपर की संख्या के लिए 'इग्यार सइ' का प्रयोग नहीं किया जा सकता, और 'दस सइ' पाठ किसी भी प्रति में मिलता नहीं, इसलिए पाठ 'नुवसइ' अथ 'नवसि' ही स्वीकार्य होगा, विशेष रूप से इसलिए भी कि जिस प्रकार वह १०१० छन्द-संख्या की प्रति 'ए' में आता है, उसी प्रकार वह ६५३ के लगभग छन्द-संख्या की प्रति सी में भी आता है। यदि ग्रन्थ की कुल छन्द-संख्या 'दस सइ' के निकट होती, जैसी वह सी और जे के अतिरिक्त सभी प्रतियों में है, तो कोई कारण नहीं था कि कवि अन्य किसी संख्या के स्थान पर 'दस सइ' क्यों न लिखता। इसलिए यह परिणाम निकालना स्वाभाविक है कि ग्रन्थ का मूल परिमाण 'नुव सइं' या 'नवसि' ही था, छन्दाधिक प्रक्षेप द्वारा हुआ।

यह पाट-वृद्धि प्रतियों में ही नहीं यथेष्ट विश्लेषण बिना किये हुए ही उनका आधार ग्रहण करने के कारण निर्धारित पाठ में भी हो गई है—निर्धारित पाठ में भी ऐसे अनेक छन्द ले लिये गए हैं जिनके कारण ग्रन्थ का पाठ 'नुवसइ' ही नहीं 'दससइ' हो गया है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि ऐसे छन्द या छन्दार्द्ध जो सबसे छोटे पाठ की प्रति सी में नहीं हैं और फिर भी निर्धारित पाठ में स्वीकृत किये गए हैं, दो-चार अपवादों के अतिरिक्त निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं।

उदाहरण के लिए निर्धारित पाठ के निम्नलिखित छन्दों या छन्दार्द्धों को लिया जा सकता है, जो सी में नहीं हैं—

(१) ३. ४६, ४७।१, ५१।१, ५२।१, ५३।१, ५४।१, ५५।१, ५६, ५७।१, ५८, ५६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६।१ :

इन छन्दों में कान्हडदे की सेना में सम्मिलित होने वाले रावतों की नामावली दी गई है। इनमें सात नाम तो ऐसे आते हैं जो साथ के ही उन छन्दों में भी आते हैं जो सभी प्रतियों में समान रूप से पाए जाते हैं : अरजन (३.४३ तथा ३.५६); जगमाल (३.४५ तथा ३.५८); देव सी (३.४८ तथा ३.६३); घडसी (३.४८ तथा ३.५८); विजेसी (३.४१ तथा ३.६६); मूलराज (३.४३, ३.४६, तथा ३.६०); साल्हड (३.४७ तथा ३.५४।१)।

और बारह नाम ऐसे आते हैं जो इन्हीं छन्दों में—जो सी में नहीं मिलते हैं—एक से अधिक बार आते हैं। कर्णदे (३.५६ तथा ३.६४); धीमा या धीम (३.५६।१ तथा ३.६५); गांगु (३.६३ तथा ३.६५); गाजण (३.६३ तथा ३.६५); झाझण (३.५२।१ तथा ३.६४); दूदड (३.५८ तथा ३.६१); देभु यादे भउ (३.५६ तथा ३.६१); धारउ (३.५२।१ तथा ३.६६); पूनउ (३.५३।१ तथा ३.५८); फणगर (३.५६ तथा ३.६०); भीमउ (३.५१।१ तथा ३.६५); हरदास (३.६० तथा ३.६१)।

१६ नामों का इस प्रकार एक ही सूची में पुनः-पुनः आना अत्यन्त शोचनीय है। प्रकट है कि नामों के बढ़ाने के प्रयास में प्रक्षेपकारों को इस बात का ध्यान नहीं रहा कि ये नाम पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी आ चुके हैं। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि उन छन्दों में नाम-विषयक यह पुनरु नहीं है, जो सी में भी आते हैं।

(२) २.७०, ७१ : इन छन्दों के द्वारा उन देशों की सूची में वृद्धि की गई है जि अलाउद्दीन ने अपने द्वारा विजित बताया है।

(३) ४. ६८,६९, ७० : इन छन्दों के द्वारा उन मुसलमान सामन्तों की सूची में वृ की गई है जो अलाउद्दीन के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित होते हैं।

(४) ४. ७७ : इस छन्द के द्वारा उन वस्तुओं की सूची में वृद्धि की गई है, जि अलाउद्दीन से युद्ध की तैयारी में आठ वर्षों के संबल के लिए कान्हड दे ने इकट्ठा कराया है

(५) ४. ९८,९९ : इन छन्दों के द्वारा उन स्थानों की सूची में वृद्धि की गई है, जि राजपूत सरदारों को अपने पक्ष में युद्ध करने के लिए कान्हड दे ने आमंत्रित किया है।

(६) ४. २४८,२४९ : इन छन्दों के द्वारा उन देवताओं की सूची में वृद्धि की गई है जो कान्हड दे और अलाउद्दीन की सेनाओं का युद्ध देखने के लिए आकाश-मार्ग में इकट्ठे हुए हैं।

(७) ४. २५४,२५५ : इन छन्दों के द्वारा उन मुसलमान सामन्तों की सूची में वृद्धि गई है जो अलाउद्दीन के पक्ष में युद्ध करने के लिए आये हैं।

(८) ४. २६२, २६३, २६४, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७ २७३, २७४, २७५।२, २७६।१, २७७।१, २७९, २८० : इन छन्दों के द्वारा उन राज योद्धाओं की सूची में अभिवृद्धि की गई है जो कान्हड दे के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हुए हैं

सूचियों में अभिवृद्धि प्रक्षेप का एक अत्यन्त प्रचलित रूप है और इन छन्दों में से अधिकतर में ढूँढ़ने पर उसी प्रकार की पुनरुक्तियाँ मिलेंगी जैसी हमने ऊपर देखी हैं।

(९) १. २२८, २३१ : इन छन्दों के द्वारा पुण्य की माहात्म्य-सूची में अभिवृद्धि गई है। यह सूची प्रस्तुत से चार छन्द पूर्व प्रारम्भ होती है। पूर्ववर्ती छन्द है :

पुण्यइ वाल्हां नहीं वियोग, पुण्यइ हुई, सुजन संयोग।
पुण्यइ पहिरीइ वारुचीर, पुण्यइ हुइ फूटरां सरीर ॥ २२७ ॥

और इसी प्रकार के 'पुण्यइ' से प्रारम्भ होने वाले छन्द २२४ से २३२।१ तक किन्तु प्रक्षेपकार को इसका ध्यान न रहा और उसने छन्द २२८ 'पुण्यइ' के स्थान पर 'पुण्यव की महिमा में रच डाला :

पुण्यवन्तनां दुसकृत टलइ, पुण्यवन्तनइ चामर ढुलइ।
पुण्यवन्त सिरछत्र छराह, पुण्यवन्तन विपाला जाइ ॥ २२८ ॥

(१०) ४. ३४८, ३५० : इन छन्दों के द्वारा उस फल-सूची में वृद्धि की गई है जो ग्रन्थ के पढ़ने से प्राप्य बताये गए हैं।

(११) १. २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९ : ये छन्द एक सम्पूर्ण के हैं।

(१२) २·१५४, १५५, १५६, १५७, १५८ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं

(१३) ३·१५३, १५४, १५५, १५६, १५७ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं

(१४) ४·१६५, १६६, १६७, १६८ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

(१५) ४·२४१, २४२, २४३, २४४ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१६) ४·३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

(१७) ४·३२६, ३२७, ३२८, ३२९ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

ये समस्त गीत ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न स्थानों पर आते हैं। इन सात गीतों का पूरा-पूरा छूट जाना भूल से संभव नहीं है और न इसी बात का कोई कारण हो सकता है कि ये गीत जान-बूझकर निकाल दिये गए हैं। इसलिए तीसरी ही सम्भावना बुद्धि-सम्मत ठहरती है कि ये गीत प्रक्षेपों के रूप में बढ़ाये गए हैं।

(१८) ३·६ : यह छन्द प्रसंग-प्रवाह में स्पष्ट विच्छेद प्रस्तुत करता है। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती छन्द इस प्रकार हैं :

दस्यूं प्रधान कहइ तिणि समइ, सुवृताणी दल कुण आंगमइ।
जास तणउ भूतलि भडवाय, जिणि वसि कीछा राणा राय ॥५॥
जास तणइ तेजी लख आठ, जास तणइ घरि गयवर भाट।
जास तणइ नवनिधि भण्डारी, जेह भिडतां नवि आवइ हारि ॥७॥

और इन्हीं दोनों छन्दों के बीच में आता है :

पद्मनाथ पंडित भणइ जिह तूठउ जगदीस।
तास तहुवडि हुइ किसी अंगिम आणउ रीस ॥६॥

(१९) ४·४१।२ : यह छन्दार्द्ध भी प्रसंग-प्रवाह में विच्छेद करता हुआ प्रतीत होता है। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पंक्तियों में कान्हड दे की राजरिद्धि का 'बषान' किया गया है :

राज रिद्धि नूं किसूं बषाण, बातइ पंचवर्ण के काण ॥३८॥
अवधानीया अनइ रावरी, करइ मसाहणी चिंतातुरी ॥४१।१
भंडारी कोठारी जेउ, पूरइ वरउ रालगुनि नेउ ॥४२।१

और इन्हीं के बीच में आता है :

इसी अवधि बातइ राउली, त्रिणिवार घोडां जाउली ॥४१।२

(४) ४·११४।२, ११५।१, : इन पंक्तियों में आया हुआ एक चरण तो पूर्णतः वही है जो पूर्ववर्ती छन्द में आ चुका है। दोनों पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

गढ लागइ गढपाई करउ, इणी परिआछा संचरउ। ४·११४।३
रहती बुद्धि सबे आदरउ, इणी परिआछा संचरउ। ४·११५।१

ऊपर जान-बूझकर निर्धारित पाठ के केवल ऐसे छन्दों का उल्लेख किया गया है जिनकी प्रक्षेपता स्वतः प्रकट है और इनकी री संख्या ८० छन्दों के बराबर है। यदि, मान लीजिए, ऐसे १० छन्द भी और प्रक्षिप्त ठहरें जो उपर्युक्त सूची में आने से रह गए हों, तो यह संख्या ९० हो जाती है और परिणामतः १०२८ छन्दों के निर्धारित पाठ के स्थान पर ग्रन्थ का मूल परिमाण ९३८ छन्दों का हो जाता है। निश्चय ही ९३८ के आस-पास की संख्या 'नुवसइं' या 'नवसि' से ही अभिहित की जायगी, 'रससइ' या 'ग्यारसइ' से नहीं और ९३८ की अपेक्षा ९०० के और भी निकट की संख्या तो और भी 'नुवसइ' या 'नवसि' के द्वारा अभिहित होगी।

कहना नहीं होगा कि ऊपर दिये हुए छन्दों को भूल से छूटा हुआ और इसीलिए जिन प्रतियों में ये छन्द नहीं मिलते उनको पररपर संकीर्ण सम्बन्ध से सम्बन्धित मानकर विद्वान् सम्पादक ने जो सिद्धान्त ग्रन्थ के पाठ-निर्धारण के लिए स्थिर किये हैं, वे वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माने जा सकते और फिर उनके अनुसार स्थिर किया हुआ सामान्य पाठ भी सर्वथा विश्वासन
नहीं माना जा सकता। फिर भी जिस असाधारण अध्यवसाय और सतर्कता से विद्वान् सम्पा
ने समस्त प्रतियों का पाठान्तर दिया है और कार्य को सर्वांगपूर्ण बनाने में उद्योग किया है, उस
सराहना मुक्तकण्ठ से करनी पड़ती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

बालकृष्ण राव

नयी कविता

: १ :

गत वर्ष कुछ साहसी साहित्यकारों के सहकारी प्रयास के फलस्वरूप 'नयी कविता' नामक अर्द्ध-वार्षिक प्रकाशन आरम्भ हुआ। इन साहित्यकारों को साहसी मानने में तो किसी को आपत्ति न होगी और न होनी चाहिए। कविता के पाठक सदा ही अल्पसंख्यक होते आये हैं और उनकी भी छोटी-सी संख्या ऐसी होती है जिसे कविता खरीदकर पढ़ने की आदत हो। आज का युग कविता-प्रेमियों की बाढ़ का युग नहीं, कविता की लोकप्रियता के उतार का युग माना जाता है। उस पर अधुनातन युग की कविता अभी अपना भावक-वर्ग खोज रही है। उसकी धारा उपहास और उपेक्षा के किनारों में होकर रेतीली भूमि पर बह रही है जिसके सागर तक पहुँचने की सम्भावना कम और राह में लुप्त हो जाने की आशंका अधिक जान पड़ती है। इस कविता को हिन्दी-संसार के सामने रखने के उद्देश्य से एक संग्रह-ग्रन्थ का प्रणयन समझ में आ सकता है। पर वर्ष में दो बार प्रकाशित करने के निश्चय को तो साहस क्या दुस्साहस मानना ही पड़ेगा। कहाँ मिलेंगे इतने पाठक कि उसकी तुष्टि कर सकें? कहाँ मिलेंगी इतनी संग्रहणीय कविताएँ कि प्रतिवर्ष दो बार उसकी कलेवर-पुष्टि कर सकें? कुछ भी हो, यह सहकारी साहस इसका प्रमाण है कि इसके विधायक साहित्यकार नयी कविता में अपनी अदम्य आस्था से प्रेरित होकर ही आगे बढ़े थे, अन्यथा नियमित रूप से वर्ष में दो बार प्रकाशित करने की घोषणा न करते।

यदि यह प्रकाशन इस रूप में हमारे सामने न आता और केवल एक स्वतन्त्र संग्रह-ग्रन्थ के रूप में ही आता तो निश्चय ही यह इतना ध्यान आकृष्ट न कर पाता। जो नयी कविता को अस्वस्थ मनोदशा या विकृत मस्तिष्क की उपज मानते हैं वे एक संग्रह-ग्रन्थ की उपेक्षा करके ही उसे मार सकते हों या नहीं, चेष्टा अवश्य करते। पर प्रतिवर्ष दो बार प्रकाशन की घोषणा से हमारे साहसी मित्रों ने उन्हें चौंका दिया। दबा देने के उद्देश्य से इसके विरोधियों ने डंके की चोट पर इसका मज़ाक उड़ाया, इसे बुरा-भला कहा—यह भी इसकी चर्चा करना ही था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके प्रशंसकों ने पीठ पर थपकी दी, वाह-वाह के नारे लगाये। परिणाम में 'नयी कविता' दोनों ओर से 'नोटिस' मिला—इतना जिसकी आशा भी उसके संस्थापकों ने न की होगी। अब इसका प्रकाशन बन्द भी हो जाय तो भी नयी कविता की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकृष्ट कराने के काम में वह अपने को, एक अंक के बल पर ही, सफल मान सकती है। प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में उसकी आलोचना हुई और उस पर लेख निकले, गोष्ठियों में उस पर वाद-विवाद हुआ, विद्यालयों में उसकी चर्चा हुई। उसे प्रशंसा मिली और गालियाँ सुन पड़ीं। 'नयी कविता' के लिए केवल एक ही विष घातक हो सकता था और वह विष था हिन्दी संसार की उपेक्षा। उससे इसने अपने-आपको बचा लिया।

: २ :

'नयी कविता' के पाठक को उसके प्रथम अंक में कोई लेख या वक्तव्य न मिलेगा जिससे वह जान सकता कि किस अर्थ में इस नाम में प्रयुक्त 'नयी' शब्द उसे ग्रहण करना है। न तो उसे कोई सम्पादकीय स्तम्भ ही मिलेगा न कोई स्पष्ट रूप से अधिकृत लेख ही, जो यह बताता कि यह प्रकाशन किस उद्देश्य से निकाला गया है और किस आधुनिक कविता को उसके सम्पादक 'नयी कविता' मानते हैं और क्यों? पन्ने उलटकर वह और भी चकित होगा, क्योंकि इसमें उसे नाना 'स्कूलों' की रचनाएँ मिलेंगी और यह जानने में उसे कठिनता होगी कि वह कौन-सी ऐसे सादृश्यता संग्रहीत कविताओं की शैली अथवा भाव-भूमि में है जिसने इन सबका वहाँ एक किया जाना सार्थक बनाया है। वह जानना चाहेगा कि यह एकत्रीकरण सार्थक है या नहीं उसे प्रयोगवादी रचनाओं का बाहुल्य मिलेगा, ब्रजभाषा और अन्य प्रादेशिक बोलियों का अभा मिलेगा, शुद्ध छायावादी रचनाएँ न मिलेंगी, बहुत-कुछ ऐसी चीजें मिलेंगी जो सफल मान तो हास्य नहीं तो हास्यास्पद लगेंगी, कुछ दुरूह, कुछ वृत्तगंधी गद्य, कुछ गद्याकार कविता- कहीं की ईंट मिलेगी तो कहीं का रोड़ा। पर भानमती से भेंट न होगी जो उसे जानने का अवक मिलता कि यह कुनबा क्यों और कैसे जोड़ा गया?

पाठक को इस प्रथम अंक में 'नयी कविता : नयी अभिरुचि' शीर्षक का एक ले मिलता है, जो सम्पादकीय के रूप में तो नहीं पर सम्पादक के नाम से प्रकाशित हुआ है इसमें सम्पादक ने एक वाक्यांश-मात्र से संकेत किया है कि 'नयी कविता' से उनका अभिप्र आधुनिक कविता से है, किसी वर्ग-विशेष की रचनाओं से नहीं। वह वाक्यांश है "हिन्द कविता को विकास की नई दिशाओं में ले जाने वाला कवि", और इस वाक्यांश से इत स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद की कविता को इस प्रकाशन में क्यों स्थान नहीं मिल सकता छायावादी कवि हिन्दी-कविता को न तो नई दिशा में ही ले जाता है और न उसकी दि विकास की ही दिशा है। उद्धृत वाक्यांश में यह गर्भित है कि नयी कविता का रचयि कवि गतिशील हो, क्योंकि 'ले जाना' गतिशीलता के साथ ही हो सकता है और व किन्हीं नई दिशाओं की ओर उन्मुख हो। (मैं जान-बूझकर यहाँ गतिशील कह रहा हूँ, क्यों 'प्रगतिशील' एक 'स्कूल' विशेष की रचना के लिए प्रयोग से रूढ़ हो गया है।) एक बात और भी है जो इस वाक्यांश में पाठक को मिलेगी और वह है इसकी ध्वनि कि यह नया कवि परम्प से पृथक् नहीं है, परम्परागत कविता को ही ग्रहण करके उसे नये मोड़ों से, नई दिशाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर ले जाता है। यह बात अपने लेख के अन्तिम दो वाक्यों में सम्पादक ने और भी स्पष्ट कर दी है। वह कहते हैं : "नई अभिरुचि के जन्म का अर्थ पुरानी अभिरुचि या अभिरुचियों का पूर्णतया नाश नहीं है। वह तो पुराने संस्कारों के बीच ही संघर्षशील होकर नवीन संस्कारों की संस्थापना और संवहन करती हुई अपना मार्ग प्रशस्त करती चलती है।"

सम्पादक के लेख से हमें 'नयी कविता' के विषय में तीन बातें मिलीं : वह नई दिशा की ओर उन्मुख हो, गतिशील हो और परम्परा से असम्बद्ध न हो।

: ३ :

तीन और लेख इस प्रथम अंक में हैं : श्री सुमित्रानन्दन पन्त का, श्री विजयदेव नारायण साही का और श्री गिरिजाकुमार माथुर का। पन्त जी का लेख 'नयी कविता' के शीर्षक से आमुख के रूप में दिया गया है, अतः इसे अधिकृत मानना पाठक के लिए स्वाभाविक ही है। पन्तजी कहते हैं कि छायावाद से "एक प्रकार से नयी कविता प्रारम्भ होती है," पर हमें इसका स्पष्टीकरण नहीं मिलता कि प्रारम्भ छायावाद स्वयं ही है या छायावाद प्रारम्भ कराता है। दूसरे शब्दों में, हम जिस नयी कविता से परिचित कराये जा रहे हैं उसका आदिम रूप छायावाद में मिलता है अथवा उसका उद्गम छायावाद से हुआ। इसके अतिरिक्त, पन्तजी ने 'एक प्रकार से' कहकर अपने कथन को मर्यादित तो किया, साथ ही और भी अस्पष्ट कर दिया। पाठक को यह पूछने का अधिकार है कि किस नयी कविता का, किस प्रकार से छायावाद से प्रारम्भ हुआ ?

आगे चलकर पन्तजी कहते हैं : "नयी कविता विश्व-वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पट को अपने मुक्त छन्दों के संकेतों की तीव्र-मन्द गति-लय में अभिव्यक्त कर, युग-मानव के लिए नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है।" छायावाद की कविता, पन्तजी के ही शब्दों में : "वास्तविकता से आँख-मिचौनी खेलकर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि" कर रही थी। निश्चय ही पन्तजी का यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि जो कविता वास्तविकता से आँख-मिचौनी खेल रही थी वही 'प्रत्येक पल बदलते युग-पट को' अभिव्यक्त कर रही थी या विश्व-वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण कर रही थी। फिर वह कौन-सा 'एक प्रकार' है जिस प्रकार से पन्तजी नयी कविता का प्रारम्भ छायावाद से मानते हैं ?

तुलना की दृष्टि से नयी कविता को देखते हुए पन्तजी कहते हैं कि वह अधिक मौलिक, वैचित्र्यपूर्ण तथा वैयक्तिक हो गई है; अपनी भावना में अधिक रागात्मक तथा मानववादी बन गई है। "वह छायावादी स्वप्नों के कुहासे को हटाकर नवीन वास्तविकता के मुख को पहचानने का प्रयत्न कर रही है। वह अधिक व्यापक यथार्थ की भूमि में पदार्पण करना चाहती है। एक साथ ही वह अधिक वैचित्र्यपूर्ण और अधिक रागात्मक कैसे हो सकी, अधिक वैयक्तिक और मानववादी कैसे बनी, इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित ही रह जाता है। पर इस तुलनात्मक परीक्षण से ऐसा जान पड़ता है कि पन्तजी नयी कविता को छायावाद का नया संस्करण मानते हैं।

: ४ :

श्री विजयदेव नारायण साही का 'परिचय' शीर्षक लेख श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सम्बन्ध में है और उसीके माध्यम से वे नयी कविता के विषय में भी अपने विचार प्रकट करते हैं। लक्ष्मीकान्त जी की कविता को साहीजी नयी कविता का "उदाहरण प्रस्तुत करती-सी" मानते हैं, अतः उनका कथन है कि लक्ष्मीकान्त जी की कविता "भावनाओं के एक सर्वथा नये सामञ्जस्य को ढूँढ़ने का प्रयास" करती है, हम अधिक व्यापक रूप में लें और वह समझें कि उनकी दृष्टि में यह नयी कविता का प्रयास है, तो अनुचित न होगा। इस कथन में महत्त्वपूर्ण शब्द 'सर्वथा नये' हैं, क्योंकि भावनाओं का सामञ्जस्य किसी-न-किसी प्रकार प्रत्येक कविता ढूँढ़ती है, नयी कविता ही क्यों ?

साहीजी कहते हैं : "आज के कवि को एक ही साथ दो बिन्दुओं पर खड़ा (खड़े ?) होकर देखने की चेष्टा करनी पड़ती है।" एक बिन्दु उसकी भावना का केन्द्र है, दूसरा परिवेश का प्रतीक। फलतः "अक्सर नये कवियों में यह दुहरी चेतना तीखे विद्रोह एवं व्यंग्य और कहीं-कहीं विद्रूप एवं कुण्ठा में व्यक्त हुई है।" (विद्रूप किस भाषा का शब्द है और हिन्दी में कैसे आया, यह मैं नहीं जानता। कई स्थानों में इसे देखा अवश्य है, कहीं संज्ञा के रूप में पर अधिकतर विशेषण के रूप में, पर इसके अर्थ का अनुमान ही लगा पाया हूँ।) परिवेश और भावना के परस्पर वैषम्य की अनुभूति और उनमें सामञ्जस्य ढूँढ़ने का प्रयास, उस प्रयास की असफलता से असन्तोष और उस असन्तोष की अभिव्यक्ति में विद्रोह एवं व्यंग्य की झलकया पुट—इसमें कोई मौलिक नवीनता नहीं है। यह सब हमें पुरानी कविता में भी मिलता है, हाँ, कहने के ढंग में नवीनता अवश्य आ गई है। 'भूखे भजन न होहिं गुपाला' और

नंगे बच्चे
भूखी बीवी
साँस रोग-सी ग्रस्त त्रस्त, अंधी कोठरी,
कवि कलाकार, अतिशय भावुक

में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, शैली का ही अन्तर है। उसी प्रकार "जानत हौं चारि फल चारहूँ चनक को" में यही परिवेश और भावना का वैषम्य व्यंजित है। नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' में यह बहुत मिल जायगा। जीवन की नीरसता और कवि की भावुकता, आज के नहीं उतने पुराने यथार्थ हैं जितनी पुरानी कविता स्वयं है।

आगे चलकर लक्ष्मीकान्त जी की कविता के विषय में (अर्थात् नयी कविता के विषय में) साहीजी कहते हैं : "लेकिन शिल्प का विघटन इस सीमा तक पहुँचने पर भी, कविता कविता बनी रह जाय, यह अवश्य आश्चर्य का विषय है। इसी अर्थ में लक्ष्मीकान्त नयी कविता का उदाहरण प्रस्तुत करते-से जान पड़ते हैं। क्योंकि उनकी कविताएँ आभूषण हीन, बल्कि परिधानहीन हैं—यूकेलिप्टस के वृक्ष की भाँति।" पर उनकी कविता में जो "एक अजब-सा खुरदरापन, अनगढ़पन, व्याकृति—परिव्याप्त है, यह जान-बूझकर उतारा हुआ खुरदरापन नहीं है। ·····जिस भावभूमि को उन्होंने ग्रहण किया है उससे उनकी शैली का ऐसा स्वाभाविक सामंजस्य है कि एक को अंगीकार करने पर दूसरा उसकी अनिवार्य परिणति के रूप में अंगीकृत हो जाता है।" साहीजी समझाते हैं कि उनके मन में प्रतिपल होने वाले भावनात्मक विस्फोट के कारण "कविता के शिल्प का गौण—बल्कि अनावश्यक—हो जाना स्वाभाविक था।"

श्री गिरिजाकुमार माथुर छोटे-से लेख में नयी कविता के सम्बन्ध में कहते हैं : "नयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता हम उसे मानते हैं जिसमें इन दोनों के स्वस्थ तत्त्वों का सन्तुलन और समन्वय है।" (यह 'हम' सम्पादकीय 'हम' नहीं है, केवल 'मैं' के स्थान में प्रयुक्त हुआ है।) जिन 'दोनों' के स्वस्थ तत्त्वों की बात की गई है वे दोनों हैं शैली, शिल्प, माध्यमों के प्रयोग और समाजोन्मुखता, जिस पर नयी कविता बल देती है। "जीवन की संघर्षमय कटुता के बीच भारतीय आदर्शानुसार उसकी आशा की लौ निष्कम्प है, क्योंकि उसे विश्वास है कि·····मानवता का भविष्य कल्याणमय है।"

नयी कविता से परिचय पाने के लिए इस प्रकाशन के प्रथम अंक में हमें जो मिलता है वह इतना ही है। इन कथनों की पुष्टि के रूप में पत्रिका के अवशिष्ट भाग (उसके अधिकांश भाग) में कविताओं का संकलन है। स्पष्ट है कि इतने-से मसाले से नयी कविता की मूर्ति नहीं बन पाती और जैसा हम अब देखेंगे, यह सब-का-सब मसाला मूर्ति के बनाने में सहायक नहीं हो पाता, थोड़ा ही हो पाता है।

: ५ :

मैंने ऊपर कहा है कि 'नयी कविता' के प्रथम अंक में प्रयोगवादी कविताओं का बाहुल्य है। वास्तव में अनुपात से वे संकलित कविताओं में प्रायः ६० प्रतिशत होंगी। तो क्या जिसे हम प्रयोगवादी कविता कहते आये हैं वही यह नाम अपनाकर हमारे सामने आई है? यदि हाँ, तो क्यों? यदि नहीं, तो इसमें और प्रयोगवादी कविता में क्या अन्तर है?

प्रयोगवाद न हिन्दी की विशेषता है न भारत की, पर हिन्दी में इसका प्रयोग छायावाद के विरुद्ध विद्रोह के रूप में हुआ। छायावाद, पन्तजी के शब्दों में, "वास्तविकता से आँखमिचौनी खेलकर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि" करता रहा। वास्तविक परुष और नीरस था, छायावाद ने कोमल और स्निग्ध का हाथ पकड़ा; वास्तविक प्रकाश में जलन थी, छायावाद ने अँधेरे में और चन्द्र-किरणों में रहने का अभ्यास किया। यह माया-लोक स्वप्न के समान टूट गया और जग उठने के बाद फिर बलात् आँखें मीचकर स्वप्न देखना सम्भव न हो सका। कविता ने अन्य प्रयोग आरम्भ किये। छायावाद के धुँधले स्वप्न कक्ष से निकलकर उसने बाहर की ऊबड़-खाबड़ भूमि पर पाँव धरे, पर चलने के लिए पाँव अनभ्यस्त थे, वे लड़खड़ाने लगे। आँखें सूर्य के प्रकाश में खुलकर देखने के लिए अनभ्यस्त थीं, वे झिप गईं। उसने विवश हो अपने लिए उपयुक्त साधन ढूँढ़े और कुछ समय के बाद उन साधनों का परित्याग उसके लिए वैसा ही कठिन हो गया जैसा छायावाद के मोह-जाल से बाहर आना था। प्रयोगवाद को अपने प्रयोगों से इतना प्रेम हो गया कि उन्हें उसने जीवन का अंग मान लिया। खुरदरापन जान-बूझकर उतारा जाने लगा।

पन्तजी ने छायावाद से ही 'एक प्रकार से' नयी कविता का प्रारम्भ माना है। उसकी वास्तविकता से दूर रहने की चेष्टा; स्वप्न देखने की प्रवृत्ति; अतिशय कोमल, मधुर शब्द-योजना का अभ्यास—इनसे असन्तोष और अतृप्ति ने उस प्रतिक्रिया को जन्म दिया जिसके द्विधा विभक्त होने के बाद एक का नाम प्रगतिवाद और दूसरी का प्रयोगवाद हुआ। इस अर्थ में इस प्रतिक्रिया का प्रारम्भ छायावाद से हुआ माना जा सकता है। पर पन्तजी का यह आशय नहीं है। वे छायावाद की कविता को ही उस नयी कविता का प्रस्फुटन मानते हैं जिसका नया रूप आज हमारे सामने है। इसमें सन्देह नहीं है कि काव्यानुभूति और अभिव्यक्ति, दोनों ही अर्थों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायावाद की कविता से इस प्रतिक्रिया-जन्य कविता का सम्बन्ध है। पर क्या यही नयी कविता है? छायावाद की सूक्ष्मता, कोमलता और अतीन्द्रिय काव्यानुभूति और अभिव्यक्ति हिन्दी-कविता को जहाँ ले गई थी वहाँ से वापस लाकर उसे ठोस और पार्थिव, सबल और गतिशील बनाना प्रयोगवाद और प्रगतिवाद का काम रहा है। पर दोनों ही छायावाद के प्रभाव से अपने को उन्मुक्त करने के लिए किसी बाह्य, अ साहित्यिक आधार को अपनाने के लिए विवश हुए: प्रगतिवाद ने सामूहिक चेतना का सहारा लिया (जो कला के नैसर्गिक प्रेरणा-स्रोत, व्यक्ति को छोड़ने के कारण मूलतः अ-साहित्यिक आधार है, और प्रयोगवाद ने शिल्प के नवीन प्रयोगों को ही अपनी साधना के रूप में ग्रहण किया।

: ६ :

पर यदि हम यह बात पहले से ही मानकर न चलें कि हमें जितनी भी कविता हिन्दी में मिलती है वह हिन्दी-कविता की परम्परा में ही है, चाहे उसके साथ चलें या उसके प्रतिकूल, तो हमें एक ऐसी कविता के दर्शन हो सकेंगे जो मूलतः हिन्दी-काव्य की परम्परा में है ही नहीं। यह हिन्दी-काव्य की भागीरथी की कोई शाखा या नहर नहीं है। वर्तमान युग-जीवन भावनात्मक विस्फोटों का (और वैज्ञानिक विस्फोटों का भी) जीवन है। साहीजी ने जो बात लक्ष्मीकान्त जी की कविता के माध्यम से नयी कविता के लिए कही है, मैं समझता हूँ कि वह सर्वांशतः सत्य है। पन्तजी ने अपने छोटे-से आमुख में आज के युग की वास्तविकता की भूमि में एक भूकम्प की बात कही है। इस भूकम्प और इन विस्फोटों के परिणाम-स्वरूप जो नई काव्य-धारा फूट चली है वही आज के युग की वास्तविक नयी कविता है। यह किसी एक देश, किसी एक समाज, साहित्य अथवा संस्कृति की नहीं, समस्त मानवता की जीवन-भूमि में बह निकली है, सभी साहित्य को प्लावित करती है। हिन्दी में भी हम उसे देखते हैं और अन्य भाषाओं के साहित्य में भी। यह इस युग की देन है, अतएव यह सच्चे अर्थ में नयी कविता है।

राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, अन्य क्षेत्रों में भी हम आज एक देश के नहीं अनेक देशों के नागरिक हैं। विचारों के स्तर पर हम संसार-भर के नागरिक हैं, क्योंकि आज किसी देश या भाषा का साहित्य केवल उसका ही नहीं पठित मानव का है, वह कहीं क्यों न हो। हमारा जीवन, हमारी भाव-भूमि, हमारा विचार-जगत् सभी विस्तृत और व्यापक हो गए हैं। हमारी समस्याएँ औरों की भी समस्याएँ बन गई हैं, औरों की हमने अपना ली हैं। कोरिया में हमारे सैनिक ही नहीं गये, हम भी वहाँ गए। वहाँ के दुःख, दैन्य हमने भी सहे, जैसे वे सचमुच हमें अनुभव करने पड़े हों। अणु और उद्जन बम की विभीषिका से हम वैसे ही आतंकित हैं जैसे अमेरिका और योरोप के निवासी। टी० एस० इलियट और रिल्के, सार्त्र और शॉ से हम भी परिचित ही नहीं प्रभावित भी हैं। यह अनिवार्य था कि हम सब अनेक देशवासियों का जीवन जैसे-जैसे एक-दूसरे के सम्पर्क में आता गया और एक-दूसरे से प्रभावित होने लगा, उसी गति से हम सब अपनी सीमाओं को उत्तरोत्तर ढीली होती पाते गए। अनिवार्यतः हम किसी-न-किसी रूप, किसी-न-किसी अंश में युग-मानव में परिणत होते गए और हमारी काव्यानुभूति अधिकाधिक व्यापक स्तर पर संवेदनशील होती गई। हमारे काव्य-प्रेरणा के स्रोत अनेक दिशाओं से फूट निकले। एक सार्वदेशिक काव्य-प्रेरणा इस व्यापक काव्यानुभूति और संवेदनशीलता के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठी और उसने अनेक भाषाओं ने अनेक माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्ति पाई। वही युग की नयी कविता है।

यह कविता किसी देश के साहित्य की परम्परा में नहीं है, क्योंकि यह किसी साहित्य के नैसर्गिक विकास का कोई संस्थान नहीं है। यह युग-कविता मानव-मात्र की कविता है और वह युग मानव के लिए नयी भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है। हम स्वयं ही इस युग-मानव के अभिभावक और उत्तराधिकारी हैं। युग-मानव की यह नयी भाव-भूमि सार्वभौम है, उसकी कविता सभी पुरानी सीमाओं को लाँघकर एक ऐसे व्यापक स्तर पर प्रस्फुटित हुई है जहाँ न उसे किसी समाज या साहित्य की परम्परा से बल मिलता है न उसकी कुण्ठा और विवशता ही उसकी सहज अभिव्यक्ति को दबा पाती है।

प्रयोग इस कविता के लिए अनिवार्य प्रणाली है, क्योंकि यह मूलतः नयी है और अपने लिए उपयुक्त कलेवर इसे स्वयं ही गढ़ना है। पर यह प्रयोग किसी 'वाद' के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक ढंग से नहीं करती, न ही इसे प्रयोग के लिए प्रयोग करना है। शिल्प इसके लिए वास्तव में न गौण है न प्रधान, शिल्प और विषय-वस्तु अन्योन्याश्रित हैं—एक के बिना दूसरा निरर्थक है। इस नयी कविता को अपने लिए नये द्वन्द्वों का आविष्कार और निर्माण करना पड़ता है क्योंकि परम्परागत छन्द और शैलियाँ इसके लिए उपयुक्त नहीं हैं, न कि इसलिए कि इसे परम्परा के विरोध में नयी शैली अपनानी है। नयी कविता परम्परा-निरपेक्ष है, परम्परा-विरोधिनी नहीं। यदि परम्परा-सम्मत शैली इसे अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त जान पड़ी तो इसने निःसंकोच ग्रहण किया; नहीं, तो उसे वैसे ही निःसंकोच छोड़ दिया। परम्परा से उसे न वैर है, न प्रेम।

: ७ :

'तार सप्तक' की भूमिका में 'अज्ञेय' ने उसके सात कवियों के एकत्रीकरण का आधार बताते हुए लिखा था : "ये सातों अन्वेषी हैं।.....किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राहों के अन्वेषी।" हमारे आज के युग-मानव ने भी कोई मंज़िल नहीं पाई, वह भी राह का अन्वेषी है। अन्वेषण में प्रयोग निहित है। अतः हमारी युग-कविता प्रयोग की कविता है, पर इस नयी कविता को प्रयोगवादी कविता कहना ठीक नहीं है क्योंकि इसके लिए प्रयोग प्रधान नहीं है, प्रयोग की अभिव्यक्ति प्रधान है क्योंकि प्रयोग ही जीवन है। महात्मा गांधी ने अपने आत्म-चरित का नाम 'सत्य के निमित्त प्रयोग' रखा था। ठीक उसी तरह हमारे युग-मानव का जीवन प्रयोग की कथा है। और जिस प्रकार महात्मा गांधी की जीवनी को 'आत्मचरित का प्रयोग' कहना भ्रामक होगा वैसे ही इस नयी कविता को प्रयोगवादी कविता कहना अर्ध-सत्य ही होगा। नयी कविता प्रयोग करती है, पर अभिव्यक्ति के लिए—क्योंकि जिस काव्यानुभूति से उसे प्रेरणा मिली वह स्वयं ही प्रयोग है।

इसका निर्णय करना कि कौन-सी कविता वास्तव में नयी कविता कही जाने योग्य है और कौन-सी, प्रयोगवादी 'स्कूल' की शैली में होते हुए भी, इस नाम की अधिकारिणी नहीं है, इसलिए कुछ कठिन हो सकता है कि नयी कविता और 'प्रयोग के लिए प्रयोग' की कविता की आकृति में सादृश्यता है। पर यह सादृश्यता केवल बाह्य ही है, आकृति तक ही सीमित है। सच्ची नयी कविता पाठक के मन में यह शंका उठने ही न देगी कि उसके कलेवर अथवा परिधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की असाधारणता 'जान-बूझकर उतारी गई है' या उसकी अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य थी। नयी कविता की विषय-वस्तु इस अर्थ में बिलकुल नयी होगी कि उसकी प्रेरणा के स्रोत नये होंगे और उसकी काव्यानुभूति नयी और इस युग की होगी। वह गतिशील होगी और विकास की दिशा की ओर उन्मुख होगी। परम्परा-निरपेक्ष होगी। विश्व-वर्चस्व से उसे प्रेरणा मिली होगी और वह युग-मानव के लिए नयी भाव-भूमि प्रस्तुत करती होगी। वह 'परप्रत्ययनेयबुद्धि' न होगी, क्योंकि वह युग-मानव की कविता है और युग-मानव के लिए कोई 'पर' नहीं हो सकता। पूर्ववर्तियों द्वारा आविष्कृत, परम्परा द्वारा आनीत सत्य उसके लिए अपर्याप्त है; क्योंकि जग-जीवन का यह युग स्वयं ऐसे सत्य की खोज कर रहा है जिसको वह अपना सके, जिसमें उसकी सार्थकता हो। सत्य एक और अविभाज्य है पर उसके रूप अनेक हैं और मानव-जीवन के दृष्टि-कोण प्रत्येक युग में परिवर्तित होते रहते हैं। किसी समय भी वह सत्य को उसी रूप में देख, पहचान और अपना सकता है जिस रूप में वह उस समय, उसके लिए सार्थक हो। विगत युगों के दर्शन को वह सर्वांशतः अपना नहीं बना सकता, क्योंकि जीवन गतिशील और परिवर्तनशील है। उसे अपना सत्य स्वयं खोजना है और इसमें ही सुन्दर और शिव की खोज भी निहित है।

नयी कविता युग-मानव की कविता है और युग मानव आज के प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्तित्व का सामूहिक नाम है। वह किसी एक देश वा नागरिक अथवा एक भाषा का भाषी नहीं है। हम जब बहुत-सी आधुनिक कविता में अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग देखते हैं तो चौंकते हैं, पर वह चौंकने की बात नहीं है, स्वाभाविक ही है।

इसकी सम्भावना कि प्रतिवर्ष दो बार अच्छे स्तर की इतनी नयी कविताएँ उपलब्ध हो जायँ कि यह प्रकाशन सूम कैसों दान, महामूढ़ कैसो ज्ञान न बन जाय, यदि अधिक नहीं है तो बहुत कम भी नहीं है। हाँ, चयन में कुछ अधिक सावधानी और मनीषी की निर्ममता अपेक्षित है। 'नयी कविता' के पहले अंक में बहुत उदारता से काम लिया गया है। यह उदारता नयी कविता के लिए हितकर नहीं हो सकती। आगामी अंकों में यदि सम्पादक इस ओर अधिक ध्यान दें तो बहुत अच्छा हो। साधारण की नक़ल बहुत कठिन है, असाधारण की आसान है। नयी कविता असाधारण है। उसकी नक़ल बायें हाथ का खेल है। शिल्प का विघटन, विषय-वस्तु की विलक्षणता, उक्ति की दुरूहता नयी कविता की ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण 'नक़्क़ालों से सावधान' का नारा लगाते रहना आवश्यक है।

यद्यपि कलेवर की पुष्टि (सम्भवतः मित्रों की तुष्टि भी) भरती की चीज़ों से हो सकती है और उन्हें अन्दर आने देना सच्ची नयी कविता के उदाहरणों को बाहर निकालने का कारण न न बने यह भी सम्भव है, फिर भी यह नयी कविता को पहचानने और उसे समुचित आदर का स्थान दिलाने में बाधक हो सकता है। 'नयी कविता' के पहले अंक में कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें नयी या पुरानी, किसी प्रकार की कविता, मानना कठिन है, कुछ ऐसी हैं जो किसी 'विविध, विषय-विभूषित' पत्रिका में तो न खटकतीं पर इस विशिष्ट प्रकाशन में अजनबी 'गेट क्रैशर'-सी लगती हैं। कुछ चीज़ें 'किंचित् कविता' के कठघरे में से चुपके से, आँख बचाकर बाहर आई हुई लगती हैं, जैसे श्री रामबहादुर 'मुक्त' के मुक्तक। इनकी 'अपशकुन' शीर्षक कविता अप-शकुनों की लिस्ट है। यदि वह गम्भीर कविता है तो Thirty days hath September april, June and November' भी कविता है—पर वह नयी कविता होने का दावा तो नहीं करती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अज्ञेय' की 'यह दीप' शीर्षक रचना नयी कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनकी 'आज तुम शब्द न दो, न दो' नयी है, पर कविता नहीं; क्योंकि रस की सृष्टि नहीं करती। विचार-जन्य, विचाराश्रित, विचार-प्रधान रचना भी कवि की संवेदनशीलता से प्रभावित होकर रस की सृष्टि कर सकती है। इसके अगणित उदाहरण हमें नये और पुराने साहित्य में मिलते हैं। पर सब-कुछ होते हुए भी रस की सृष्टि किये बिना कविता की सार्थकता ही नहीं है। 'काँगड़े की छोरियाँ' अच्छी है पर उसमें कोई ऐसी मौलिक नवीनता नहीं है कि वह नयी कविता का प्रतिनिधित्व कर सके। अन्य रचनाओं में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : श्री धर्मवीर भारती की दोनों कविताएँ, श्री गिरजाकुमार माथुर की 'तैंतीसवीं वर्ष गाँठ', श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'हस्ताक्षर' और 'आत्म-परिचय' (कुछ 'जान-बूझकर उतारी गई' विचित्रताओं के बावजूद), श्री नरेश मेहता की सुन्दर कविता 'पीले फूल कनेर के', श्री रघुवीरसहाय की 'आज फिर', श्री श्याममोहन श्रीवास्तव की कविता 'संकल्प', श्री कुँवरनारायण की 'जाड़ों की एक दोपहर' आदि। श्री सर्वेश्वरदयाल की कविताएँ 'खाली समय में' और 'लिपटा रजाई में' अच्छी हैं, पर उनकी नवीनता, मात्र शैली की नवीनता, उससे गहरी नहीं है।

'किंचित् कविता' खण्ड में जो भँड़ैतों के नमूने दिये गए हैं उनकी ओर आलोचकों का ध्यान गया है, पर उन पर गम्भीरतापूर्वक आलोचना समय का अपव्यय-मात्र है। किसी से मनोरंजन हो पाता है, किसी से नहीं। पर इनकी संख्या बहुत अधिक है। मुक्त छन्द में भँड़ैती बहुत ही आसान हो जाती है। मज़ाक़ गद्य की शक्ल में न लिखकर उसकी नयी कविता सरीखी आकृति बना दें तो वह क्या कविता हो गई?

अन्त में, इस पर ज़ोर देकर कि 'नयी कविता' में प्रकाशित करने के लिए रचनाओं के चयन में अधिक सावधानी और कड़ाई की जाय, मैं सम्पादकों से फिर कहूँगा कि वे अपने प्रकाशन में नयी कविता की व्याख्या की ओर अधिक ध्यान दें। यह आवश्यक है कि हिन्दी-जगत् इस पर विचार करे और इसके विषय में हम एक निष्कर्ष पर पहुँचें कि नयी कविता क्या है? इस समय तो जाकी रही भावना जैसी, यह कविता देखी तिन तैसी।[1]

डॉ० जगदीश गुप्त

तीन नये काव्य-संग्रह : 'बावरा अहेरी', 'रात बीती', 'धरती और स्वर्ग'

हिन्दी कविता के क्षेत्र में पिछले वर्ष जो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए उनमें 'अज्ञेय' का 'बावरा अहेरी', बालकृष्ण राव का 'रात बीती', और डॉ० देवराज का 'धरती और स्वर्ग' कई दृष्टियों से प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका प्रकाशन एक ऐसे युग में हुआ है जब कविता नये धरातल को खोजती

१. 'नयी कविता', सम्पादक : डॉ० जगदीश गुप्त, श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी। कविता प्रकाशन प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई नवीन सन्तुलन ग्रहण करने में संलग्न है इसीलिए इनके मूल्यांकन के साथ यह प्रश्न सहज रूप से उभर आता है कि इस सन्तुलन को घटित करने में इनका वास्तविक योग क्या है ? यहाँ इनका मूल्यांकन मुख्यतया तीन आधारों पर किया गया है। एक है कथन की सहज भाव-संकुलता (natural emotivity), दूसरा कलात्मक संयम (artistic restraint) से युक्त कृतित्व-शक्ति (creative power) और तीसरा सशक्त रचनाओं की संख्या।

कोई भी कविता भाव से सम्बद्ध होने-मात्र से भाव-संकुल नहीं हो जाती। इस तत्त्व का सम्बन्ध सीधे-सीधे मूल अनुभूति की शक्ति से है। अधिक सशक्त अनुभूति अधिक भाव-संकुल काव्य को जन्म देगी किन्तु जब मैं 'सहज भाव संकुलता' की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय अनुभूति से न होकर 'काव्यानुभूति' (poetic feeling) से है। 'अनुभूति' और 'काव्यानुभूति' के बीच स्पष्ट अन्तर है। अनुभूति किसी-न-किसी प्रकार सबको होती है, कवि को भी, किन्तु काव्यानुभूति, जिसके अन्तर्गत रूप-विधान और अभिव्यंजना की मातृ-शक्ति निहित रहती है, कवि की निजी विशेषता है। यह सहज और कृत्रिम दोनों ही रूप में व्यक्त हो सकती है। जब काव्यानुभूति मूल अनुभूति के समानान्तर आन्तरिक सूक्ष्म सन्तुलन को बिना छेड़े सारी कलात्मक प्रक्रिया को स्वभावतः अपने भीतर समाहित करती चलती है तो वह उसकी सहज स्थिति होती है, किन्तु जब यह सूक्ष्म आन्तरिक सन्तुलन टूट या विकृत हो जाता है तो रचना का निर्वाह करने के लिए कृत्रिमता का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसी दशा में मूल अनुभूति और काव्यानुभूति का अन्तर बढ़ता-घटता रहता है और परिणामस्वरूप जो भाव-संकुलता आती भी है वह कृत्रिम ही होती है। 'बावरा अहेरी' की कविताओं का सृष्टा अनुभूति के क्षण को तथा काव्यानुभूति के प्रवाह को परखने और आँकने में अधिक सक्षम है। उसके आगे ऐसी स्थिति कदाचित् नहीं आती कि वह 'रात बीती' के कवि की तरह काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में अपनी विजय के परिमाण को नापता हुआ घोषित करे—'.....परिस्थिति और वातावरण पर काव्य-प्रेरणा जिस परिमाण में विजय पा सकी, उसी परिमाण में 'पद्य-कृति' कविता बन सकी।' सी० बी० राव की रचनाओं को पढ़ने पर बराबर ऐसा लगता है जैसे अनुभूति के उक्त दोनों रूपों के बीच एक अन्तर प्रायः सर्वत्र बना रहता है। डॉ० देवराज की कविताओं में इस अन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अधिकांश स्थलों पर उनकी अनुभूति काव्यानुभूति में परिणत होते-होते रह जाती है। इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण अपेक्षित हैं।

'बावरा अहेरी' की इसी शीर्षक की कविता की कुछ पँक्तियाँ इस प्रकार हैं :

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ :

'रात बीती' की सबसे पहली कविता 'दो चित्र' की प्रारम्भिक तीन पंक्तियाँ यह हैं :

डूबता है चाँद, तारे मुँह छिपाते,
काँपते, हारे, थके, सहमे हुए-से—
क्योंकि अब सूरज निकलने जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त दोनों कविताओं की दिशा, प्रकार, धरातल और उक्ति-विधान सभी कुछ एक-दूसरे से अलग है—थोड़ी-सी वस्तुगत समानता को छोड़कर, तो भी दोनों कवियों की भावात्मक प्रक्रिया की थोड़ी-बहुत तुलना की जा सकती है। 'अज्ञेय' की पंक्तियों में उक्ति-विधान के बावजूद वस्तु के प्रति एक आत्मीय तरलता है जब कि सी० बी० राव उक्ति का निर्माण कुछ-कुछ तटस्थ भाव से करते प्रतीत होते हैं। कलात्मक पूर्णता के लिए एक प्रकार की तटस्थता भी अपेक्षित होती है किन्तु भाव-संकुलता (emotivity) के मूल्य पर नहीं। 'रात बीती' की अधिकांश कविताएँ इसी प्रकार सूक्ति-मूलक हैं जिनमें कवि के अनुभूतिशील व्यक्तित्व से सूक्तिकार का व्यक्तित्व लगभग असम्पृक्त किन्तु अधिक सचेष्ट दिखाई देता है। बहुत सी पंक्तियों की सार्थकता भाव में न होकर केवल उक्ति में निहित मिलती है। पर 'अज्ञेय' का वस्तु-संगठन सूक्ति-गर्भित होते हुए भी भाव-तत्त्व को आत्मसात् करता हुआ उसीसे उपजता लगता है। इसी तरह उनकी एक दूसरी कविता है 'प्रथम किरण'; जिसमें 'वन पाखी' प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है फिर भी उससे कवि का आत्मीय सम्बन्ध साफ़ झलक उठता है। इस 'वन पाखी' से डॉ० देवराज की 'काला मुखड़ा, पीठ व गर्दन' वाली 'ओ चिड़िया, जंगल की चिड़िया!' की तुलना करने पर काव्यानुभूति का अन्तर सहज ही प्रकट हो जाता है। 'धरती और स्वर्ग' में ही ऐसी अनेक रचनाएँ हैं जो काव्यानुभूति की दृष्टि से इस कविता से श्रेष्ठतर हैं।

दूसरा आधार है 'कलात्मक संयम से युक्त कवित्व-शक्ति' का, जिसके द्वारा काव्यानुभूति शरीर धारण करके संवेद्य तथा प्रेषणीय बनती है। कवित्व-शक्ति के होते हुए भी कलात्मक संयम के अभाव में अभिव्यक्ति फैल सकती है, बिखर सकती है और कभी-कभी विकेन्द्रित अथवा विशृंखलित होकर असुन्दर भी लग सकती है। अज्ञेय की कविताओं में संयमन की वृत्ति एक अन्तर्भूत तत्त्व की तरह निहित मिलती है जो कला की दृष्टि से अब तक की नई कविता के सम्पूर्ण क्षेत्र में अद्वितीय कही जा सकती है। रचना के समस्त अंगों पर कवि की दृष्टि रहती है और प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट अभिव्यंजना-प्रणाली के अनुरूप अपनी सार्थकता सिद्ध करता चलता है। कविता पढ़ते समय एक सधे हुए शिल्पी के कृतित्व का बोध होता है। इस कलात्मक कसाव के प्रयत्न में कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है जैसे मूल भाव की नसें आवश्यकता से अधिक खिंच गई हों। शब्दों को अभीप्सित अर्थ के अनुरूप वाक्यांशों में साधकर रखने की प्रवृत्ति कवि को कुछ ऐसे शब्दों तक ले जाती है जो ठेठ देशज, साधारणतया कविता में अप्रयुक्त और कभी-कभी ग्रामीण तथा अनगढ़ भी होते हैं। 'मचिया', 'अँजुरी', 'पौन', 'अलसानी', 'टिमक', 'पुहुप', 'झोंप', 'मतियाया', 'लील', 'विस्वास', 'अकास', 'हेरा गयीं', आदि बीसों शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग, (निश्चय ही इसमें प्रयोगशीलता का भाव रहता है) कलात्मक उद्देश्य से होने के कारण अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। यह नई अभिव्यक्ति को जन्म देने के लिए आवश्यक भी है परन्तु इनकी अधिकता प्रेषणीयता में बाधक भी हो सकती है। अज्ञेय न केवल शब्दों के प्रति वरन् वाक्यांशों के क्रम और पंक्चुएशन के चिह्नों तक के सम्बन्ध में विशेष जागरूक रहते हैं। 'रात बीती' का कवि भी अपनी रचनाओं में इस बात के प्रति सजग दिखाई देता है कि कम-से-कम शब्दों में वह अपने अभिप्राय को व्यक्त कर दे। वस्तुतः सी० बी० राव का ध्यान नये अर्थ को सँवारने और समाहित करने की ओर उतना नहीं रहता है जितना कि नई बात (अनुभव के नये खण्ड) को नये ढंग से कहने की ओर। पुराने शब्दों से अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम चलाने के वे अभ्यासी प्रतीत होते हैं। उनकी कला की सार्थकता कृतित्व-शक्ति की अपेक्षा अभिप्राय को सधे ढंग से कुछ चुटीला बनाते हुए व्यक्त कर देने में है। डॉ० देवराज का ध्यान भी नये अर्थ को सँवारने की ओर कम रहता है इसीलिए उनकी रचनाओं से वह कलात्मकता कम मिलती है जो नये कवि की कृतित्व-शक्ति को प्रकट करती है। कला का जो भी रूप उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है उसमें आधुनिक के साथ मध्यकालीन मनोवृत्ति का मिश्रण मिलता है।

तीसरे आधार को स्पष्ट करने से पूर्व प्रत्येक संग्रह की कविताओं पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है।

'बावरा अहेरी' सन् १९४९ में प्रकाशित 'हरी घास पर क्षण भर' के पाँच वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। इसमें '५० से लेकर '५३ तक की कविताएँ संग्रहीत हैं। भूमिका इसमें है नहीं, अतः कवि को इस संग्रह की कविताओं के सम्बन्ध में क्या कहना है यह अज्ञेय ही रहा है। प्रकाशक ने अवश्य घोषित किया है कि "...'हरी घास पर क्षण भर' के बाद की ये कविताएँ उनकी साहित्यिक प्रगति की परिचायक हैं। उनकी काव्य-अभिव्यंजना का सारा सौन्दर्य और माधुर्य इनमें है। एक जागरूक कवि की ये कविताएँ हिन्दी-कविता-साहित्य में अप्रतिम हैं...।"

जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, इसमें संग्रहीत कविताओं का कलात्मक सौन्दर्य और भाव-गरिमा असंदिग्ध है, किन्तु क्या यह संग्रह अज्ञेयजी के कवि-व्यक्तित्व को आगे ले जाता है, 'उनकी साहित्यिक प्रगति' का परिचय देता है, यह प्रश्न विचारणीय है? क्या पिछले पाँच वर्ष के बाद हम उनसे इससे भी अधिक प्रौढ़ तथा अधिक समृद्ध काव्य-कृति की आशा नहीं करते थे। कुछ लोगों की तो निश्चित धारणा है कि 'हरी घास पर क्षण भर' की तुलना में, सब पक्षों को दृष्टि में रखते हुए 'बावरा अहेरी' उत्कृष्टतर कृति नहीं है। मैं इस मत से पूरी तरह सहमत नहीं हूँ, क्योंकि इस संग्रह में कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनके समकक्ष, भाव और कलात्मक प्रौढ़ता की दृष्टि से कवि की पिछली कोई रचना शायद ही रखी जा सके। 'बावरा अहेरी' की कविताएँ कई वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं। प्रथम वर्ग में 'आज तुम शब्द न दो', 'प्रथम किरण', 'वर्षान्त', 'देहवल्ली', 'यह दीप अकेला', 'शोषक भैया', 'विज्ञप्ति दफ्तर : शाम', 'झरने के लिए' और 'जो कहा नहीं गया' शीर्षक कविताएँ आती हैं; जिनमें कवि का जीवन-दर्शन और चिन्तन मानवीय सत्य को सहज रूप में ग्रहण करने की वृत्ति के साथ उभरकर सामने आया है। इस संग्रह की पहली और अन्तिम कविता के स्वर में एक विचित्र समानता है किन्तु वह आकस्मिक प्रतीत नहीं होती। ऐसा लगता है जैसे ये सारी रचनाएँ एक विशिष्ट मनःस्थिति में लिखी गई हैं जब कवि के आगे गहन अनुभूति और नये अभिप्राय को सशक्त रूप में व्यक्त करने की समस्या सर्वप्रमुख रही है। यह समस्या दोहरी है। न केवल ज्ञात अर्थों के लिए शब्दों का अभाव है, असमर्थता है, वरन् उन अर्थों को जानने की भी आकांक्षा है जो शब्दातीत हैं।

आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा।
.....
गति जहाँ सब कुछ है, तुम धृति पारमिता
जीवन के सहज छन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हें पहचानता हूँ
माँगो तुम चाहे जो : माँगोगे, दूँगा
तुम दोगे जो सहूँगा।[1]
है, अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।
.....
उस विशाल में मुझसे
बहा नहीं गया।
इसलिए जो और रहा, वह
कहा नहीं गया।
शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।[2]

अभिव्यक्ति और आकलन की यह दोहरी समस्या इतनी गहन है कि इसका दर्द कवि को असह्य है। अभिव्यंजना की कठिनाई पुरानी वस्तु है; किन्तु उसमें एक वेदना निहित है यह आधुनिक युग के नये कवि ने अनुभव किया है। यह वेदना छायावाद-युग की रहस्यात्मक विरह-वेदना से सर्वथा भिन्न और गम्भीरतर है।

पूर्वोक्त चिन्तन-प्रधान कविताओं में अतिशय यान्त्रिकता के बोझ से विकृत होते हुए जीवन के प्रति संवेदना, मृत्यु को अन्तिम विराम-चिह्न मानते हुए 'सिहर झरने' का सन्देश तथा व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता को रक्षित रखते हुए भी जन-जीवन की धारा में उसे समर्पित कर देने और उसीमें उसकी चरम सार्थकता मानने की भावना प्रमुख है जन-जीवन और व्यक्ति के बीच एक सन्तुलन खोजने की समस्या इस युग की सबसे बड़ी समस्या है। आज का कोई भी प्रबुद्ध कलाकार इससे बचकर नहीं रह सकता। 'बावरा अहेरी' की कई रचनाओं में इसका संकेत है किन्तु इससे पूर्व 'हरी घास पर क्षण भर' में भी यह समस्या कवि के सामने रही है। उदाहरणार्थ 'नदी के द्वीप', 'कवि, क्या हुआ फिर', 'सपने मैंने भी देखे हैं' तथा 'कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !'-जैसी कविताओं के नाम लिये जा सकते हैं। इनकी कुछ पंक्तियाँ तो इस प्रश्न को अत्यन्त स्पष्ट रूप में सामने रखती हैं। जैसे :

अपने से बाहर आने को छोड़ नहीं आवास दूसरा[3]

अथवा

नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान
विश्व-जन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यक्ति का अभिमान[4]

किन्तु जिस रूप में इसको यहाँ प्रत्यक्ष किया गया है उसमें कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व आबद्ध होता नहीं लगता। ज्ञात होता है जैसे प्रत्यक्षकर्ता प्रश्न के तट पर खड़ा है उसकी प्रखरता की धार में डूबा-उतराया नहीं है। 'बावरा अहेरी'में की कतिपय कविताओं में जिस रूप में यह प्रश्न

१. संग्रह की प्रथम कविता से।
२. संग्रह की अन्तिम कविता से।
३ सपने मैंने भी देखे हैं, से।
४. कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति ! से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभरकर आया है उससे प्रतीत होता है जैसे वह कवि के अस्तित्व में समाहित होकर उसका एक अंश बन गया है। व्यक्तिगत स्नेह-अहंकार को वह अब तक जीवन का सबसे बड़ा मूल्य मानता हुआ उसकी वास्तविक महत्ता को खोज रहा था; जो उसे मात्र आत्मस्थ होने पर नहीं उपलब्ध हो सकी थी। 'यह दीप अकेला' शीर्षक कविता, जिसे मैं इस संग्रह की श्रेष्ठतम कविताओं में से एक मानता हूँ, ऐसी मनःस्थिति में लिखी गई है जब उसने एक मूल्य से ऊपर उठकर—त्यागकर नहीं—दूसरे मूल्य को स्वीकार कर लिया है। व्यक्ति के स्नेह-अहंकार की सार्थकता उसने पंक्ति (सुशृङ्खलित समाज) के आगे अर्पित हो जाने में मान ली है :

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

तथाकथित जनवादियों ने इस भावना को पग-पग पर व्यक्त किया है—पर नारे के रूप में, बिना गहन आत्म-मंथन के, बिना आन्तरिक उपलब्धि के; फलतः बार-बार दोहराई जाकर भी वह अब तक निष्प्राण ही रही। शोषकों की सैद्धान्तिक रूप से भर्त्सना करने वालों की एक भी कविता ऐसी नहीं मिलती जिसमें शोषकों के प्रति इतना तीखा व्यंग्य आ सका हो जितना इस संग्रह की 'शोषक भैया' कविता में। इन कविताओं के आधार पर यदि यह कहा जाय कि ये उच्चतर मानसिक धरातल को व्यक्त करती हैं तो सही ही होगा। 'दीप' के इस प्रतीक को 'द्वीप' (नदी के द्वीप) के प्रतीक से मिलाकर देखने पर भी यही परिणाम निकलता है, क्योंकि इसे उसकी तरह 'यदि' और 'तो' की बैसाखियों पर टिकाने का प्रयास नहीं किया गया है। 'बावरा अहेरी' में एक और कविता है 'प्रथम किरण', जिसका उल्लेख पहले भिन्न प्रसंग में हो चुका है, उसमें भी, 'अपने छोटे छन' की 'गरिमा महिमा' वनपाखी के माध्यम से पृथक् आकलित करते हुए 'जन-जीवन' के आगे प्रणत होकर अपनी मानसिक, शारीरिक सभी साधना सहज भाव से अर्पित की गई है। यह स्वर प्रयोगशील कविता पर लगाये गए संकीर्ण व्यक्तिवादिता के आरोप को भ्रामक सिद्ध करता है! जो लोग जन-जीवन की उपासना व्यक्ति की बलि देकर करना चाहते हैं उनका पथ दूसरा है; वे रक्त-क्रान्ति में विश्वास करते हैं, किन्तु जो आत्म-प्रेरणा से जन-जीवन के आगे अर्पित होने को श्रेयस्कर समझते हैं, उनका भी अपना एक मार्ग है।

दूसरे वर्ग में उनकी वे कविताएँ आती हैं जिनमें उनका कलाकार उभरकर सामने आया है। 'हवाई यात्रा' तथा 'बावरा अहेरी'-जैसी कविताएँ इस बात को व्यक्त करती हैं कि 'अज्ञेय' की कल्पना सावयव प्रतीकों (symbols) और प्रतिमाओं (images) के निर्माण में विशेष सक्षम है। यह उसी कवि में सम्भव है जिसका रूप-बोध परिष्कृत हो और तन्त्र-कौशल भी विशिष्ट हो। उत्तर छायावादी युग के कवियों में, यह गुण उनमें सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उनकी ऐसी कविताओं में प्रायः एक आन्तरिक ढाँचा (structure) होता है जो काव्यानुभूति में निहित रूप (form) का ही अंग होता है और क्योंकि कविताओं की उत्कृष्टता में वे उदात्तीकरण अथवा घनत्व (sublimation or intensification) की अपेक्षा इस तत्त्व पर विशेष बल देते हैं इसीलिए उन्हें रूपवादी या 'फार्मलिस्ट' कहा जाता है। मैं इसे अनुचित नहीं मानता। उनकी इस प्रकार की रचनाओं का गहन विश्लेषण होना चाहिए; जो यहाँ सम्भव नहीं है। यों यदि हर्बर्ट रीड का आधार लेकर कहा जाय तो उनकी कविताओं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकतर 'organic form' ही रहता है।[1]

तीसरे वर्ग में 'घास फूल धैर्य का', 'ऊगा तारा', 'तारा दर्शन', 'सन्ध्या तारा', 'खद्योत-दर्शन', 'शरद की साँझ के पंछी' और 'वसन्त की बदली'-जैसी कई कविताएँ आती हैं जिनमें प्रकृति की लघु-लघु, उपेक्षित एवं नगण्य वस्तुओं से आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हुए प्रकृति की विशालता में आत्म-विलय, जिसे दूसरे रूप में आत्मोपलब्धि भी कहा जा सकता है, की भावना प्रधान है। 'हरी घास पर क्षण भर' में कवि अपने इस 'प्रकृतिवाद' को उपेक्षा भाव से देखने वाली दृष्टि के प्रति व्यंग्यशील दिखाई देता है :

प्रकृतिवाद है स्खलन
क्योंकि युग जनवादी है

उस संग्रह में भी 'कलगी बाजरे की' और 'मैले उपमान' आदि कई ऐसी कविताएँ हैं जो प्रकृति की बाँहों में खोये हुए कवि के हृदय से निकली हैं। प्रकृति के प्रति कवि का सख्य-भाव रहा है। 'बन्धु हैं नदियाँ' में उसने स्पष्टतः कहा है 'प्रकृति भी बन्धु है'। मानवीय जीवन को देखते समय सहज भाव से नैसर्गिक रमणीयता के प्रतीकों को लेना अज्ञेय के कवि-व्यक्तित्व की एक प्रमुख विशेषता है। 'बावरा अहेरी' की उक्त रचनाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि कवि प्रकृतिवाद को अपनाते हुए भी उसके कारण अब जनवाद के प्रति व्यंग्य नहीं करता वरन यहाँ भी उसने एक समन्वय और सन्तुलन की स्थिति पाने का प्रयत्न किया है। इस स्थल पर मैं फिर 'प्रथम किरण' शीर्षक कविता का उल्लेख करूँगा : क्योंकि उसमें अज्ञेय की व्यक्तिवादी, प्रकृतिवादी तथा नवविकसित जनवादी, तीनों प्रकार की चेतना का संगम मिलता है। इससे भी मेरी यह स्थापना प्रमाणित होती है कि 'बावरा अहेरी' भावना की दृष्टि से कवि के विकसित मानस की रचना है और कला के प्रश्न को भी इससे नितान्त असम्बद्ध नहीं माना जा सकता।

प्रकृति की क्रोड़ में विसुध होकर लिखी हुई इन रचनाओं के साथ ही 'वह नाम' और 'वहाँ रात'-जैसी कविताएँ भी मिलती हैं जो व्यक्तिगत स्नेह भाव से अनुप्रेरित होकर लिखी गई हैं। रागात्मकता का स्तर दोनों प्रकार की कविताओं में प्रायः समान ही है जिससे सिद्ध होता है कि कवि को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में संतरण करते हुए किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। लगता है जैसे उसका व्यक्तित्व दोनों क्षेत्रों के बीच सम्बन्ध-सेतु हो। जो लोग आज भी अज्ञेय को कवि मानने से इन्कार करते हैं उनको भी, मैं सोचता हूँ, इन कविताओं का भाव-तारल्य असम्पृक्त न छोड़ेगा।

अज्ञेय ने मौज में आकर कुछ हल्की Ticklish कविताएँ भी लिखी हैं जो उनके कवि-व्यक्तित्व के गौरव को तो नहीं बढ़ातीं पर उनकी अहेरी मनोवृत्ति को अवश्य व्यक्त करती हैं। 'काँगड़े की छोरियाँ' इसी कोटि में आती है। कुछ इसी तरह की मनोवृत्ति से देव कवि ने

---

१. हर्बर्ट रीड ने कविता के रूप (form) का विश्लेषण करते हुए उसके दो विभाजन किये हैं। एक organic और दूसरा abstract. पहले का लक्षण इस प्रकार है—
'When a work of art has its own inherent laws, originating with its very invention and fusing in one vital unity both structure and content, then the resulting form may be described as organic. Page 19, Collected Essays in Literary Criticism.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जातिविलास' लिख डाला। जो भी हो ऐसी कविताओं के जीवन्त सौन्दर्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

कुछ स्थल इस संग्रह में ऐसे भी हैं जहाँ अर्थ की संगति नहीं बैठती। इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त है। 'तडित् दर्शन' नामक कविता को हर तरह से समझ-बूझकर अगणित बार पढ़ने पर भी मैं यह नहीं समझ पाया कि इसका यह शीर्षक क्यों है? सारी बात आकाश में दूरस्थ तारों के सम्बन्ध में कही गई है। 'खद्योत दर्शन' और 'उषा दर्शन' में, जो इसी टाइप की कविताएँ हैं, शीर्षक और वस्तु की ऐसी असंगति नहीं मिलती। कवि ने जान-बूझकर असंगति से कोई अर्थ उत्पन्न करना चाहा हो ऐसा मुझे नहीं लगता।

'रात बीती' प्रमुख रूप से सॉनेट-संग्रह है। कवि ने अपने वक्तव्य में सॉनेट-रचना-सम्बन्धी जो अनुभव और मान्यताएँ व्यक्त की हैं वे विचारणीय हैं; क्योंकि काव्य-रूप के प्रति सजगता आज के जागरूक कवि की एक विशेषता है। कथन का नयापन और मनःस्थिति का भिन्न धरातल पुराने जड़ीभूत, एकरस काव्यरूप को सह नहीं पा रहा है इसका प्रमाण इस संग्रह की कविताओं में मिलता है। कवि अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम को पूर्व-निश्चित नहीं मानता; वह अधिकाधिक स्वतन्त्र होकर उसे ग्रहण करना चाहता है—निश्चय ही यह स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता नहीं है—इसीलिए उसे सॉनेट के लिए 'चौदह लाइनों का बन्धन' और तुक-विधान अमान्य है। यह बात कवि की सामर्थ्य को घोषित करती है कि वह इन बाह्याकारों की सीमाओं को त्यागकर भी अपने अभिप्राय को स्पष्ट, संयत और सन्तुलित रूप में व्यक्त करने में बहुधा सफल हुआ है और कुछ उक्तियों में विशेष शक्ति-संचार कर सका है। इस दृष्टि से 'भाड़ा गाड़ी' 'सर्प', 'बादल से', 'मुग्धा का स्वप्न-भंग', 'रात बीती'-जैसे सॉनेटों का नाम लिया जा सकता है। नये युग के कवियों ने जिन विदेशी काव्य-रूपों को अपनाया है उनमें सॉनेट प्रमुख है। हिन्दी में माचवे, त्रिलोचन आदि कई कवियों ने सॉनेट लिखे हैं। हिन्दीतर भाषाओं में गुजराती कवियों ने कदाचित् इसका सर्वाधिक प्रयोग किया है। बलवन्तराव ठाकुर तो अपने सॉनेटों और ऊर्मि-गीतों के लिए ही विशेष रूप से विख्यात हैं। परन्तु जहाँ तक 'रात बीती' के कवि का सम्बन्ध है उसका सम्बन्ध कवित्त-सवैया की पुरानी परम्परा से भी रह चुका है जिसमें सारे छन्द का निर्माण प्रायः किसी एक उक्ति को आधार-रेखा मानकर होता है। पहले तीन चरण अन्तिम चरण की नींव पर किन्तु उसे ऊपर उठाने के लिए रचे जाते हैं। सी० बी० राव के इन सॉनेटों की रचना-प्रक्रिया का यही पैटर्न है। कवि के ही शब्दों में :

"कहने की बात एक हो, उस बात को उठाकर बीच में उसका स्पष्टीकरण किया जाय और अन्त में एक चमकती, चुभती-सी बात से उसका निर्वहण कर दिया जाय।"

उसकी इस रचना-विधान की सीमाओं का संकेत प्रारम्भ में किया जा चुका है। कविता तटस्थ भाव से किया हुआ किसी 'बात का निर्वहण'-मात्र नहीं है, वह कवि के सम्पूर्ण भावमय कलाकार व्यक्तित्व का घनीभूत, निविड़ किन्तु सहज संकुलन-आकलन है।

'रात बीती' का कवि गीतकार भी है। यही नहीं हिन्दी में 'गीत' के दुरुपयोग के प्रति वह चिन्तित और खिन्न है। अपने संग्रह में उसने रखे तो कई गीत हैं परन्तु इस संज्ञा का ताज केवल एक ही रचना के शीश पर रखा है। इसकी पहली पंक्ति है 'गीत यदि गा दे।' गीति-तत्त्व के अतिरिक्त यदि 'गीत' शब्द आ जाना इसकी श्रेष्ठता का कारण न हो तो कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है कि 'दीपक मन्द न हो' शीर्षक रचना श्रेष्ठतर गीत है और इस संग्रह में वह 'गीत' के गौरवमय पद की अधिक उपयुक्त अधिकारिणी है।

सी० बी० राव की कुछ कविताओं में यत्र-तत्र जीवन के अन्तर्संघर्ष को निर्भीक होकर ग्रहण करने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। सत्य की नग्नता तथा कटुता के आगे कवि पराजित नहीं हुआ है वरन् उसने उन्हें आत्मसात् करके एक मानसिक दृढ़ता प्राप्त की है। रहस्यवादियों की तरह साधना को ही उसने जीवन का साधन स्वीकार किया है :

आमरण
अनिवार्य जीवन;
साधना स्वयमेव साधन।

'सर्प' और 'परिवर्तन' शीर्षक रचनाओं में उसने इस 'साधना' से मिलते-जुलते शब्द 'भक्ति' को केन्द्र में रखकर अपनी बात कहनी चाही है। कवि भक्ति को 'निष्कलुष-अर्चंचल' मानते हुए 'बदले ऋतु के साथ गगन भी' का सन्देश देता है। इस तरह के सारे कथन एक छायावादी भावुकतापूर्ण शैली की याद दिलाते हैं। कवि ने साहसपूर्वक स्वीकार कर लिया है कि 'इस संग्रह की कुछ कविताओं में छायावाद की झलक है; विशेषतः पुरानी रचनाओं में। मैं अपनी रचनाओं को छायावाद के प्रभाव से बचाने का प्रयत्न नहीं करता और न करना चाहता हूँ।' इस स्पष्ट स्वीकृति के साथ छायावाद के सम्बन्ध में जो धारणाएँ व्यक्त की गई हैं वे बहुत-कुछ सही प्रतीत होती हैं।

'धरती और स्वर्ग' की भी कतिपय कविताओं में कुछ तत्त्व ऐसा है जो उन्हें इस समय के काव्य में व्यक्त होने वाली प्रमुख भाव-धारा से अलग कर देता है। कवि ने उसे 'अध्यात्मवाद से अछूती 'रोमांटिसिज्म' की गन्ध कहा है। यह उसकी स्पष्टवादिता है किन्तु इससे पूर्व उसने अनुमान से ही सही, एक स्थापना की है कि 'यूरोप तथा इस देश में भी नया काव्य शीघ्र ही रोमांटिक प्रतिक्रिया को जन्म देगा। लोक-गीतों की बढ़ती हुई चर्चा इसका संकेत है।' कथन के दोनों सिरों को मिलाने पर यह निष्कर्ष आसानी से निकल आता है कि कवि अपने को आगामी 'रोमांटिक प्रतिक्रिया' के अग्रणी रूप में रखना चाहता है। अँगरेज़ी कविता में 'थर्टीज' के कवियों के उद्भव के साथ लुई मैकनीस-जैसे कुछ कवियों की कविताओं में 'नियोरोमांटिक' भावना का उदय हुआ अवश्य था, परन्तु हिन्दी में यह प्रतिक्रिया किस रूप में घटित होगी यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अभी तो वर्तमान आन्दोलन की क्रिया ही चल रही है। फिर डॉ० देवराज की कविताओं में जो रोमांटिक भावना मिलती है उस पर मध्यकालीन प्रेम-भावना की स्पष्ट छाया है जिसका संकेत प्रारम्भ में किया जा चुका है :

दूर खड़े मुस्करा रहे हैं वह,
बिजलियाँ फिर गिरा रहे हैं वह;
मैं शपथ ले चुका न जाने की,
पास फिर क्यों बुला रहे हैं वह ?

कुछ कविताओं में आधुनिक प्रेम-भावना भी मिलती है। जैसे : 'मैं समझता था....।' इस तरह की कविताएँ अपेक्षाकृत सुन्दर और कवि के अनुभूति-पक्ष को अधिक संवेद्य रूप में व्यक्त करती हैं। रोमांटिक भावों के अतिरिक्त कवि का आकर्षण वात्सल्य की ओर भी है। खड़ी बोली के कम ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि इससे उन्मुख हुए हैं। 'शशि' 'बधाई', तथा 'मा समीप लेटी है आकर' इत्यादि कविताओं में शिशु-प्रेम का वर्णन किया गया है। किन्तु कहीं-कहीं कवि के पास शिशु-सौन्दर्य के चित्रण में उपयुक्त शब्दों का अभाव बुरी तरह खटकता है—

उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों को लिया जा सकता है :

विकसित प्रसन्न शुचि गंडफलक,
कुछ खुले सरस वे रदनच्छद;

संस्कृत-शैली के समासगर्भित पदों के प्रति कवि का इतना मोह न जाने क्यों है। सीधी सरस शब्दावली के बीच अचानक वह एक शब्द ऐसा रख देता है जिससे सारे भाव-प्रवाह को ठेस पहुँचती है :

खिले खोये कौन-सी नभ-दीर्घिका में पा सकी तुम ?

यह प्रवृत्ति बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि और भी कई हिन्दी-कवियों में मिलती है। इससे कहीं भी यह सूचित नहीं होता कि कवि भाषा में नई अभिव्यंजना-शक्ति लाने की चेष्टा कर रहा है। आज कविता की भाषा एक दूसरे ही रूप में भाव-शक्ति अर्जित कर रही है जिसके समक्ष यह सब अजीब-सा लगता है। साँस को 'वक्ष की अभिमुख पवन' कहना अब वह काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं करता जो नये कवि का इष्ट है।

'धरती और स्वर्ग' के कवि का झुकाव जीवन की वर्तमान परिस्थितियों को काव्यानुबद्ध करने की ओर भी है। इस संग्रह की बहुत-सी कविताएँ आधुनिक युग की समस्याओं को लेकर लिखी गई हैं। डॉ० देवराज हिन्दी के एक चिन्तनशील समालोचक हैं, दर्शन-शास्त्र के मनस्वी अध्येता एवं अध्यापक हैं तथा उपन्यासकार होने के नाते जीवन को अनेक पहलुओं से गहराई के साथ देखने की शक्ति भी उनमें है। ऐसी दशा में उनसे सहज ही आशा की जा सकती है कि वे समस्यामूलक कविताओं में अधिक गहरे जा सकेंगे; परन्तु 'क्लर्क', 'इतिहास का निर्माण अभी बाक़ी है', 'कविवर ! क्या गाते हो ?'-जैसी कविताओं को देखने से लगता है जैसे कवि ने यथार्थ का स्पर्श तो किया है लेकिन उसे वह यथोचित रूप से गम्भीर एवं संवेद्य नहीं बना सका है। कविवर को व्यंग्यात्मक ढंग से सम्बोधित करके डॉ० देवराज ने 'भारतीय जन की मूक व्यथा, कष्ट-कथा' का चित्रण प्रगतिवादी दृष्टिकोण से किया है। इसके साथ उनकी 'अध्यात्मवाद से अछूती' रोमाण्टिक भावना की संगति कहाँ तक बैठती है यह सोचने की बात है। 'अख़बार' शीर्षक कविता में संसार की व्यापक गति-विधि से व्यक्ति का आज कितना घना सम्बन्ध हो गया इसका सफल निर्देश है। इसी तरह 'ये बच्चे' और 'जन्म-दिन' शीर्षक कविताओं में वर्तमान पूँजीवादी सभ्यता के अभिशाप से उत्पन्न आर्थिक वैषम्य का स्पष्ट अंकन है। 'एक्ट्रेस' और 'सोसायटी गर्ल' में आधुनिक युग की नारी के दो रूप चित्रित किये गए हैं। जो उसकी बाह्य सज्जा के भीतर घटित होने वाले आत्मविघटन को व्यक्त करते हैं। इन सभी कविताओं में कवि का भावात्मक धरातल काफ़ी ऊँचा दिखाई देता है पर जब हम उसकी 'नाश और निर्माण'-शीर्षक एक विशाल कैनवस को लेकर लिखी रचना की परिसमाप्ति 'आर्यवीर' के अभियान-सन्देश से होती देखते हैं तो सर्वथा भिन्न प्रकार का प्रभाव उत्पन्न होता है। क्योंकि इस रचना का निर्माण-काल वही है जो 'अख़बार' का। मानवीय सहानुभूति के क्षेत्र की यह अनस्थिर सीमाएँ संग्रह के सामूहिक प्रभाव को कम कर देती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० देवराज के इस संग्रह में कई कविताएँ अनूदित हैं। 'लाउत्से का दर्शन' शीर्षक कविता काफी रोचक और प्रवाहयुक्त है। 'जेबुन्निसा' पर लिखी गई कविता का अन्तिम अंश उसके सुप्रसिद्ध फ़ारसी शेर का अनुवाद है। शेर इस प्रकार है :

बर मज़ारे मा ग़रीबाँ ना चिरागे नै गुले।
ना परे परवाना सोज़द ना सदाये बुलबुले।

कवि ने इसका अनुवाद निम्नलिखित रूप में किया है :

दुखिया की रे समाधि पै चिराग़ न हो,
बिखरे न कहीं फूल हों, पराग न हो।
पर अपने जलाये न वहाँ कोई शलभ
बुलबुल के गले में भी करुण राग न हो!

इसकी प्रथम पंक्ति में 'रे' और अन्तिम में 'गले में' मूल की दृष्टि से अनावश्यक हैं और अनुवाद को शिथिल भी बनाते हैं। इसी तरह कवि के द्वारा प्रयुक्त 'लौ' और 'पै'-जैसे विभक्ति-रूप 'प्रिय प्रवास' की भाषा का स्मरण दिलाते हैं। वस्तुतः इस संग्रह में कवि की काफी समय पूर्व लिखी हुई कविताएँ भी संग्रहीत हैं और नई भी। यदि दोनों को पृथक्-पृथक् रखा गया होता तो अधिक उपयुक्त होता; यों रचना-काल का निर्देश है जिससे विकास की गति का अनुमान होता है।

इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि किस कृति में भाव-शक्ति और कलात्मक प्रौढ़ता है और किस संग्रह में ऐसी कृतियाँ किस अनुपात में हैं। किन्तु यह निर्णय मैं पाठकों पर ही छोड़ना उचित समझता हूँ।[1]

गंगाप्रसाद मिश्र

'अंचल' के नये गीत

'वर्षान्त के बादल' हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की नई कविताओं का संग्रह है। अंचल की कविताएँ अपनी रूमानी रंगीनियों, मांसल चित्रणों और प्रौढ़ शब्द-चयन के लिए प्रसिद्ध हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस क्षेत्र में अंचल ने अपना एक स्थान निर्धारित कर लिया है। रूप की अनुभूति और उसकी अभिव्यञ्जना साहित्य के सभी माध्यमों के सबसे प्रिय विषय रहे हैं। हिन्दी के कवियों ने भी अपने कृतित्व के बहुत बड़े भाग में सौन्दर्य के चरणों पर ही अर्घ्य दिया है। इस कारण इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान पाना साधारण बात नहीं है। अंचलजी की कविताओं को इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है, यह श्रेयस्कर है।

१. 'बावरा अहेरी'—अज्ञेय, प्र० सरस्वती प्रेस, प्रयाग।
'रात बीती'—बालकृष्ण राव, प्र० इण्डियन प्रेस, प्रयाग।
'धरती और स्वर्ग'—डॉ० देवराज, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर पिछले कतिपय वर्षों में कविता बहुत आगे बढ़ गई है। अणु-बम के इस युग में कवि का दृष्टिकोण भी आमूल परिवर्तित हो गया है। पाठक भी अब पुराने उपमानों को सुनते-सुनते उकता गया है, चन्द्र-मुख और कमल-नयन अब उसके मन के सम्मुख कोई चित्र उपस्थित नहीं कर पाते। कविता में नये प्रयोगों की धूम है और जो कि रूढ़िवादी-आलोचना की चिन्ता किये बिना काव्य-क्षेत्र को नये प्रयोग दे रहे हैं उनका भविष्य उज्ज्वल समझा जा रहा है। यदि हम अंचलजी की कविताओं को इस दृष्टि से देखें तो हमें निराशा होगी, परन्तु अंचलजी से इस प्रकार की आशा करना उनके साथ अन्याय भी होगा। कुछ समय पहले जब प्रगतिवाद का दौर दौरा था अंचलजी ने कुछ शक्तिशाली प्रगतिशील कविताएँ हिन्दी को दी थीं, परन्तु कुछ समय बाद ही वे अपनी रोमाण्टिक कविताओं की ओर लौट गए। इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि रोमाण्टिक कविताएँ ही कवि की परिस्थिति और प्रकृति दोनों के ही लिए अधिक अनुकूल हैं। 'वर्षान्त के बादल' में भी इसी प्रकार की कविताएँ हैं। अपनी जिन विशेषताओं के कारण ये कविताएँ प्रसिद्धि पाती रही हैं उन्हींके अनुसार इनका मूल्याङ्कन करना उचित होगा जो इनमें है ही नहीं है, अथवा कवि का अभिप्रेत नहीं है उसके अभाव पर इनकी आलोचना करना और कवि से गिला-शिकवा करना अनुचित होगा—ऐसा मेरा विचार है।

'वर्षान्त के बादल' में अंचलजी की अनेक प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी कविताएँ हैं। 'वर्षान्त के बादल' सम्भवतः इस प्रकार की कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है :

जा रहे वर्षान्त के बादल
हैं बिछुड़ते वर्ष-भर को नील जलनिधि से
स्निग्ध कज्जलिनी निशा की ऊर्म्मियों से
स्नेह गीतों की कड़ी-सी राग-रंजित ऊर्म्मियों से
गगन की शृङ्गार सज्जित अप्सराओं से
जा रहे वर्षान्त के बादल
किस महावन को चले
अब न रुकते अब न रुकते ये गगनचारी
नींद आँखों में बसी गति में शिथिलता
किस गुफा में लीन होंगे
सान्ध्य-विहगों-से थके डैने लिए भारी
साथ इनके जा रहा
अगणित विरहिणी-विरहियों का दाह
दे रही अनिमेष नयनों से हरित वसुधा विदाई
किस सुदूर निभृत कुटी में पूजिता सुधि की इन्हें फिर याद आई
भर गई आ रिक्त कानों में
किस कमल वन में अनिद्रित शारदीया की करुण चंचल रुलाई
जा रहे आलोक पथ से मन्दगति
वर्षान्त के बादल

वर्षान्त के बादलों का यह चित्रण पाठक के नेत्रों के सम्मुख रूप, रंग और गति का कैसा विशद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्र उपस्थित कर देता है।

आन्तरिक और बाह्य तूफान की रात का यह वर्णन कवि के विरहाकुल अन्तर का कैसा विशद परिचय देता है। सम्पूर्ण सृष्टि ही जैसे उसकी वेदना के स्वरों से स्वर मिला रही है :

सारी रात हवा गरजी है बादल बरसे सारी रात
सिसक रहा था जब सन्नाटा तारे तरसे सारी रात
फूट-फूटकर फैल-फैलकर वन-पथ रोये सारी रात
बिजली की तड़पन में मेरे प्राण न सोये सारी रात

× × ×

पीती रही हृदय जन-जन का भय की प्याली सारी रात

× × ×

झंझा से झुँझला-झुँझला अँधियारा बोला सारी रात
नभ से भू पर उतरा तम का उड़नखटोला सारी रात

प्रकृति के इस चित्र में वन-पथ का फूट-फूटकर फैल-फैलकर रोना, भय की प्याली का जन-जन के हृदय को पीते रहना, अँधियारे का तूफान से सारी रात झुँझला-झुँझलाकर बोलना और आकाश से सारी रात पृथ्वी पर अंधकार के उड़नखटोले का उतरते रहना उस भयावह दृश्य को मन में बहुत गहरे उतार देते हैं। दूसरी ओर शरद्-निशा का यह मनोरम वर्णन, जो विरही मन को तड़पा देता है, कैसा अद्भुत है :

भूल गई पथ जैसे रूठा दिन को इस जीवन की हरियाली,
मूक हुई रोमों की भाषा रिक्त हो गई सुख की प्याली।
तुम न मिलो तो कौन कुमुद-कुञ्जों में मादक रूप सँवारे,
तुम न दिखो तो कौन चितवनों से खंजन की पाँत पुकारे।
कौन रचे मंजरियों से धानों की डाली।
किन केशों से गुँथने को फूले शेफाली।
किस रंजित यौवन के दर्पण में अपना मुँह देखें तारे।
चन्द्र मल्लिका किसके स्वागत में मोती की लड़ियाँ वारे।
मुझको लगता—
दूर कपूरी गिरि-शिखरों पर
तरल संगमर्मरी रूप के उन झरनों में,
तेरी छाया अकुलाती है—
शरद-निशा में तेरी बड़ी याद आती है।

शरद्-निशा के फूटे पड़ते हुए इस रूप में कवि का मन सर्वत्र अपनी प्रिया के रूप की झलक देखता है। उसे यह दृढ़ विश्वास है कि यदि उसकी प्रिया सम्मुख नहीं है तो प्रकृति का यह अनुपम सौन्दर्य क्रान्तिहीन हो जायगा, अपना आकर्षण खो देगा, अप्रतिभ हो जायगा। इसी प्रकार की कविताओं में 'वर्षा-गीत', 'आज बरसते बादल','काली शाम, 'शारदी सन्ध्या' इत्यादि बड़ी सफल हैं।

दूसरे प्रकार की कविताएँ वे हैं जिनमें कवि का लक्ष्य सौन्दर्य-निरूपण ही है। प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कोमलतम और उज्ज्वलतम अवयवों के ताने-बाने से सँवरा हुआ यह अलौकिक क्रान्तिमय रू पाठकों को रूप-मन्दाकिनी में निमग्न कर देता है :

सोचा करता घूँघट में काकुल के घन घिरते होंगे
मुस्काती गुलमिनियों के जादू जिनमें तिरते होंगे
गुरुता के तारों में बँध तन की चंचलता नत होगी
अँगों बसी मुग्धता से आँखों में लाज अँजी होगी
जड़ित नमित चाँदी के कंपन-सी सिहरन ढाँका न करो
अधरों की उत्सुकता पर सुमौन आँका न करो

सरस समृद्ध और प्रौढ़ भाषा में लिखी हुई ये कविताएँ पाठक के मन को अपने रंग में रगने की पूरी सामर्थ्य रखती हैं। माधुर्य और प्राञ्जलता की छटा इनमें सर्वत्र दिखलाई देती है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संग्रह पाठकों में अत्यन्त लोकप्रिय होगा।[1]

डॉ० देवराज उपाध्याय

हिन्दी-कहानियाँ : शिल्प और शैली

जब से विश्वविद्यालयों ने हिन्दी-साहित्य में अन्वेषण-कार्य को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया है तब से अनेक ग्रन्थ हमें उपलब्ध हुए हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि हमारे आलोचना-क्षेत्र की समृद्धि में उनका कोई विशेष अनुदान नहीं हो सका है। कुछ थीसिस तो "जीवितकवेराशयो न वक्तव्यः" वाले सिद्धान्त पर प्राचीन साहित्यिकों की जन्म-पत्रिकाओं को पढ़ते रहे, उनके जन्म और निवास-स्थान को खोजते रहे। जब इससे कुछ पिण्ड छूटा और आधुनिक समकालीन साहित्य की ओर लोगों का ध्यान गया तो कुछ अन्वेषकों ने सुनी-सुनाई बातों को ही इधर-उधर उलट-पलटकर देने में ही अपने अभीष्ट की सिद्धि समझी, कुछ ने गलत और भ्रामक और कहीं-कहीं अनावश्यक पर ही सन्तोष किया। डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल की प्रस्तुत आलोच्य थीसिस 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' इन त्रुटियों से अनेक अंशों में मुक्त है। विषय को उचित परस्पेक्टिव में रखने के लिए कुछ बातें चक्कर से कही गई हैं। उदाहरणार्थ, पूर्व-परिचय, उद्गम और विकास-सूत्र तथा कहानी-कला की समीक्षा वाले अध्याय। प्रथम में भारत के प्राचीन कथा-साहित्य की बात आ गई है, द्वितीय में रूसी, अमेरिकन, फ्रान्सीसी, अंग्रेजी, लोक-कहानी तथा बंगाली कहानियों की चर्चा आ गई है तथा तृतीय में कहानी-कला का सैद्धान्तिक विवेचन है। थीसिस के विषय का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दी-कहानी-साहित्य से है, जो १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हमारे यहाँ पनपने लगा है। वैदिक काल से लेकर १९वीं शताब्दी तक के भारतीय कथा-साहित्य से नहीं। यदि ऐसा होता तो प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य का विस्तार से लिखना पड़ता; क्योंकि प्राचीनों ने कथा के क्षेत्र में पर्याप्त प्रयोग किये हैं और टेकनी

---

१. 'वर्षान्त के बादल'—ले० अंचल, प्र० साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विकास किया है। यद्यपि लाल महोदय ने सानुपातिकता का ध्यान रक्खा है, फिर भी पुरानी सामग्री भी प्रचुर रूप से प्रस्तुत की है।

सच पूछिये तो यह उपलब्धि अधिक कृतज्ञ बनाने वाली है, क्योंकि यह मुफ्त में मिलती है। हम इस पुस्तक को पढ़ने के लिए खोलते हैं तो यह आशा बाँधकर नहीं चलते कि हमें यह ज्ञान भी इतने सहज ढंग से प्राप्त हो जायगा। लाल की पुस्तक ने अवान्तर भी जो कुछ बातें दी हैं उनका कम महत्त्व नहीं। हाँ, कहानी-कला की समीक्षा वाला अध्याय अन्त में न होकर पहले रखा जाता तो अधिक सुन्दर होता। कारण कि इसकी जानकारी को लेकर पाठक कहानीकारों की शिल्प-विधि में कही गई बातों के मर्म को समझने में अधिक सफल हो सकता है। शिल्प-विधि पर लिखने वाले से शिल्प की भूल कैसे बन पड़ी, समझ में नहीं आता।

पुस्तक का मुख्य अंश लेखक के गम्भीर परिश्रम, अध्यवसाय और अध्ययन का परिचायक है। लेखक ने कहानीकारों की कहानियों का विधिवत् अध्ययन किया है, और उनके विवेचन में, उनके वर्गीकरण में, उनके असली रूप को पहचानने में प्रतिभा का परिचय दिया है। हिन्दी-कहानियों के विकास का ऐसा ब्यौरेवार, क्रमिक और सांगोपांग विवेचन अभी तक देखने को नहीं मिला था। अब तक कहानियों के प्रारम्भिक विकास के लिए बस 'सरस्वती' और 'इन्दु' का आभार-मात्र स्वीकार कर लिया जाता था। पर एक-एक वर्ष को लेकर और उसमें कितना और किस तरह कहानियों का विकास हो सका है, इसके प्रदर्शन का काम इस पुस्तक के द्वारा हुआ है।

'इन्दु' के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० लाल ने एक और स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय दिया है। 'इन्दु' के प्रारम्भिक लेखकों में स्व० पं० पारसनाथ त्रिपाठी की ओर आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। वे स्व० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, स्व० पं० रामदहिन मिश्र तथा श्री शिवपूजन सहाय के मित्रों में से थे। श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी को साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने ही दीक्षित किया था। पर आज तक किसी भी इतिहास या आलोचना के क्षेत्र में उनका नाम तक नहीं लिया गया है। डॉ० लाल का ध्यान इस ओर गया है और उन्होंने लिखा है कि "इन्होंने (स्व० त्रिपाठी जी) बंगला-कहानियों के अनुवादों से 'इन्दु' की किरणों को बार-बार सुशोभित किया।" आशा है अब आलोचकों का ध्यान इनके साहित्य की ओर जायगा। इतनी सी बात ही इस बात का प्रमाण है कि डॉ० लाल में शोधकर्ता की सच्ची स्पिरिट है।

इस पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है—कहानियों के विकास का प्रारम्भिक अंश तथा प्रेमचन्द और प्रसाद पर लिखे हुए अध्याय। 'सरस्वती' के प्रथम सात-आठ वर्षों में कहानियों ने सात तरह के प्रयोग किये तथा भावगत एवं शैलीगत क्या विशेषताएँ रहीं इस बात का उल्लेख है। प्रेमचन्द और प्रसाद की तुलना में भी काफी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया गया है। जो हो कम-से-कम १० वर्ष तक यह पुस्तक विश्वविद्यालयों में हिन्दी के शिक्षकों की सहायता करती रहेगी।

प्रेमचन्द के बाद के लेखकों के बारे में पर्याप्त सामग्री का संकलन है, पर ऐसा मालूम पड़ता है उनकी गहरी पकड़ अभी आई नहीं है। यह स्वाभाविक भी है। कारण कि वे हमारे इतने समीप हैं कि ठीक से उन्हें देख पाने की तटस्थता सम्भव भी नहीं! 'अज्ञेय' की स्ववार्तालाप-शैली (Interior monologue) अबाधित चेतना-प्रवाह शैली, आत्मचरितात्मक शैली और उसके कारणों की और अधिक चर्चा होनी चाहिए थी। साथ में ऐसा भी लगता है कि शिल्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Technique) और वर्ण्य-वस्तु (Content) के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या पर सम्य प्रकारेण विचार नहीं किया गया है। इस प्रश्न को भी स्पार्श नहीं किया गया है कि क्या कार है कि आज टेकनीक की नवीनताएँ अधिक साहित्य के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती हैं और आल चक का ध्यान भी इसी ओर अधिक आकर्षित होता है।

हिन्दी की आलोचना को ही नहीं, इधर अर्द्धशताब्दी की यूरोपीय आलोचना की प्रवृ को देखा जाय तो आलोचकों की यही प्रवृत्ति रही है कि किसी भी रचना में यदि शिल्प-कौश (Craftsmanship of execution) उच्च कोटि का मिल जाय तो उसे साहित्यिक मान्यत मिल जानी चाहिए, चाहे विवेच्य वस्तु कैसी हो। प्राचीन आलोचना विवेच्य वस्तु को प्रधान देती थी, विवेचन के समय सर्वप्रथम उसका ध्यान यह रहता था कि वस्तु कैसी है, दिव्य या नीच

"का भाषा का संस्कृत, भाव चाहिए साँच।
काम जो आवे कामरी का ले करौं कमाँच।"

यह प्राचीन आलोचक का नारा था, आज है भाव चाहे जो हो, भाषा, मतलब शिल्प संस्कृत होना चाहिए। यह साहित्यिक अथवा आलोचनात्मक क्रान्ति क्योंकर हुई इस प्रश्न प कथा-शिल्प की व्याख्या करने वाली पुस्तक में विचार होना आवश्यक था।

आलोचना दो प्रकार की होती है—एक तो वह जो आलोच्य विषय के बारे में बहुत-कु बातें कहने का उपक्रम करती है, उनका वर्गीकरण करती है, दूसरों से तुलना करती है। वह तथ्य कथन-प्रधान होती है। पर दूसरे प्रकार की आलोचना तथ्य-कथन तो नहीं करती पर विचारों को उत्तेजित करती है, नये ढंग तथा दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा देती है। तथ्य तो कम होते हैं पर उनको बड़े ही मौलिक ढंग से उपस्थित किया जाता है। इसमें पाण्डित्य और अध्ययन की गुरुता नहीं रहती, पर मौलिकता की स्फूर्ति और सूझ-बूझ अवश्य रहती है। डॉ० लाल की यह आलोचना प्रथम श्रेणी में ही आयगी। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह रिसर्च की पुस्त है और रिसर्च तथा समालोचना बहुत हद तक एक रहते भी दोनों में कुछ अन्तर रहता ही है। मेरे कथन का अभिप्राय केवल यही है कि यह अन्य अन्वेषण-सम्बन्धी पुस्तकों के ही ढंग पर लिखी गई एक महत्त्वपूर्ण कृति है पर इसमें रचनात्मकता, सृजनात्मकता का अभाव कुछ खटकता अवश्य है। मन कहने लगता है कि क्यों नहीं इस पुस्तक में कुछ ऐसे अंश आ सके जो हमें रमा ले ठहरा ले और स्फूर्ति से भर दे।

इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी-आलोचना की श्रीवृद्धि हुई है और उसका क्षेत्र समृद्ध हुआ है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी में ऐसी खोजपूर्ण और गम्भीरता तथा अधिकारपूर्वक लिखी पुस्तक आने में कुछ वर्ष लगेंगे। इस परिश्रम और पाण्डित्य का स्वागत है।[1]

१. 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' : ले०—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल प्र०—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीरेन्द्र कृष्ण माथुर

छोटी-बड़ी कहानियाँ

कहानियाँ कैसी होनी चाहिएँ—इस प्रश्न पर कम-से-कम दो बातों को लेकर मतभेद नहीं होना चाहिए। पहली बात यह कि कहानी पाठक की दिलचस्पी को उलझाये रखे और दूसरी बात यह कि कहानी में सत्य का पुट हो। कहानी-कला के दो छोर हो सकते हैं—एक तो यह कि कहानी अपने में दिलचस्प, हो उसकी सार्थकता उसीमें हो; दूसरा यह कि कहानी एक मनोवैज्ञानिक अथवा नैतिक सत्य पर प्रकाश डाले और सत्य की पुष्टि के लिए ही लिखी गई हो। हमारे सामने जो दो संग्रह हैं, उनमें से एक को ही कहानी-संग्रह माना जा सकता है, दूसरे संग्रह की रचनाएँ अपने ही ढंग की एक चीज हैं। राजेन्द्र यादव के संग्रह में बारह कहानियाँ हैं, जिनमें से कई कहानियाँ विविध पत्रिकाओं में छप चुकी हैं और जिनसे कहानीकार को नाम मिला है और पाठक भी मिले हैं। उनमें मनोवैज्ञानिक सत्य की यथार्थता है, और विषय-वस्तु पर लेखक की पकड़ है, विशेषतः टाईटिल कहानी 'खेल खिलौने' में। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की पुस्तक की विषय-सूची का नाम है 'कहाँ क्या है ?' जिनमें कि ४३ शीर्षक हैं, जिनके बारे में यह आशा की जाती है कि यह लेख भी हैं, कहानी भी हैं, और इनमें हमें सूत्र-रूपेण कथन भी मिलेंगे। स्पष्ट है कि लेखक एक उद्देश्य से लिख रहा है और उसकी सारी कला उसके उद्देश्य के साथ सम्बन्धित है।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की पिछली पुस्तक का नाम बड़ा था, पर कहानी और लेख के सूत्र-रूपेण मिश्रण आकार में छोटे थे और साथ ही प्रभावोत्पादक थे। उनकी इस पुस्तक का नाम छोटा है, अधिकतर रचनाएँ आकार में बड़ी हैं—और प्रभावोत्पादकता? अपनी बात कहूँ तो मैं स्वयं इधर कई असफलताओं से गुजरा हूँ. मान लीजिये कि मैं इतना निराश हो जाता हूँ कि आत्म-हत्या की तैयारी कर बैठूँ, फिर 'जिन्दगी मुस्कराई' मेरे पास समीक्षा के लिए आ गई है, सोचता हूँ कि चलो मरने से पहले 'आलोचना' के लिए कुछ लिख जाऊँ। और मैंने पुस्तक के पन्ने पलटे, तीन लेख बिना छाँटे पढ़े—और बस मेरी राह मेरे सामने थी, साफ-सुथरी राह; क्योंकि 'यह पुस्तक जिन्दगी की मुस्कराहट का बीमा है' साथ ही 'बिगड़े वक्त का रक्षा-कवच और सदा जीवन को सरस बनाने वाली जीवन-संगिनी भी।' 'तीन लेख बिना छाँटे पढ़िये' वाले फार्मूले के पीछे भूमिका यह है —इस तरह के लेखों का संग्रह इन पन्नों में है, जिन्हें पढ़कर जाने कितने बच गए, जाने कितने बढ़ गए, जाने कितने चढ़ गए और जाने कितने सीख गए। आप आत्म-हत्या नहीं कर सकते, आप निराश नहीं हो सकते, आप चिन्तित नहीं हो सकते, आप असफल नहीं हो सकते। यह पुस्तक खुशी और उत्साह का तावीज ही है। हरेक लेख कहानी की तरह दिलचस्प है, हरेक लेख धर्म-पुस्तक की तरह जीवन-बोधक है। गुरु की तरह ज्ञान-गम्भीर, तो मित्र की तरह रसपूर्ण! दिल टूट गया हो या सूख गया हो, कोई बात, कोई राह सूझती न हो, किसी भी काम में मन न लग रहा हो, तीन लेख बिना छाँटे पढ़िये—आप की राह सामने होगी—साफ-सुथरी राह; यह पुस्तक जिन्दगी की मुस्कराहट का बीमा है! मैं तो चिकना घड़ा निकला, पर उन मित्रों से सलाह है जो कि आत्म-हत्या पर आ तुले हैं : कृपया घर से अठन्नी नहीं चार रुपये लेकर निकलें, और इस पुस्तक को एक मौका तो दें!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के साहित्य को हम 'डेल कार्नेगी वाद' कह सकते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह नागरिक है, अपने परिवार, पड़ोस, नगर तथा देश के प्रति उसके कुछ कर्तव्य हैं—यह एक शुभ कार्य है कि उसे अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक किया जाय और अच्छी सलाह दवा की कड़वी घूँट है, जिसे मिसरी के साथ दिया जाय तो बात अधिक बनती है। इन लेखों में बात कहने का ढंग (कम-से-कम हिन्दी के लिए) नया है, और सफल भी। लेखक नैतिक और व्यावहारिक मूल्यों का समर्थन करता है और व्यक्ति को सर्वप्रथम सामाजिक प्राणी मानकर चलता है। लेखक की टेकनीक है, एक सत्य को तीन-चार किस्से-कहानियों द्वारा समझाकर कहना, दूसरे प्रश्नोत्तर शैली। लेखक और 'अज्ञात पाठक' की बातें, लेखक से सवाल पूछे जाते हैं या वह उन्हें पुछवाता है। इस टेकनीक को लेखक ने एक सफल परिपक्वता पर पहुँचाया है। और वर्षों की तपस्या के बाद हिन्दी-साहित्य को लेखक की यह देन है, अपनी पृष्ठभूमि को आँकते हुए लेखक ने हमसे यह मनवाना चाहा है।

हर साहित्यिक के प्रारम्भिक संस्मरणों का अपना मूल्य होता है। उस लेखक के प्रति हम एक आत्मीयता का भाव पाते हैं, दूसरे उसके जीवन से कुछ सीख सकते हैं। (शायद यही सीख सकते हैं कि हर एक को अपना साहित्यिक जीवन स्वयं तराशना पड़ता है।) श्री प्रभाकर का प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन दिलचस्प रहा है—पर इस विचार से कि पुस्तक के लेखका-कांक्षी पाठक उनके जीवन-सत्य से लाभ उठाना न भूलें, उन्होंने स्थान-स्थान पर ऐसे सूत्र दिए हैं, कि 'छपाओ मत, फाड़ो!' 'छपाने के लिए मत लिखो, लिखने के लिए लिखो', 'फालतू चीज मत लिखो, वही लिखो जिसमें पूरा मन लगे, पूरा रस मिले, और पूरी डुबकी आए' इत्यादि। लेखक इस बात को भूल नहीं पाता कि यह पुस्तक पाठकों के लाभ के लिए लिखी जा रही है। एक दृष्टिकोण से यह पुस्तक की सबसे बड़ी सफलता है तो दूसरी ओर यह इसकी सबसे बड़ी कमजोरी भी है।

× × ×

तरुण कहानीकार राजेन्द्र यादव के प्रकाशक उनके बारे में लिखते हैं कि 'राजेन्द्र अपनी कहानियों में समाज की असंगतियों पर कसकर वार करता है। वह समाज के मानस में गहरा बैठने की अपूर्व सामर्थ्य रखता है। 'बाद में'···सघन अनुभूति-रंजित कहानियाँ···'तीव्र मनोवेगों के गुम्फन' और प्रेमचन्द और शरत् की सम्मिलित प्रतिभा का युगानुरूप संस्करण' का भी जिक्र आता है।

राजेन्द्र यादव की कहानियाँ मैंने सबसे पहले 'प्रतीक' में पढ़ी थीं, उसके बाद अन्य पत्रिकाओं में जो छपीं, उन्हें बड़ी उत्सुकता से पढ़ा। किसी अच्छे कहानीकार का संग्रह हाथ लगने पर यह जानने की उत्कण्ठा होती है कि उसकी विभिन्न कहानियों में उसकी प्रतिभा कैसे प्रगटी है, दूसरे यह जानने की कि लेखक कुछ नये प्रयोग कर सका है, अथवा किसी माने हुए सत्य को नये रूप में रख सका है, इस दृष्टि से मुझे इस संग्रह ने निराश ही किया। कहानी-संग्रह अधिकतर से रेडियो के मिले-जुले गानों वाले प्रोग्राम-जैसे होते हैं—कुछ कहानियों में रस मिला, तो कुछ उतनी अच्छी नहीं लगीं।

इस संग्रह की मुख्य कहानी है 'खेल खिलौने', जिसे मैं यूरोप के स्टीफन ज्वीग और टामस मान की लम्बी कहानियों के साथ रखता हूँ। यह एक लड़की की कहानी है, जो कि आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ना चाहती है, पर जिसे विवाह के लिए मजबूर किया जाता है, अन्त को वह आत्म-हत्या कर लेती है। जब कि यह कहानी सुनाई जा रही है, तब सुनने वालों के बीच छोटा पापा भी बैठा है और बराबर एक मूर्ति माँगने को मचलता रहता है और अन्त में मूर्ति को तोड़ डालता है। कहानी की बात इस प्रतीकात्मक ढंग से छाया की तरह साथ चलती रहती है। बच्चे की ज़िद को उसकी माँ रख लेती हैं और दूसरों के मना करने पर कहती हैं, "हाँ-हाँ नहीं तोड़ेगा, हम दे देंगे पैसे, दूसरी ले आना", और बच्चे को समझाया जाता है कि "हाँ भैया, तोड़ियो नहीं।" सामाजिक परम्पराओं के संरक्षकों पर जो कि स्त्रियों का स्थान पुरुष से निचला रखना चाहते हैं, यह एक कड़ा व्यंग है।

अन्य कहानियाँ विभिन्न रसों की हैं। 'अंगारों का खेल' टाईटिल कहानी के निकट आती है और उसमें पत्र-शैली का सफल निर्वाह हुआ है। 'वे नरभक्षी' एक फैंटेसी है; कुछ कहानियाँ व्यंगात्मक हैं, जैसे 'मेरा तन मन तुम्हारा है' और 'यथार्थवादी कहानी लेखक'। 'खानदानी घर' एडगर एलन पो की याद दिलाती है। कुछ कहानियों के बारे में कहा जा सकता है कि एक प्रचलित टेकनीक और विषय-वस्तु को लेकर लेखक ने केवल एक दिलचस्प और पठनीय कहानी लिख दी। मुझे स्वयं इस संग्रह की सबसे मार्मिक कहानी 'आजकल के लड़के' लगी।

इन पुस्तकों के प्रकाशक से एक निवेदन है कि यह जो हर कहानी के अन्त में ब्लर्ब्स लगाये गए हैं, ये पुस्तकों की सुन्दरता को बिगाड़ते ही हैं। 'ज़िन्दगी मुस्कराई' में यह बात अधिक खटकती है। कवर के ब्लर्ब्स भी कुछ ध्यान से लिखें तो अच्छा है।[1]

मोहन राकेश

दो कहानी-संग्रह

एक-एक करके पन्ने पलटते जाते हैं और जीवन के भिन्न-भिन्न चित्र सामने से निकलते जाते हैं। हर रोज तरह-तरह की कहानियाँ आँखों से गुजरती हैं। पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और पाण्डु-लिपियों में बिखरी हुई कहानियाँ—नन्ही मासूम आँखों और नुकीले दाँतों की, चिप-चिपाये हाथों और रेशम में फड़कती हुई छातियों की, शक्ति, संघर्ष, उन्माद, विवशता और प्रवंचना की, संय-मित आवेश और अनिरुद्ध पालगपन की हजार दास्तानें!

फिर भी बहुत थोड़ी कहानियाँ ऐसी होती हैं जो याद रह जाती हैं और जिन्हें दूसरे को सुनाने को मन होता है, सुनाने से पहले दूसरे की निश्चित प्रतिक्रिया का पता रहता है और सुना चुकने के अनन्तर अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि का सन्तोष प्राप्त होता है। नानी से सुनी हुई कहानियों में कलात्मकता रही हो या न रही हो, पर यह गुण अवश्य था कि उन्हें बार-बार सुनने और सुनाने की कामना होती थी। और यही गुण विश्व-साहित्य की चुनी हुई कहानियों में भी है।

१. 'खेल खिलौने'—राजेन्द्र यादव।
२. 'जिन्दगी मुसकराई'—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर, प्रकाशक'—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश, युग, कला और कोण की दृष्टि के एक-दूसरी से बहुत दूर और बहुत भिन्न होते हुए भी उनमें यह, एक बात सामान्य है कि वे भूलती नहीं, और उन्हें बार-बार दोहराने को मन हो आता है। कहानी 'कफ़न' और 'बाल शव् फैट' की तरह चरित्र-प्रधान हो या 'हऊमच लैण्ड डज ए मैन रिक्वायर' की तरह भाव-प्रधान; उसमें 'नेकलेस' की तरह घटना की विशेषता हो या 'बू' की तरह अनुभूति की, उसमें चेखव की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि झलकती हो या सार्त्र की जुगुप्सारमता, उसकी सजीवता की पहचान उस छाप की गहराई है जो वह मस्तिष्क पर छोड़ जाती है। हर व्यक्ति कहानियों का कोष संचित करना चाहता है शोर करता है। परन्तु हज़ारों कहानियाँ पढ़ने और सुनने के अनन्तर भी उस कोष में बहुत कम कहानियाँ संचित होती हैं। इसका पता उस कोष को टटोलने से तुरन्त चल जाता है।

परन्तु नई कहानियाँ हाथ में आने पर संचय का चाव फिर जाग उठता है, पन्ने फिर पलटने लगते हैं और आँखें उत्सुकतापूर्वक नई-नई पंक्तियों पर से गुजरने लगती हैं।

'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ?' और 'पान-फूल' दो नये कहानी-संग्रह हैं। एक में प्रतिष्ठित कहानीकार यशपाल की तेरह नई कहानियाँ संकलित हैं और दूसरे में नये कहानी-लेखक मार्कण्डेय की बारह आरम्भिक कहानियाँ दी गई हैं। कहानी के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि का परिचय देते हुए पशपाल ने अपने कहानी-संग्रह की भूमिका में लिखा है: "लेखक कभी-कभी विचारों के उद्गार में ऐसी भी रचनाएँ लिखते हैं जिसमें तथ्य या भाव को घटना के माध्यम में प्रस्तुत न करके केवल विचारों की शृंखला या शब्द-चित्र के रूप में पेश कर दिया जाता है। अथवा कभी किसी विशेष व्यक्तित्व को उसके जीवन की किसी घटना का आधार लिये बिना ही पाठकों से परिचित कराने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार की घटनाहीन वर्णन-प्रधान रचनाओं की सारगर्भितता और रोचकता के विषय में सन्देह न होने पर भी उन्हें कहानी की व्याख्या और परिभाषा में ही क्यों समेटा जाय? कोई भी परिभाषा वस्तुओं के वर्ग की समता की द्योतक होती है ×× × शब्दचित्रों, गद्य-काव्यों, आप बीतियों, विचार-चित्रों या कथात्मक निबन्धों को कहानी न मानने से उनकी रोचकता, कौशल या कलात्मकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह कहानी की कला से प्रेरणा पाकर उत्पन्न हुई कला की नवविकसित स्वतन्त्र शाखाएँ हैं।"

इसका आशय यह है कि लेखक कहानी में घटना को मुख्य तत्त्व मानता है, जिससे विहीन रचना कहानी की परिभाषा में नहीं आनी चाहिए। आज विश्व-भर में कहानी के इतने व्यापक प्रयोग हो रहे हैं कि कहानी की परिभाषा इस तरह संकुचित कर देने में इस श्रेणी की अनेक रचनाओं को न जाने कितनी उपशाखाओं में रखना पड़ेगा और शब्दचित्र, (स्केच) आप बीती और—कथात्मक निबन्ध में भी किसी-न-किसी अंश में घटना रहती ही है, अतः इस आधार पर कहानी को अलग से छाँट लेना बहुत कठिन है। फिर भी इतना तो है ही कि कहानी के नाम से लिखी जाने वाली हर रचना कहानी नहीं होती। उसमें विवरणात्मक प्रबन्धन के अतिरिक्त एक और चीज का होना अपेक्षित है और वह है घटनाश्रित या भावाश्रित चरमस्थिति (climax)। यदि कहानी उस स्थिति की ओर स्वाभाविक ढंग से बढ़ती है और उसकी ग्राहिता बनी रहती है तो उसे कला की दृष्टि से एक सफल कहानी कहा जायगा, भले ही अन्य विषय, विचार या विश्लेषणगत त्रुटियों के कारण वह एक संरक्षणीय कहानी न बन सके। और यदि कहानी को उस चरमस्थिति तक ले जाने में लेखक को स्वाभाविकता से जरा भी हटना पड़ता है तो कहानी कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से भी कमजोर हो जाती है।

यशपाल के इस नये कहानी-संग्रह में कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें घटना-विकास प्रयत्नसाध्य है—और शायद उसका मूल उद्देश्य दो स्थितियों के वैषम्य का चित्रण ही है। 'चोरबाजारी के दाम' की कहानी इतनी है कि एक व्यक्ति जो कभी स्वयं दवाइयाँ चोर बाजार के भाव बेचा करता था, विभाजन के बाद स्वयं अपने मरते हुए बच्चे के लिए चोर बाजार से दवाई खरीदने के लिए विवश हो जाता है, जिसके लिए उसे अपना सब-कुछ बेच देना पड़ता है, पर फिर भी वह समय पर दवाई नहीं ला पाता और बच्चे की मृत्यु हो जाती है। इसी तरह 'गवाही' और 'तगमे की चोट' में भी स्थिति-वैषम्य का चित्रण करने के लिए ही घटना की कल्पना की गई है। इन सब कहानियों में एक-न-एक निष्कर्ष तो निकलता है, पर जो पाठक 'कला के क्षेत्र में अपना राई-रत्ती उगाहने की आशा' से इन कहानियों को पढ़ता है, उसे निराश होना पड़ता है। बहुत पहले की कहानियों में अवश्य इस शैली का प्रयोग हुआ है, परन्तु उनका स्थान एक विशेष श्रेणी के साहित्य में ही है।

परन्तु इसी संग्रह में 'कोकला डकैत' और 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ?' जैसी कहानियाँ भी हैं, जिन्हें अच्छी कहानियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'कोकला डकैत' में बहुत तीखा व्यंग है, जो नश्तर की तरह हृदय में चुभ जाता है। कोकला को डकैती के अपराध में सजा हुई, क्योंकि उसने हँसिये के जोर से कुछ राहगीरों से अठन्नियाँ वसूल कीं, परन्तु अठन्नी के जोर से बीसियों बार कोकला से जो छीना गया, उसके लिए किसी को सजा नहीं हुई, क्योंकि कानून की आँखों ने उस डकैती को डकैती नहीं समझा·····

'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ?' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है। क्षय की रोगिणी माया के लिए अपनी सुन्दरता का झूठा विश्वास ही ट्रेजेडी बन जाता है। जिस पुरुष ने उसे यह विश्वास दिया है, उसीके प्रति अपने को समर्पित करने के लिए जब वह आतुर हो उठती है तो वह पुरुष उसे स्वीकार नहीं करता और माया उसी क्षण में जैसे निर्मूल होकर रह जाती है। कहानी में फ़ोटोग्राफ़ वाली बात में—अन्य स्त्री के नग्न चित्र के माया द्वारा अपना चित्र मान लिये जाने में—कुछ अस्वाभाविकता अवश्य है, जो खटकती है।

वैसे संग्रह की कहानियों में काफी वैविध्य है—समकालीन जीवन के विभिन्न चित्रों का लेखक ने यथार्थ की भूमि पर कुशलतापूर्वक अंकन किया है। कहानियों के चरित्र सजीव हैं, उनमें मानवीय सन्तुलन भी है, यद्यपि 'घटना' का मोह कहीं-कहीं चरित्र की रेखाएँ पूरी तरह उभरने नहीं देता। लेखक की दृष्टि स्पष्ट है और उसकी पहचान निश्चित है—वह ठीक जगह चोट करता है और जहाँ अपेक्षित हो वहाँ अपनी पूरी सहानुभूति भी देता है। 'मिट्टी के आँसू' और 'असली चित्र' ये दो कहानियाँ क्रमशः उदाहरण के रूप में रखी जा सकती हैं। झूठी सामाजिक विडम्बना का एक अच्छा कलात्मक चित्र 'कम्बल दान' शीर्षक कहानी में प्रस्तुत किया गया है। यदि सोद्देश्यता की दृष्टि से ही देखा जाय तो 'अखबार में नाम' शीर्षक कहानी को छोड़कर, जो शायद संग्रह की सबसे शिथिल कहानी है, शेष सब कहानियों में कुछ-न-कुछ स्पष्ट उद्देश्य लेखक के सामने रहा है। जीवन के खोखलेपन को साहस के साथ उघाड़ देना, यह यशपाल की अधिकांश कहानियों की विशेषता रही है, जो इन कहानियों में भी है। परन्तु साथ ही यह भी कहना होगा कि यह संग्रह यशपाल की कहानी-कला के विकास में एक नया मार्ग-चिह्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं बन पाया, इसमें लेखक का कृतित्व उसके पुराने धरातल से आगे नहीं बढ़ा। इसलिए इस संग्रह में हिन्दी की कहानी-परम्परा के लिए कोई नया संकेत नहीं है, ऐसा संकेत जो कहानी को और अधिक परिमार्जित और अधिक भारतीय बनाने में सहायक होता।

'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए' मार्कण्डेय के कहानी-संग्रह 'पान फूल' की अन्तिम कहानी है, जिसे यशपाल की परिभाषा के अनुसार कहानी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि उसमें घटना नाम को भी नहीं है। वह एक व्यंगात्मक कथा निबन्ध-मात्र है, फिर भी उसकी एक अपनी विशेषता है। उसमें जीवन के एक सत्य को बहुत स्पष्टता और सादगी के साथ व्यक्त किया गया है और उसका कोण नया है। हिन्दी में पिछले दिनों जिस तरह की 'दीदी प्रेयसियों' की एक परम्परा-सी चल पड़ी थी सामान्य नारी उससे कितनी भिन्न है, इसका चित्रण लेखक इस कहानी के माध्यम से सफलतापूर्वक कर पाया है। वह अपनी कहानी के लिए ऐसी नारी का पता विज्ञापन द्वारा पाना चाहता है 'जो आम्र-वल्लरी की भाँति तन्वंगी हो, मल्हार के कोमल स्वर-सी ध्वनि हो जिसकी और छुई-मुई-सा संकोच। पारलौकिक प्रेम में हर क्षण डूबी रहती हो, तपती हो और कम-से-कम ब्याह के लिए माँ-बाप की आज्ञाकारिणी हो''''''

हाँ, एक बात है। ऐसी नारियाँ समकालीन कथा-साहित्य में तो दिखाई देती ही हैं, उनकी कुछ सजीव अनुकृतियाँ—साहित्य के साँचे में ढली हुई मानवी प्रतिमाएँ भी जहाँ-तहाँ नज़र आ जाती हैं, जो साहित्य की भाषा बोलती हैं और एक या दूसरे उपन्यास की नायिका की तरह व्यवहार करती हैं। वे शायद मार्कण्डेय की अनुपलब्धि को झुठला सकती हैं!

मार्कण्डेय की अधिकांश कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं, जिनमें 'गुलरा के बाबा', 'घूरा' और 'मुन्शी जी' का उल्लेख किया जा सकता है। इन कहानियों में लेखक की यथार्थ दृष्टि का ही नहीं जीवन के साथ उसके घनिष्ठ सम्पर्क का भी परिचय मिलता है। लगता है कि वह जिस वातावरण को चित्रित कर रहा है उसमें वह स्वयं रहा है—उसकी रेखाएँ मांसल भी हैं और सप्राण भी। मार्कण्डेय ने अभी बहुत थोड़ा लिखा है, यह उसके रचना-काल का आरम्भ ही है, इसलिए कहीं-कहीं उसके उपकरण अधमँजे प्रतीत होते हैं, फिर भी, इन कहानियों को पढ़कर कहा जा सकता है कि उसकी सम्भावनाएँ असन्दिग्ध हैं। उसने अपने समय तक के कथा-साहित्य के अभावों को ग्रहण किया है, पर कहीं-कहीं, 'सवरइया' और 'रेखाएँ'-जैसी कहानियों में ये प्रभाव बहुत परिलक्ष्य हो गए हैं, जिससे ये कहानियाँ एक-दूसरी से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि एक निश्चित दृष्टिकोण लेकर चलने वाले लेखक की कृतियाँ नहीं जान पड़तीं। जिन कहानियों में लेखक ने घटना को विशेषता दी है, वे कहानियाँ अपेक्षाकृत कमज़ोर हैं, जैसे 'वासवी की माँ', 'रामलाल', 'नीम की टहनी' और 'पान फूल'। लगता है कि घटना-विकास के सम्बन्ध में वह किन्हीं परम्परागत धारणाओं को लेकर चल रहा है। 'पान फूल' में नीली का चरित्र जितना स्वाभाविक है, कहानी का वस्तु-संगठन उतना ही अस्वाभाविक है—दो बच्चियों की जिस भावुकता का चित्रण किया गया है, वह उस आयु की भावुकता नहीं हो सकती।

मार्कण्डेय की कहानियाँ इस दृष्टि से सोद्देश्य नहीं हैं कि उनमें से कोई-न-कोई निष्कर्ष निकाला जा सके, परन्तु वास्तविकता के अंकन की अपनी सोद्देश्यता है और इस दृष्टि से उसकी अधिकांश कहानियाँ आज के जीवन के लिए हैं, क्योंकि वे जीवन से ही ली गई हैं। 'गुलरा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाबा' में चमेली के अन्धी हो जाने की बात खटकती है, अन्यथा वह एक याद रहने वाली कहानी है।'

उदयशंकर भट्ट

टूटे काँटे

'टूटे काँटे' श्री वृन्दावनलाल का नवीन प्रकाशित उपन्यास है। इस उपन्यास में १७३७ और उसके आस-पास के समय का सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक चित्र है। भारतवर्ष पर उन्हीं दिनों नादिरशाह का आक्रमण हुआ और दिल्ली के निरीह प्राणियों की किस क्रूरता-बर्बरता से हत्या हुई इसका विशेष चित्र उपन्यासकार ने इसमें दिया है। बाजीराव पेशवा, निजाम, भोपाल और मुहम्मदशाह में किस प्रकार राजनीतिक षड्यन्त्र चल रहे थे! किस प्रकार एक राज्य दूसरे को हड़प जाना चाहता था। साधारण मनुष्य कितना त्रस्त और बेचैन था। लूट-मार, डकैती, मार-धाड़-हत्या से जनता का जीवन कितना संशयग्रस्त, कितना विपन्न था और इतने पर भी राजमहलों में रंगरेलियाँ होती थीं। रुपया पानी की तरह बहाया जाता था।

उपन्यासकार ने इन सबको एक कथा-सूत्र में बाँधा है। भोला-भाला किसान और जाट मोहन फतेहपुर सीकरी का रहने वाला इस कथा का जहाँ नायक है वहाँ उपन्यास का भी। नूरबाई इसकी नायिका। मालूम होता है प्रत्येक पात्र इस उपन्यास में मनुष्य के गुण-दोषों का एक प्रतीक है। शुबराती, बाजीराव पेशवा की सेना का सिपाही मुसलमान होते हुए भी मुग़ल-सेना के सिपाही और हिन्दू मोहन के प्रति मित्रता का व्यवहार करता है और मोहन उसके बदले निष्ठा तत्परता से मित्रता निभाता है। नूरबाई मुसलमान होती हुई भी मोहन के साथ भागकर उसे अपना पति स्वीकार कर लेती है। बाजीराव की प्रेमिका मस्तानी मुसलमान होती हुई भी बाजीराव के प्रति एकनिष्ठ है। जहाँ यह चित्र है वहाँ हिन्दू हिन्दू की हत्या करता है, मुसलमान मुसलमान की।

उस समय राज-शक्तियों में परस्पर फूट के कारण जनता दुखी थी। फसल काटने के बाद किसान सिपाही बनकर किसी राजा या नवाब की छाया में प्रान्तों या राज्यों पर आक्रमण करते थे। छावनियों में सेना के लाव-लश्कर के साथ गाने-नाचने वाली स्त्रियाँ साथ रहती थीं। शराब पी जाती थी। जो सिपाही युद्ध में मर जाता था उसके परिवार को आजीवन निर्वाह के लिए पाँच रुपये भेज दिये जाते थे। कभी-कभी वे पाँच रुपये बीच में ही सरकारी आदमी हड़प लेते थे। प्रायः वेतन के अलावा सिपाही को लूट में भी भाग मिलता था। साधु-संत देश-देश में प्रचार करते उपदेश देते रहते थे। उदासी साधुओं की अपेक्षा बैरागी साधुओं का ही बाहुल्य था। वे कभी-कभी जनता और धर्म की रक्षा के लिए तलवार, त्रिशूल और भाले लेकर शत्रुओं पर टूट पड़ते थे। नादिरशाह के पंजाब के आक्रमण के समय कुरुक्षेत्र में साधुओं ने उसकी सेना से लोहा

१. 'तुमने क्यों कहा मैं सुन्दर हूँ' : ले०—यशपाल, प्र०—विप्लव प्रेस, लखनऊ।
'पान-फूल' : ले०—मार्कण्डेय, प्र०—चेतना प्रकाशन, हैदराबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया और वे सभी मारे गए। मालूम होता है देश की रक्षा और प्रजा को सुखी-सम्पन्न रखने की ओर किसी भी राजा या नवाब का ध्यान नहीं था। साधारणतया सभी सरकारी कर्मचारी प्रजा को लूटते थे। फिर भी लोग धनी थे। बाज़ार, दुकानें सम्पन्न दिखाई देती थीं।

ये सब चित्र आपको इस उपन्यास में मिलते हैं। वर्माजी के प्रायः सभी उपन्यास इतिहास की भित्ति पर अवलम्बित हैं। अब तक के उनके उपन्यास बुन्देलखण्ड और उसके आस-पास का चित्र उपस्थित करते हैं। 'टूटे काँटे' का क्षेत्र उन सबसे अधिक व्यापक है। घटना-प्रधान इस उपन्यास में उस समय के जीवन का पूर्ण चित्र आ गया है। फिर भी प्रश्न होता है कि घटनाओं में चरित्र का क्या महत्त्व है? साधारणतया ३६० पृष्ठों के इस उपन्यास में कुछ ही चरित्र उभर पाये हैं। शेष घटनाओं की विभीषिका में उभर-उभरकर दब गए हैं। प्रमुख नायक व मोहन उसके मित्र शुबराती के चरित्र अपने में पूर्ण हैं। तोता, मोहन की बहू रोनी-जैसे चले थे अन्त तक वैसे ही हैं। नूरबाई के चरित्र में उठान है, उमंग है; पर ऐसा लगता है कि परिस्थितिवश यह सब उसने स्वीकार किया है। फिर एकाएक मोहन के प्रति उसका आत्म-समर्पण कुछ अमनोवैज्ञानिक लगता है। अन्त तक यह नहीं जान पड़ता कि नूरबाई और मोहन की प्रकृति में साम्य कहाँ था। एक ओर बादशाह और नवाबों के यहाँ उच्च कोटि की गायिका सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी नूरबाई, दूसरी ओर गँवार, अपढ़ सिपाही जाट मोहन। यह केवल परिस्थिति ही कही जायगी जिसमें बाध्य होकर उसने अपने पूर्वरूप को भुला दिया। साथ ही ब्रज के कृष्ण कन्हैया के प्रति उसके झुकाव का भी उसके पिछले जीवन में कहीं आभास नहीं मिलता। बाजीराव का रूप भी इस उपन्यास में नहीं निखर पाया है। हाँ नादिरशाह अपने पूर्ण बर्बर रूप में प्रकट हुआ है।

नादिरशाह के दिल्ली से चले जाने के बाद उपन्यास का रूप एकदम अन्तर्मुख होकर चलता है। फिर भी उसमें कहीं नीरसता नहीं आने पाई है। उपन्यास के प्राण क्लाईमेक्स-संघर्ष केवल उस जगह आते हैं जहाँ मोहन की पहली बहू रोनी तोता, अपने देवर के साथ मोहन से मिलती है। जिसे अब तक वह लड़ाई में मर जाने पर भूत के रूप में प्रसिद्ध सुनती रही थी। उस स्थल पर उपन्यासकार ने बड़े कौशल से अपनी उपन्यास टेकनीक के अनुसार उन दोनों को मिला दिया है और नूरबाई को उसे अपनी बहन मानने के लिए बाध्य कर दिया है।

उपन्यास के तत्त्वों पर विवेचन-दृष्टि डालते हुए मैं चाहता हूँ इसका नाम 'राजनीतिक-ऐतिहासिक उपन्यास' होता पर नादिरशाह के बाद लेखक ने बाजीराव के पुत्र का यज्ञोपवीत, मस्तानी की मृत्यु और बाजीराव की मृत्यु का संक्षिप्त समाचार देकर आधे से अधिक उपन्यास में मोहन, नूरबाई, तोता और रोनी की कथा को स्थान दिया है। भरतपुर, मथुरा के आस-पास वे पात्र घूमते रहते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि राजनीतिक घटनाएँ देश में उस समय नहीं हो रही थीं फिर भी उनका कोई भी चित्र सामने नहीं आता। राजपूताना में उन दिनों क्या हो रहा था क्षत्रियों की क्या अवस्था थी। राजपूत क्या सोचते थे इत्यादि प्रश्नों का उत्तर 'टूटे काँटे' में नहीं है। पर हम शायद सब बातों के उत्तर की उपन्यासकार से अपेक्षा भी नहीं रख सकते। हमें तो जो-कुछ उसने हमें दिया है उसी दृष्टि से देखना है। विरोध और संरोध को कहीं स्थान नहीं हैं। प्रत्येक उत्तर में एक प्रश्न निहित है। देखना यह है कि लेखक ने जो प्रश्न उठाए हैं उनके उत्तर कहाँ तक ठीक है, कहाँ तक सम्मत है। फिर उसकी शैली उपन्यास के केन्वेस के सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी प्रश्न उठता है। इन सब दृष्टियों से मेरा विश्वास है यह उपन्यास जिस उद्देश्य को लेकर लिखा गया है उसमें लेखक पूर्ण सफल हुए हैं।

वर्माजी की भाषा की शैली अपनी है, वह बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक छटा से सप्राण हुई है। उसने इस उपन्यास में पूना से लेकर पंजाब तक चक्कर लगाया है उसमें न उसने कुछ छोड़ा और न नया कुछ ग्रहण ही किया। काश यह भी होता। नूरबाई के नृत्य-वर्णन में यद्यपि मद में भरकर लेखक ने नृत्य की गहराई तन्मयता को पकड़ा है पर कहीं-कहीं वह पुनरावृत्ति में रपट भी गई है। मैं हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार श्री वर्माजी के इस उपन्यास का स्वागत करता हूँ। विश्वास है कि उनके अन्य उपन्यासों की ही तरह इसका भी स्वागत होगा।

नादिरशाह के काल का कोई भी उपन्यास अब तक नहीं था। मेरा विश्वास है उक्त विषय पर अधिकारी कलाकार ने हमें जो-कुछ दिया है उससे हिन्दी के एक अंग की पूर्ति हुई है।[1]

डॉ० शैल कुमारी

चाँदनी के खण्डहर

प्रेमचन्दोत्तर-काल में यथार्थवादी उपन्यासों की बाढ़-सी आ गई। यथार्थवाद का भवन-निर्माण एक ओर मार्क्स के सिद्धान्तों को लेकर और दूसरी ओर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद को लेकर होता रहा है। कहना अत्युक्ति न होगी कि उक्त प्रकार के उपन्यासों के रचयिता अनेक स्थलों पर वाद और विज्ञान को उसके कच्चे (row) रूप में ग्रहण करने की भूल कर बैठे। प्रथमतः साहित्य का किसी वाद का प्रचारक बन जाना उसके पतन का द्योतक है, द्वितीय जब कोई साहित्यकार संस्कृति और मानवता के विकास में अपनी कला के द्वारा सम्यक् योग नहीं दे पाता तो उसकी रचना उसके उत्तरदायित्व के प्रति विश्वासघात ही सिद्ध होती है। हिन्दी में आज एक ओर ऐसे उपन्यास आ रहे हैं जो समाज की वीभत्सता को ही उघाड़ना अपना ध्येय बनाकर चलते हैं और अधिकतर समाज के प्रति उत्तरदायित्व का भाव जाग्रत करने के स्थान पर कटुता, अरुचि और वितृष्णा ही मन पर छोड़कर समाप्त होते हैं, दूसरी ओर ऐसे उपन्यास हैं जो व्यक्ति को नग्न रूप में उपस्थित करते हुए उसके समस्त व्यापारों और व्यवहारों को खोखला सिद्ध करते हुए उसके आत्मविश्वास की ही जड़ खोदने में सफल होते हैं। डार्विन के अनुसार मनुष्य सबसे विकसित पशु है। इस नई विचार-धारा ने १६वीं शताब्दी में दुनिया में हलचल मचा दी थी। फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान ने इस विचार-धारा को अग्रसर किया और व्यक्ति की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, काम और ईर्ष्या मानकर उसे पाशविक प्रवृत्तियों के बण्डल के रूप में हमारे सामने रख दिया। विज्ञान का कार्य किसी भी वस्तु के अंगोपांगों का विश्लेषण करना है; अपनी

१. 'टूटे काँटे' : ले०—वृन्दावनलाल वर्मा, प्र०—मयूर प्रकाशन, झाँसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस शक्ति को लेकर वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किन्तु मनुष्य विज्ञान के प्रायः प्रत्येक रूप के व्यावहारिक मूल्यों का आदर करके उन्हें ग्रहण करता है। विज्ञान के केवल-मात्र विश्लेषणात्मक रूप को ग्रहण करना हानिकर हो सकता है। पुनश्च हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य बुद्धिजीवी भी है, वह केवल पशु नहीं है, उसके पास मनोबल और विवेक की अमूल्य सम्पत्ति है, जो सृष्टि के किसी भी अन्य जीव के पास नहीं है। मनुष्य का सबसे बड़ा सत्य है उसकी मानवता। यही उसका ईश अंश है, यही वह चिरसत्य है जिसको भुलाने के बाद ही वह पशु है। बुद्धि और हृदय, विवेक और संवेदना के सहारे मानव जिस आदर्शवाद का सृजन करता है, वह उसकी प्रकृति का प्रथम यथार्थ है। इस यथार्थ, इसी राख में छिपे हुए अंगारे के समान अनाहत मानवता को उद्बुद्ध करना साहित्यकार का दायित्व है; व्यक्ति को स्वान्वेषण में प्रवृत्त करके अपनी शक्तियों को खोजने के मार्ग में अग्रसर करना साहित्य का प्रथम लक्ष्य है। इतिहास साक्षी है कि विश्व के साहित्य में वही रचनाएँ चिरजीवी हो सकीं जो इस लक्ष्य को सामने रखकर चलीं।

गिरिधर गोपाल गीतकार के रूप में जाने जाते हैं। उपन्यासकार के रूप में यह उनका प्रथम प्रयास है। वस्तु-चयन तथा वर्णन-शैली दोनों ही दृष्टि से इसकी सफलता प्रशंसनीय है। उपन्यास छोटा, घटनाएँ कम; किन्तु प्रभाव गहरा और लक्ष्य vital यही इसकी विशेषताएँ हैं। कथावस्तु का चुनाव हुआ है युद्धोत्तरकालीन एक मध्यवर्गीय परिवार से। गतयुद्ध के फलस्वरूप आर्थिक कष्ट का अनुभव सबसे अधिक मध्यवर्ग ने किया। वह सबसे अधिक दया का पात्र इसलिए बन गया कि वही समाज का सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी वर्ग है, और धनाभाव में उसका सारा जीवन घुटा-घुटा, दबा-दबा और दर्दभरा हो जाता है। भारतीय मध्यवर्ग के अनेक परिवार सुशिक्षित हैं, अगली पढ़ी को अपने से भी अधिक शिक्षित और सुसम्पन्न बनाने के अभिलाषी हैं, वह भले और सुसंस्कृत समाज का सदस्य बनकर रहना चाहता है और सबसे ऊपर अपनी शिक्षा को लज्जित न करना चाहते हुए सचाई और ईमानदारी को निभाते रहना चाहते हैं। इस परीक्षा में वे बल ग्रहण करते हैं अपनी पारिवारिक शिक्षा (training) से तथा उन विशिष्ट संस्कारों से, जिनमें वे पले हैं। जीवन सरल नहीं है, संघर्ष पग-पग पर है, गुत्थियाँ भी कभी-कभी पड़ ही जाती हैं, किन्तु जन्म से पड़ने वाले ममता और स्नेह के संस्कार मार्ग-प्रदर्शन करते है :[1] मानवता को इस मूलभूत तत्त्व से ही प्रेरणा ग्रहण करके संघर्षरत व्यक्ति नवीन प्रभाव का स्वप्न देखने में समर्थ है और स्थिर क़दमों पर जमे रहकर जिन्दगी के अन्धेरे का सामना करने की शक्ति पाता है।[2]

वास्तव में आधुनिक उपन्यासों की राशि को देखते हुए, प्रस्तुत उपन्यास की वस्तु (theme) और नायक सच ही नवीन प्रकार के हैं। (उपन्यास किसी प्रेम-कथा की उलझनों का विश्लेषण नहीं करता)। उपन्यास का नायक वसन्त न तो कोई साम्यवादी विद्रोही युवक है और न विश्लेषणवाद के चक्कर में फँसा हुआ असाधारण (abnormal) चरित्र। वह एक शुद्ध पारिवारिक प्राणी है—अत्यन्त सामान्य और सरल भारतीय मध्यवर्गीय युवक उसके अपने परिवार के विशिष्ट संस्कार उसकी रग-रग में बसे हैं जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। परिवार का

१. द्रष्टव्य पृ० १२७।

२. द्रष्टव्य पृ० १२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धा और विश्वास स्नेह और ममता का वातावरण उस मानसिक सन्तुलन विवेक और पुरुषार्थ का निर्माण करता है जिसके अभाव में बड़ी तेजी से व्यक्तिवादी बनता हुआ समाज मजबूरियों से निकलने का रास्ता खोजने की बजाय उनसे पिसता हुआ दम तोड़ रहा है और अपनी अस्वस्थ स्थिति में बुद्धि की टी० बी० का शिकार हो गया है।

जोशी द्वारा लिखित भूमिका, जिसमें उन्होंने नायक को 'जटिल प्रकृति' कहा है और उपन्यासकार को 'ऐसे रहस्यमय चरित्र का चित्रण' करने के लिए बधाई दी है, के प्रसंग में एक बात कहनी आवश्यक प्रतीत होती है। वसन्त निश्चय ही अणु-युग की उपज है। १९वीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप दुनिया बड़ी तेजी से धार्मिक विश्वासों पर पदाघात करके भौतिकवाद की तरफ दौड़ी थी। किन्तु पिछले महायुद्ध में प्रकट होने वाले विज्ञान के राक्षसी और मानव-संहारक रूप को देखकर तेजी से भौतिकतावाद की तरफ दौड़ते कदम आश्चर्य और भय से ठमक गए। विज्ञान से जिस बल को प्राप्त करने की आशा उसने की थी उसे खोखला देखकर वह अपने अन्तर को ही फिर से खोजने की ओर अग्रसर हुआ। वर्तमान शिक्षित नवयुवक धर्म के रूढ़ रूप को तो ग्रहण करने में असमर्थ है और साथ ही व्यावहारिक जीवन में भौतिक के प्रति विरक्त होना भी उसके लिए असम्भव है, अतः वह एक सहज स्वस्थ समन्वय करने में प्रयत्नशील है। उसके धर्म के मान उसके आन्तरिक व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं, यद्यपि उसका बाह्य, पुराने आदर्शों के अनुसार, सर्वथा अधार्मिक प्रतीत होता है। वास्तव में वर्तमान युग का युवक नैतिकता को कुण्ठाओं से मुक्त करके एक सहज, सरल और स्वस्थ रूप देना चाहता है। यह युवक उस युग की देन है जब भारतीय राष्ट्रीयता का आन्दोलन समाप्त-प्रायः था, जब दासता के जमाने में बनी मनोग्रन्थियों से वह छुटकारा पा रहा था, जब भारत पाश्चात्य सभ्यता के पहले धक्के से प्रकम्पित हो गई सन्तुलन की धुरी को पुनः प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो रहा था।

शिल्प की दृष्टि से 'चाँदनी के खण्डहर' का अपना एक महत्त्व है। यों तो हम 'तीन वर्ष' और 'चित्रलेखा'-जैसे उपन्यास देख चुके हैं, जिनमें कुछ समय की सीमाओं को बाँधकर वस्तु का विकास हुआ है, किन्तु प्रस्तुत उपन्यास की विशेषता यह है कि यह एक बहुत ही छोटा-सा उपन्यास है और इसकी काल-सीमा है केवल २४ घण्टे। एक सुबह ६ बजे वसन्त इलाहाबाद जंकशन पर उतरता है, वहाँ से उपन्यास आरम्भ होता है और दूसरी सुबह ६ बजे नवल स्वर्णिम प्रभात को देखता हुआ जब वह शय्या त्याग करता है, तभी उपन्यास का अन्त आ जाता है। इस बीच में भी कोई कहने लायक 'घटना' नहीं घटती। फिर भी वस्तु-गठन, कथा का प्रवाह, रोचकता और प्रभाव की मार्मिकता की दृष्टि से लेखक वास्तव में बधाई का पात्र है। इस उपन्यास के शिल्प-सौन्दर्य का मूल है सशक्त चरित्र-विधान जिसके सहयोग में उपस्थित हुए हैं कलात्मक कथोपकथन, संक्षिप्त मनोवैज्ञानिक सूत्र और सजीव वातावरण-चित्रण। किंचित् स्थानीय संकेत (local colour) के साथ वह और भी सजीव और आकर्षक बन गया है। लघु उपन्यास की मार्मिकता का बीज उसकी संक्षिप्त किन्तु सशक्त शैली है, वह अनेक घटनाओं का समावेश नहीं कर सकता, वह लम्बी और व्यापक भूमिका नहीं उठा सकता, वह अनेक पात्रों की चरित्र-योजना नहीं कर सकता। घटना-प्रधान न होकर वह भाव और विचार-प्रधान हो जाता है और अपने छोटे-से क्रोड़ में एक महान् सन्देश को लेकर चलता है, जिसकी सफल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मार्मिक अभिव्यंजना में ही उपन्यास की सफलता निहित होती है। छोटे उपन्यास का नायक सामान्य नहीं वरन् एक विशिष्ट व्यक्तित्व (personality) होगा, जो समस्त संवेदना को केन्द्रीभूत करता हुआ सन्निहित सन्देश का विकास करता है। अतः छोटा उपन्यास एक ओषधि-सार (concentrated chemical) की भाँति होता है जिसका प्रभाव भी उतना ही गहरा होता है। उस कार्य को पूर्ण करने के लिए जिस कुशलता और विदग्धता की आवश्यकता है वह 'चाँदनी के खण्डहर' के शिल्प-विधान में प्राप्त है।[1]

जनार्दन मुक्तिदूत

कठपुतली

पिछले कई वर्षों में उपन्यास-साहित्य में अनेक नये प्रयोग किये गए हैं; और अब हम बहुत कुछ अंशों में प्रत्येक उपन्यासकार से किसी न-किसी प्रयोग की आशा भी करने लगे हैं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास 'कठपुतली' भी एक प्रयोग ही है। उपन्यास की कथा-वस्तु की जालियाँ बुनने के लिए कविता, दृष्टान्त, अख्यायिका, लोक-गीत, नाटकों के दृश्य, जीवन-चरित, आत्मकथा, निबन्ध, टिप्पणी (यदि कोई फार्म बच गया हो तो वह भी) आदि साहित्य-अभिव्यंजना के सभी 'फ़ार्म्स' का उपयोग किया गया है।

सबसे पहले हमें कथानक की, इस दृष्टिकोण से परीक्षा करनी चाहिए कि उसके पात्रों के लिए उपन्यासकार द्वारा दिया हुआ अभिव्यक्ति का माध्यम अत्याधिक गरिष्ठ या अनुपयुक्त तो नहीं और किस माध्यम की पाठक के मनोरंजन की दृष्टि से उपादेयता है। मनोरंजक साहित्य की पहली शर्त है जो केवल मनोरंजक न होकर मूल में स्वस्थ भी हो।

नायिका दीपाली का परिचय हमें अनावश्यक रूप से लाहौर के एक बुक-स्टाल पर होता है, जहाँ वह गाड़ी आने के समय के बीच के अवकाश को किसी तरह से काटना चाहती है। किसी तरह राम-राम करके गाड़ी आती है और योजनानुसार दीपाली का बॉय फ्रैण्ड (?)—नाटककार सुनील उसके साथ बनारस जाने के लिए आ पहुँचता है। गाड़ी में 'थर्ड-क्लास' के वातावरण से प्रतीत होता है कि दीपाली को उपन्यासकार ने सिर्फ़ पाठकों के लिए ही थर्ड-क्लास में सफ़र करवाया है। वरना वह क़तई थर्ड-क्लास में फिट नहीं होती। पर सवेरा होते-होते दीपाली (उत्तरप्रदेश की सभ्यता) वह बनारस वासिनी हैं। पी-एच० डी० के लिए अपने चाचा के पास लाहौर में रहती हैं) को ताक पर धरकर ज़ोर-ज़ोर से "चैन की निंदिया जिया अलसाने लागी रामा" गीत गाने लगती है। यद्यपि उपन्यास में लेखक ने दीपाली को पॉलिश्ड और आधुनिक युवती बताया है। बनारस पहुँचकर दीपाली अपनी छोटी बहन मीना की शादी में शामिल हो लेती है और इस बीच दीपाली और सुनील का परिचय विमल बाबू नामक बंगाली चित्रकार से हो जाता है और दोनों—बल्कि तीनों मिलकर इस सत्य का प्रतिपादन करना चाहते हैं कि कलाकार को विवाह नहीं करना चाहिए और जीवन के आर्थिक पहलू के प्रति सर्वथा उदासीन रहना

१. 'चाँदनी के खण्डहर', ले०—गिरिधर गोपाल, प्र०—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। बीच-बीच में उपन्यासकार जो वर्णन देता है उससे प्रतीत होता है कि उस पर लोक-गीत संग्रह का 'मेनिया' बुरी तरह हावी है। वह हर चिन्तन का आधार एक लोकगीत मानता है। मीना की विदा पर समवेदना प्रकट करने के लिए वह वधू को इस रूप में देखता है—

"हम तो बाबुल खूँटे की गैयाँ, जित हाँको हँक जायँ रे—सुन बाबुल मोरे।"

उपन्यास का आकार बढ़ाने की गरज से दीपाली और सुनील सारनाथ घूमते हुए लाहौर वापस लौट आते हैं। उपन्यासकार के कथनानुसार सुनील ने एक नाटक 'मिट्टी की मूरत' लिखा है जो नाटककार की अपनी जीवनी है। नाटक गाँव से चौथे क्लास तक पढ़ने के बाद रासधारियों की मण्डली के साथ हो लेता है और घूमता-घामता बम्बई पहुँचकर उन्हें छोड़ देता है और होटल में कप साफ करने से लेकर फिल्म-कम्पनी के एक्स्ट्रा तक का काम करता है। पता नहीं इस कथा में दीपाली-जैसी सुशिक्षिता और वह भी अंग्रेजी नाटकों पर थीसिस लिखने वाली विदुषी को क्या नवीनता दिखाई देती है कि वह उसे खेलने के लिए अपना सारा प्रभाव उपयोग कर देती है। आखिर नाटक स्टेज होता है और सफल होता है। दीपाली नायिका बनती है।

इस बीच धीरे-धीरे लाहौर में सुनील लोकप्रिय हो जाता है और उसके सम्पर्क में दीपाली की तीन सखी जीनत, पारुल और तेजकौर भी आ जाती हैं। जीनत इक़बाल पर एक पेपर लिख रही है और वह जब उसे लिटरेरी सोसायटी में पढ़ती है तो साहित्य-संसार में तहलका मच जाता है। इससे दीपाली जीनत से ईर्ष्या करने लगती है। इस घटना से कहानी के प्रसार में कोई सहायता नहीं मिलती।

सुनील दूसरा नाटक लिखता है 'गुड़िया और लोरी'। उसके स्टेज होने के बीच के समय में तेजकौर का मामा रिसालदार सरदार अर्जुनसिंह भी एक दिन सुनील से परिचित हो जाता है। अर्जुनसिंह सीधा-सादा गाँव का सिक्ख है और पूरे उपन्यास में सबसे अधिक मनोरंजक पात्र। उसका तकिया कलाम है—'दशम पादशाह दे सिंघों ने'····ऐसा किया वैसा किया, इत्यादि। उसे लेखक ने इतना मूर्ख चित्रित किया है कि जब ब्रिटिश सेना की द्वितीय महायुद्ध में विजय होती है तो सेना की टुकड़ियों से अपने-अपने राष्ट्रीय गीत गाने को कहा जाता है। अर्जुनसिंह को कोई राष्ट्रीय गीत याद नहीं है तो वह निम्नलिखित लोकगीत राष्ट्रीय गीत की तरह अपनी टुकड़ी से गवाता है।

घुग्गी दन्द बटेरा, ओ घुग्गी दन्द बटेरा। हाँ घुग्गी दन्द बटेरा!
हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा!
बले, बले, बले, बले!

[अर्थात् फ़ाख्ता के दाँतों (सरदार जी ने फ़ाख्ता के दाँत देखे होंगे) में बटेर आ गया। हाय रे शेर···शाबाश···शाबाश···शाबाश···शाबाश!]

सरदार जी के अनुसार यह भारत का राष्ट्रीय गीत सबसे अव्वल रहा।

सरदार जी ने अपनी डायरी में अंग्रेजों द्वारा गीत की तारीफ़ के साथ यह भी लिख लिया कि अंग्रेजों को भारत से जाना पड़ेगा····और दशम पातशाह दे सिंघों की नौकरी छूट गई।

'गुड़िया और लोरी' में दीपाली बीमारी के कारण अभिनय न कर सकी, इसलिए जीनत ने उसकी जगह भूमिका की और नायक के न होने के कारण सुनील और एक बूढ़े पात्र में दशम पादशाह दे सिंघों ने भी पार्ट किया। नाटक पुनः सफल हुआ और वह पंजाब यूनीवर्सिटी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इण्टरमीडियेट के कोर्स में भी लग गया। इस बीच जीवन-यापन के लिए सुनील ने एक प्रेस में प्रूफ़रीडरी का काम भी कर लिया। पर प्रूफ़रीडरी ज़ीनत के उससे विवाह करने में बाधक न हुई, यद्यपि ज़ीनत एक अमीर कांग्रेसी मुसलमान की कन्या है। वे मुस्लिमलीग की तरफ़ झुकते जा रहे हैं, पर अपनी कन्या को क़तई एक हिन्दू से विवाह करने में नहीं रोकते। ज़ीनत के पूर्व-प्रेमी जावेद का दिल टूटता है तो दया करके पारुल जावेद से विवाह कर लेती है। इन दोनों शादियों में वर-वधू पक्ष के लोग कुछ नहीं बोलते। अस्तु।

प्रेरणा के लिए सुनील अर्जुनसिंह की ज़मींदारी में सांदलबार पहुँचता है और वहाँ के 'जांगली' लोगों से आगामी नाटक 'जंगल रोता है' की प्रेरणा प्राप्त करके ऐसे वक्त वापस लाहौर लौटता है जब कि लाहौर में हत्याकाण्ड, आग और लूट का ताण्डव हो रहा है। ज़ीनत के पिता भारत विभाजन से पहले ही मुस्लिमलीगी हो जाते हैं और उनकी तथा जावेद की सहायता से ज़ीनत (कल्याणी बनकर) दीपाली, तेजकौर, सरदार अर्जुनसिंह, सुनील आदि दिल्ली (शरणार्थियों के रूप में) सुरक्षित पहुँच जाते हैं। इधर के हिन्दू और उधर के मुसलमान अपने वर्षों के प्रेम का परिचय देते हैं। पारुल अब नर्गिस बन गई है। दीपाली, कल्याणी और तेजकौर एक ही स्कूल में पढ़ाती हैं। वे रोज गाँधीजी की प्रार्थना सभा में भाग लेती हैं। इधर सुनील के यहाँ पुत्र पैदा होता है और सुनील लिखना बन्द कर देता है। तेजकौर का विवाह केवल चौधरी नामक पत्रकार से हो जाता है। इस तरह सबके विवाह हो जाते हैं, पर दीपाली विवाह नहीं करती। वह एक परित्यक्त जारज बच्चे को गोद ले लेती है और एक दिन बिना किसी उद्देश्य के बनारस वापस चली जाती है।

मूल कथा तो यही है। इसमें इतना और जोड़ देना चाहिए कि गाँधीजी की मृत्यु का सबसे अधिक असर हुआ सुनील पर। यह सोचकर कि संसार कलाकारों, रहनुमाओं और मसीहाओं की क़द्र नहीं करता तो वह नाटक क्यों लिखे? उसने फिर कभी नाटक नहीं लिखे। पुनः होटल में 'कप-वसी' धोये या नहीं, यह लेखक ही जाने।

इस ज़रा-सी कथा को पूरे ४४८ पृष्ठों में लिखा गया है। मेरे ख़याल से इससे चौथाई भी ज़रूरत से ज़्यादा ही रहते। ख़ैर यह तो लेखक की अपनी स्वतन्त्रता है। हमें तो यह देखना है कि उपन्यास का विस्तार अनावश्यक तो नहीं है। प्रत्येक पात्र लोकगीत गाता है या आख्यायिकाएँ सुनाता है। प्रूफ़रीडरी के दिनों में सुनील भगतसिंह के सम्पूर्ण जीवन को बार-बार पढ़ता है और लेखक उसे उदारता से पाठकों की सूचना के लिए उपन्यास में भी दर्ज कर देता है। इसी तरह नायक के नाटक की लोरी या दृश्य भी उपन्यास में शामिल हैं, जिनसे कथा के प्रसार की गति दीर्घकाल तक रुद्ध रहती है। सच कहा जाय तो उपन्यास की असली कथा पुस्तक के २०० पृष्ठों के बाद आरम्भ होती है। उससे पहले के वर्णन लम्बे, सुस्त और शिथिल हैं, बल्कि उन्हें कठपुतली की भूमिका मानना ही ज़्यादा अच्छा होगा। जैसा कि लेखक ने समर्पण में कहा है 'श्री जवाहरलाल नेहरू को जिनके 'दो मसजिदें' नामक निबन्ध से मुझे इस उपन्यास की प्रेरणा मिली'। दो मसजिदों की कथा उपन्यास के पाठकों तक प्रतीक रूप में पहुँचाने के लिए कुछ नहीं तो कठपुतली के ३०० से अधिक पृष्ठ कुरबान कर दिये गए हैं। फिर कहीं-कहीं वर्णन अश्लील भी हो उठते हैं जिनकी न ज़रूरत थी और न उन्हें चूँकि ऐसा पंजाब में हुआ करता था ज्यों का-त्यों धर देने की ज़रूरत थी। ज़रा मेले का वर्णन सुनिये—"भीड़ को चीरती हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीनों सखियाँ (दीपाली, जीनत और तेजकौर) बाहर की तरफ़ चल पड़ीं। लोगों की रगों में नया ख़ून उछल रहा था, उनके चेहरों पर मुस्कानें नाच रही थीं। कोई कह रहा था—माल बुरा नहीं! कोई कह रहा था—दूध में बताशे घुले जा रहे हैं! फिर एक तरफ़ से आवाज़ आई—मेले की गुड़िया! किसी ने कहा—फ़ाख्ता नहीं कबूतरी! पास से एक आवाज़ उछली—हुस्न का छज्जा! ये सब आवाज़ें, ये मज़ाक मेले में रंग भर रहे थे। इसका बुरा मानना तो ठीक नहीं था।" इतना-सा ही अंश काफ़ी होगा। इससे क्या हम यह मानें कि पंजाब ने सभ्यता के नाम पर उच्छृङ्खलता ही दी है और संस्कृति के नाम पर पंजाब शून्य है?

भाषा कहीं-कहीं तो बहुत सुन्दर है और कहीं-कहीं अजीब अनगढ़-सी। ऊबड़-खाबड़, गैर मुहावरेदार और अंग्रेज़ी का अनुवाद····

सरदार अर्जुनसिंह, जिसने अंग्रेज़ी नहीं पढ़ी है, कहता है—"हमारे बीच में कोई-न-कोई काली भेड़ तो रहती ही है" जो 'there is always a black-sheep in the fold' का सीधा अनुवाद है, इत्यादि।

यद्यपि उपन्यास में राष्ट्रीय तत्त्वों की भरमार है पर वे बड़े अस्वाभाविक रूप में उपन्यास में पेश किये गए हैं। इस तरह से एक अच्छा-खासा उपन्यास अति-प्रयोगशीलता के कारण भूल भुलैया बनकर रह गया। हम ४४८ पृष्ठों (पढ़ने को धीरज काफ़ी चाहिए) को दस बार भी पढ़कर यह समझने में असमर्थ हैं कि उपन्यास का ध्येय क्या है? पात्रों के जीवन का कोई लक्ष्य है या नहीं? सभी पात्र लेखक के हाथों की कठपुतलियाँ हैं। वह जैसे चाहता है नचाता है, मारता है, जिलाता है। इस दृष्टि से कि सभी पात्रों की अपनी कोई गति नहीं बल्कि वह लेखक की खींची हुई डोरी से परिचालित होते हैं, उपन्यास सफल है और नाम सार्थक। किन्तु अच्छा होता कि इस तरह के सुन्दर प्रयोग (जैसे कठपुतली में हैं) कठपुतली-जैसे निर्जीव उपन्यासों पर जाया न किये जायँ।[1]

विजयेन्द्र स्नातक

'ओ मेरे सपने'

आधुनिक जीवन के वैषम्य और विद्रूप को हास्य-विनोद के मृदुल-मोहक वातावरण में अङ्कित करने की सहज शैली का सुन्दर रूप हमें श्री जगदीशचन्द्र माथुर लिखित 'ओ मेरे सपने' में संकलित पाँच एकांकी नाटकों में दृष्टिगत होता है। हमारे मन-वचन-कर्म की असंगतियों के अन्तराल में एक ओर जहाँ हमारी मान्यताओं की निस्सारता रहती है, वहाँ दूसरी ओर कृत्रिमता, आडम्बरप्रियता और अज्ञानता की एक ऐसी अन्तःसलिला धारा प्रवाहित होती रहती है जिसे देखते हुए भी हम देख नहीं पाते और अपनी मूर्खताओं की अजस्र परम्परा बनाते चले जाते हैं। नाटककार

१. कठपुतली : लेखक—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, १०० बेयर्ड रोड, नई दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी विषमताओं और विडम्बनाओं पर कटाक्ष-व्यंग्य की प्रखर शैली से प्रहार करते हैं। ऐसे मानसिक-सामाजिक व्याधियों के निराकरण और निदान का यही मार्ग प्रायः नाटकों में अपनाया जाता रहा है, किन्तु प्रस्तुत एकांकियों में कटोर व्यंग्य के दंश-प्रहार को सर्वथा दूर रखकर हास्य परिहास की ऐसी मनोरम शैली लेखक ने स्वीकार की है जो अभिव्यंग्य को व्यक्त करती हुई भी अपनी कोमलता तथा शालीनता को अक्षुण्ण बनाये हुए है। लेखक के पास परिहास-भावना 'सेन्स ऑव ह्यूमर' की इतनी पूँजी है कि वह मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन करते हुए 'स्मित-आनन' बना रहता है और पाठकों का मनोरंजन करता हुआ व्यंग्य-पुलक तक ही सीमित रहता है। जीवन में आये-दिन घटित होने वाली छोटी-मोटी बातों, घटनाओं और अनुभवों को विनोदवृत्ति के माध्यम से 'मिनिएचर' में झलकाने की ऊँचे दरजे की कला इन नाटकों में है और यही इनकी सफलता है।

साधारणतः नाटकों में बाह्य संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करके ही लेखक अपने चरित्रों को उद्भासित और विकसित करते हैं। पात्रों को स्पन्दित करने के लिए भी द्वन्द्व और संघर्ष की भूमिका बनानी पड़ती है। किन्तु इन नाटकों में न तो कोई उल्लेखय द्वन्द्व है और न किसी प्रकार का गम्भीर संघर्ष। यदि कहीं छुटपुट संघर्ष आया भी है तो उसे लेखक ने अपनी विनोदी वृत्ति से तिरोहित करके विकच हास्य की धवलिमा में छिपा लिया है। सामाजिक एवं मानसिक जटिल ग्रन्थियों को खोलने का लेखक ने उपक्रम ही नहीं किया। जो भाव-ग्रन्थियाँ प्रस्तुत की हैं उनका आशय प्रच्छन्न न होकर स्पष्ट और दृष्टिगोचर है। भावों की विवृति में किसी दार्शनिक शैली या गूढ़ पद्धति का प्रयोग नहीं है। वैषम्य और विद्रूप के आर-पार देखने की पैनी दृष्टि लेखक के पास है अतः साधारण विनोद में भी वह अभिव्यंग्य को पकड़कर व्यक्त करने में नहीं चूकता।

इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने कोई गूढ़-गम्भीर तथ्य, गहन दर्शन अथवा उदात्त आदर्श इन नाटकों में प्रस्तुत नहीं किया। जीवन की ऐसी कोई व्यापक या जटिल समस्या भी इनमें नहीं जो अपना समाधान पाकर कल्याणकारी सिद्ध होती। लेखक की सृजन-प्रेरणा के मूल में भी ऐसा कोई भाव नहीं रहा। उसने तो अपने व्यस्त जीवन के दो-चार फुरसत के क्षणों में दिल-बहलाव के लिए ही इन्हें लिखा है। अपने नाटकों के सम्बन्ध में लेखक स्वयं सशंक है कि 'कहीं गम्भीर पाठकों और सुधी समालोचकों को कोणार्क के बाद शायद मेरे ये एकांकी हल्के जंचें। न इनमें नाटकों में कोई गहन दर्शन है, न किन्हीं प्रबल प्रेरणाओं का आघात-प्रतिघात, न किन्हीं उदात्त आदर्शों की आवेशपूर्ण व्यंजना!' दिल-बहलाव के लिए उद्देश्य-विशेष की छाप से रहित हल्का लिखने की तबियत को ही इनकी रचना का प्रेरक माना है। नाटक-रचना के मूल में गहन दर्शन या उदात्त आदर्श की अनिवार्यता कदाचित् आज कोई भी नहीं मानेगा। जीवन की छोटी-मोटी बातें भी नाटक द्वारा व्यक्त की जा सकती हैं और उनकी संवेदना और सरसता में किसी को संदेह नहीं होना चाहिए। सामाजिक विषमताओं और मानसिक विडम्बनाओं के उद्घाटन के लिए यदि लेखक व्यंग्य-दंश की दाहक मशाल न जलाकर फुलझड़ी के निरापद अग्नि-स्फुलिंगों के आलोक से उन्हें चमका भर देता है तो यह उसकी सफलता ही कही जायगी। मानवीय दुर्बलताओं पर 'खड्ग-हस्त और कुंचित-भ्रू' होकर प्रहार करना सर्वदा श्लाघ्य भी नहीं होता। 'ओ मेरे सपने' नाटकों में लेखक ने 'केरिकेचर' की शैली द्वारा कतिपय विद्रूपों से हमारा हास्य के वातावरण में परिचय कराया है। इस शैली के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'केरिकेचर'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेखाओं में गम्भीर, गहन, सूक्ष्म तथ्यों को समेटना सामान्य कोटि के लेखक की क्षमता से बाहर की बात है। केरिकेचर के असन्तुलित होते ही स्वयं हास्यास्पद होने का खतरा तो सदा रहता ही है। हिन्दी में, इसी कारण हल्की और सरल, संयत और भावपूर्ण शैली में लिखे गए मर्मस्पर्शी हास्यपूर्ण एकांकियों का अभाव है। तीक्ष्ण और प्रहारपूर्ण व्यंग्य की शैली में तो बीसियों सुन्दर नाटक लिखे गए, किन्तु कोमल, मृदुल और आह्लादक शैली में नहीं। हर्ष का विषय है कि श्री माथुर ने अपना दिल बहलाव करते हुए एक उपेक्षित अंग का प्रसाधन भी कर दिया।

इन एकांकियों में जिन पात्रों की अवतारणा हुई है वे 'चरित्र चित्रण' की पूर्णता तक नहीं पहुँच सके। व्यक्तित्व का सहज चित्राङ्कन ही इन नाटकों में मिलेगा; वह भी कतिपय विशिष्ट क्षणों के व्यक्तित्व का। जिन क्षणों को लेखक ने चुना है वे प्रायः मानसिक दुर्बलता के हैं, किन्तु ऐसे नहीं कि समाज को डुबा दें या किसी मर्यादा को खण्डित करके नाश का ताण्डव प्रस्तुत करें। सम्भव है इसी कारण इन नाटकों में परिपूर्ण चरित्रों की सृष्टि नहीं हुई। लेखक ने अपनी सफाई में कहा है कि—'पात्रों के साथ छेड़-छाड़, कुछ चुहल, कुछ शरारत तो की गई है, लेकिन उनको बिल-कुल स्याह या सफेद नहीं रँगा गया।'

नाटकों की अभिनेयता की ओर लेखक का पूरा-पूरा ध्यान रहा है। नाट्य-वस्तु के चयन के लिए लेखक को किसी विशिष्ट प्रवृत्ति का संधान नहीं करना पड़ा, रोजमर्रा के जीवन में से ही उसने वस्तु को ग्रहण करके उपन्यस्त किया है। कथोपकथन अतीव सरल, तरल, कोमल और आक-र्षक हैं। शैली में कृत्रिमता का लेश भी नहीं। फड़कते होंठों पर आने वाले विनोदी-सम्वाद, कॉफी-हाउस और रेस्टराँ के किलकते वातावरण में गूँजने वाले लुभावने वाक्य, सिनेमा की हल्की-फुल्की अभिव्यंजना पर आधृत पैरोडी का शिल्प। पात्र-सृष्टि भी जानी-पहचानी है। कहीं परिवार-नियोजन में विश्वास करने वाले सन्तति-बहुल युवक हैं तो कहीं दफ्तर के कार्यभार से व्यस्त जीवन व्यतीत करने वाले अफसर जिन्हें अपने दाम्पत्य जीवन के उषाकाल में ही मध्याह्न का आभास होने लगा है। सिनेमा-प्रेमी मनचले युवकों का केरिकेचर प्रस्तुत करने में अतिरंजना भले ही हो किन्तु ऐसे मूढ़ों को मार्ग बताना 'सविता गहि भूमि पै डारिवो है।'

नाटकों की अभिव्यंजना-शैली की विशेषता यह है कि इनमें लेखक ने अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने के लिए इतने विचित्र उपमान ढूँढ़े हैं कि लेखक की उद्भावना शक्ति पर विस्मय होता है। प्रायः फिल्मी जीवन के गाने, कथानक और पात्रों की पृष्ठभूमि में अप्रस्तुत योजना की गई है। 'शादी वह दीवार है जो मनुष्य अपनी आत्मा रूपी अनारकली के चारों तरफ चिनता है ताकि वह घुटकर मर जाय।' दाम्पत्य जीवन पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने अच्छे मार्मिक वाक्य कहे हैं। सन्तति-निग्रह के युग में दो बच्चों का एक साथ पैदा होना ही कुछ कम अभिशाप नहीं है। 'खिड़की की राह' एकांकी में गायक दिलीप की अर्थ-गर्भ उक्ति आज के प्रपंची समाज की कार्य-शैली का पूरा-पूरा परिचय देने में समर्थ है। दिलीप खिड़की की राह घर में आया—अर्थात् 'बैक डोर पॉलिसी' स्वीकार की और उसने कार्यसिद्धि इतनी क्षिप्रता के साथ की कि दरवाजे से आने वाले लोग देखते रह गए। 'समाज उसके आगे झुकता है जो खिड़की की राह कूदकर उसे दबा सके। जिसने दरवाजा पकड़ा, वह तो उसका गुलाम है।' प्रवीण धोखा खाता है और उर्मिला दिलीप के साथ—कलाकार के साथ (?)—नौ-दो ग्यारह होती है। 'ओ मेरे सपने' शीर्षक एकांकी में सिनेमा-प्रेमियों का केरिकेचर प्रस्तुत करते हुए, दूसरे दृश्य में तीनों का सरिता के घर पहुँचकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणय प्रदर्शन अधिक युक्तिसंगत और स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता, फिर भी लेखक ने उसका वर्णन अवश्य सजीव शैली में किया है। भारतीय फिल्मों के कथानक, संगीत, सम्वाद आदि पर भी लेखक ने प्रसंग-प्राप्त रिमार्क कसे हैं और फिल्मों की अस्वाभाविक शैली का अच्छा खाका खींचा है। फिल्मी सितारों के पीछे मतवाले मूढों की कसक-कहानी कहते समय उनके 'विशफुल-थिंकिंग' का वर्णन नाटकीय शैली में अभिराम है।

इस संग्रह के प्रत्येक नाटक के साथ लेखक ने रंगमंच की रचना का निर्देश देने के निमित्त चित्र बनाए हैं जिनके आधार पर 'सैटिंग' तैयार की जा सकती है। अभिनय में रुचि रखने वाले के लिए कुछ ज्ञातव्य बातें भी प्रारम्भ में लिखी हैं, जिनकी उपादेयता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। अन्त में 'मैं भी खेल चुका हूँ' शीर्षक एक लघु लेख है जिसमें लेखक ने अपनी अभिनय-सम्बन्धी प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए अपने वे अनुभव लिखे हैं जो किसी भी अभिनेता के लिए ग्राह्य हो सकते हैं। आजकल स्कूल, कॉलेज तथा अन्य अव्यावसायिक (एमेचर) नाटक-संघ अभिनय की दिशा में तीव्रता से कदम बढ़ा रहे हैं। क्या ही अच्छा हो कि अनुभवी लेखक और अभिनय में रुचि रखने वाले कलाकार उन्हें उचित परामर्श और निर्देशन देकर सत्पथ पर आरूढ़ करें। लेख 'पर्सनल' होने पर भी अभिनय में रुचि रखने वालों के लिए उपयोगी है।

संक्षेप में, श्री माथुर के इन नाटकों में भले ही वस्तुगत मौलिकता या नाटकीय नूतन उद्भावना न हो किन्तु उनकी सरस और सहज अभिव्यंजना ही इनकी नवीनता है और यही इनकी विशेषता भी। गम्भीर समस्याओं में उलझने के बजाय लेखक यदि कभी-कभी दैनिक जीवन की छोटी-मोटी विडम्बनाओं पर भी नजर रखे तो यह कला के क्षेत्र में स्पृहणीय प्रवृत्ति का ही सूचक है।[1]

विश्वम्भर 'मानव'

परिव्राजक की प्रजा

'परिव्राजक की प्रजा' में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने छोटे-छोटे अनेक संस्मरणों के रूप में अपनी आत्म-कथा लिखी है। शान्तिप्रिय के पिता संन्यासी हो गए थे। ग्रन्थ में इन्हीं संन्यासी (परिव्राजक) पिता की सन्तान (प्रजा) की जीवन-गाथा वर्णित है।

इतने बड़े ग्रन्थ से इस बात का पता नहीं चलता कि शान्तिप्रिय का जन्म कब हुआ। पर इनका बचपन का नाम मुच्छन था। इनके पिता आजमगढ़ जिले में बरहँपुर गाँव के निवासी थे। संस्कृत की शिक्षा के लिए वे काशी आए। बाद में संन्यासी हो गए। परिवार वहीं रहने लगा। इनकी माँ की मृत्यु इनके बचपन में ही हो गई थी। बड़ी बहन कल्पवती बाल-विधवा थी। उसी पर इनके भरण-पोषण का भार पड़ा। इनके दो छोटे भाइयों की मृत्यु अल्पावस्था में ही हो गई। एक दिन पिता की दुःखद मृत्यु का समाचार मिला। छोटी बहन का विवाह

---

१. ओ मेरे सपने (एकांकी-संग्रह)—ले० जगदीशचन्द्र माथुर। प्र०—नीलाभ प्रकाशन गृह, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक गाँव में हुआ था। वह भी चल बसी। लेकिन इन्हें जीवन का सबसे बड़ा आघात उस समय लगा जब मार्च १६३६ में इनकी बड़ी बहन की मृत्यु एक अस्पताल में हो गई और उसे बचाने के लिए ये कुछ नहीं कर सके।

इस ग्रन्थ में दो ही व्यक्ति प्रमुख हैं—एक शान्तिप्रिय, दूसरी उनकी बड़ी बहन। बड़ी बहन करुणा की सजल मूर्ति है। वह बाल-विधवा अपने छोटे-से जीवन में माता-पिता, छोटी बहन और दो कोमल भाइयों की मृत्यु का आघात झेलती है और बच्चे के समान शान्तिप्रिय का लालन-पालन करती है। शान्तिप्रिय ने उन्हें धार्मिक, सुरुचिपूर्ण, आचार-विचार का ध्यान रखने वाली और परिश्रमी चित्रित किया है। उनकी तुलना मीरा और स्वर्ग की कल्पलता से की है। इस बहन के प्रति शान्तिप्रिय के हृदय में अत्यधिक श्रद्धा है; अतः वर्णन प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण और अतिरंजित हो गए हैं। अपने को बधिर और कृशकाय बतलाया है। इस कृशता की तुलना उन्होंने मृगशावक, शशक, कुड्मल और ओसबिन्दु से की है। ये उपमान उनके लिए कहाँ तक उपयुक्त हैं, यह तो वे ही लोग बता सकेंगे जिन्होंने उनके कभी दर्शन किए हैं।

इस आत्म-कथा में शान्तिप्रिय ने अपने साहित्यिक और सांसारिक जीवन के विकास के साथ अपनी बड़ी बहन के प्रति हृदय की समस्त श्रद्धा उंड़ेलते हुए अपने अभावों का खुला वर्णन किया है। यद्यपि लेखक के अकर्मण्य होने और विषम परिस्थितियों में संघर्ष से पलायन करने के कारण इस कृति से पाठकों को कोई सामाजिक प्रेरणा नहीं मिलती, फिर भी इसके कुछ स्थल बड़े मर्मस्पर्शी और पठनीय बन पड़े हैं।

वर्णन की दृष्टि से यह ग्रन्थ थोड़ा महत्त्वपूर्ण है। शान्तिप्रिय को कवि-हृदय मिला है और उसका प्रभाव उनकी गद्य-शैली पर भी पड़ा है। विभिन्न प्रसंगों के बीच सरयू-तट और सरोवर, खेत और अमराइयों, शरद चाँदनी और पटपर, कनेर, नीबू, नीम और बेर जिस किसी भी वस्तु को इन्होंने बाह्य वस्तु-वर्णन के रूप में ग्रहण किया है, उसे चमका दिया है। काशी तो बहुत ही सजीव होकर इनके संस्मरणों में आई है।

इन संस्मरणों में अनेक व्यक्तियों की चर्चा हुई है। राजनीतिक क्षेत्र में जिन महापुरुषों की चर्चा है, उनकी झाँकियाँ ही इस ग्रन्थ में मिलती हैं। नाम तो इन्होंने बहुत-से व्यक्तियों के लिये हैं जैसे महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, सरोजनी नायडू, गणेश शंकर विद्यार्थी और चन्द्रशेखर आजाद आदि; पर इसे राजनीतिक महापुरुषों का सम्पर्क नहीं कह सकते। इनमें से किसी को इन्होंने दूर से देखा-भर है, किसी का भाषण सुना है, किसी के पास खड़े हो गए हैं और किसी के बढ़कर चरण भी छू लिए हैं। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में थियॉसोफ़ीकल सोसाइटी, आर्य समाज और ईसाई प्रचारकों की चर्चा-मात्र है। इससे इनके मन की किसी गहरी प्रतिक्रिया का पता नहीं चलता।

शान्तिप्रिय अन्ततः साहित्यिक व्यक्ति हैं। इनके छोटे-छोटे दो कविता-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। कवि के रूप में तो इन्हें ख्याति नहीं मिली, पर आलोचक के रूप में इन्होंने यश का अर्जन किया। यह वह युग था जब हिन्दी में आलोचना की परम्परा प्रारम्भ नहीं हुई थी और छायावादी काव्य को सहृदयता की दृष्टि से देखने वाले समीक्षक एक प्रकार से थे ही नहीं। उस युग में अपने ढंग से उस शाखा का भावात्मक विवेचन करके इन्होंने बड़ा समयो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पयोगी कार्य किया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में आलोचना के ऐतिहासिक विकास की चर्चा जब कभी होगी, तभी अन्य प्रभाववादी आलोचकों के साथ इनका नाम लिया जायगा। इस ग्रन्थ में कविताओं के लम्बे उद्धरणों से इस बात का आभास मिलता है कि अपने कवि-रूप के प्रति कुछ आवश्यकता से अधिक मोह इनके हृदय में अब भी शेष है। पर इस दिशा में इनकी स्थिति कुछ-कुछ वैसी ही रहेगी जैसी पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवराज और प्रभाकर माचवे की।

साहित्यिकों में प्रसाद और राय कृष्णदास की चर्चा थोड़ी अधिक है। अन्य साहित्यकारों में प्रेमचन्द, बनारसीदास चतुर्वेदी, कृष्णबिहारी मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, उग्र, दुलारेलाल भार्गव, निराला, पन्त, महादेवी, 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा और रामकुमार का उल्लेख हुआ है। विभिन्न क्षेत्रों की इन सूचियों से ऐसा विश्वास जगेगा कि लेखक ने इस ग्रन्थ में अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक हलचल का परिचय दिया होगा। पर युग-चेतना शान्तिप्रिय जी में है ही नहीं। यह युग सभी दिशाओं में अनेक महान् घटनाओं का युग है; पर इस ग्रन्थ में किसी भी महान् घटना की कोई महान् प्रतिक्रिया नहीं पाई जाती। कहा जा सकता है कि राजनीति, धर्म, समाज और शिक्षा उनके क्षेत्र नहीं हैं और महात्मा गांधी, एनी बीसेंट, महामना मालवीय आदि की जो चर्चा हो गई है वह वैसे ही; पर साहित्य तो उनका क्षेत्र है। इस क्षेत्र में भी सिवाय एक प्रकार की मुग्ध दृष्टि के और कुछ नहीं पाया जाता।

दूसरी प्रवृत्ति जो थोड़ी खटकती है वह है इनका अधिकतर साहित्यिकों को स्वार्थ की दृष्टि से देखना। ये जिस किसी के सम्पर्क में आते हैं उससे आश्रय या आर्थिक सहायता की आशा करते हैं और क्योंकि ऐसा सदैव सम्भव नहीं होता; अपने हृदय के असन्तोष को ये छिपा नहीं पाते। प्रसाद, राय कृष्णदास, पन्त और महादेवी सभी से ये इस दृष्टि से असन्तुष्ट दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द, मैथिलीशरण और 'निराला' पर भी दबे-छिपे व्यंग्य इन्होंने किए हैं। संस्मरणों में दो ही ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति हैं जिन्हें शान्तिप्रिय की प्रशंसा प्राप्त हुई है—उनमें से एक है हिटलर, दूसरे श्री दुलारेलाल भार्गव।

यह आत्म-कथा कई समस्याएँ हमारे सामने उठाती है। पहली है मनोवैज्ञानिक। बाधाएँ सभी के जीवन में रहती हैं—कलाकार के जीवन में कुछ अधिक। जीवन-संघर्ष में व्यक्ति या तो परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है या फिर उनसे दब जाता है। दुःख से दबने वाला व्यक्ति आत्म-रक्षा के लिए प्रायः परमुखापेक्षी हो जाता है। संवेदनशील और अन्तर्मुखी स्वभाव के व्यक्ति के साथ उलझन यह रहती है कि वह सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से आशा तो बहुत कुछ करता है, पर अधिक खुलकर कुछ नहीं कह पाता। चाहता वह यह है कि सामने का व्यक्ति उसकी कठिनाइयों को स्वयं समझकर उन्हें दूर कर दे। यदि नहीं करता तो जैसे वह कोई अपराध करता है। ऐसी दशा में परोपजीवी स्वभाव के हीन-भावना युक्त दुर्बल प्राणी कभी-कभी व्यक्ति और संस्थाओं से आगे बढ़कर अपने जीवन के अभाव और पीड़ा के लिए सारे समाज को ही दोष देने लगते हैं, यद्यपि व्यक्ति और समाज का उतना बड़ा दोष नहीं होता।

दूसरी समस्या है साहित्यिक। व्यक्ति के साहित्य पर उसके जीवन की घटनाओं और स्वभाव का कहीं-न-कहीं प्रभाव पड़ता ही है। लेकिन यदि किसी व्यक्ति की यह धारणा बन गई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि वह तो है निरीह और उसके चारों ओर का वातावरण है एकदम विषाक्त, तो यह बहुत सम्भव है कि वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण विकृत हो उठे और प्रत्येक उस व्यक्ति को जो किसी रूप में उसके काम नहीं आया, निरपेक्ष और न्यायपूर्ण दृष्टि से वह न देख सके। इस आत्म-कथा में जिन बड़े साहित्यकारों के सम्पर्क में लेखक आया है उनके व्यक्तित्व और साहित्य में बहुत-सी ऐसी बातें उसे मिल सकती थीं जो पाठकों की उत्सुकता-वृत्ति को तुष्ट करके संस्कारों को व्यापक और कोमल बनातीं। आलोचक होने के कारण लेखक यह काम अत्यन्त विदग्धता से कर सकता था; पर खेद की बात है कि उसने अपने युग के सभी बड़े साहित्यकारों को बड़े सीमित और संकुचित दृष्टिकोण से ही देखा।

तीसरी समस्या है सामाजिक। यह मानते हुए भी कि शान्तिप्रिय जी में अपनी परिस्थितियों से ऊपर उठने की शक्ति नहीं रही, इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि बचपन से ही उनके अन्तर में एक ऐसा उज्ज्वल संस्कार निहित था जो धीरे-धीरे साहित्य के क्षेत्र में उन्हें खींच लाया। यदि शान्तिप्रिय जी साहित्य के क्षेत्र में न आए होते तो कहा नहीं जा सकता वे क्या होते। यह बात यद्यपि साहित्यिक आलोचना के बाहर की है, फिर भी क्योंकि एक साहित्यिक के जीवन से सम्बन्ध रखती है, अतः उपेक्षणीय नहीं है। आलोचना के क्षेत्र में अपनी क्षमता के अनुसार शान्तिप्रिय जी ने हमें कुछ-न-कुछ दिया ही है। उनकी नाम-मात्र की शिक्षा-दीक्षा और दुर्बल शरीर को देखते हुए यह भी स्पष्ट है कि जीविकोपार्जन के लिए वे कोई और काम कर भी नहीं सकते थे। आज के युग में यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि दो-एक साहित्यिकों को छोड़कर हिन्दी में कोई लेखक केवल अपनी रचनाओं के बल पर जीवित नहीं रह सकता। ऐसी दशा में यदि हम सभी मिलकर एक 'लेखक निधि' की स्थापना कर सकें और भविष्य में अपने संकट-ग्रस्त लेखकों की जीवन-ज्योति को असमय बुझने से बचा सकें तो एक महान् कार्य की नींव डाल सकेंगे। साहित्यिक से आलोक और आनन्द चाहे संसार-भर को मिले, पर उसका दर्द केवल साहित्यिक ही समझ सकता है।[1]

बालशौरि रेड्डी

तेलुगु साहित्य का इतिहास

तेलुगु साहित्य का इतिहास इतना विस्तृत है कि उसे सौ या सवा सौ पृष्ठों में समझाना कठिन है। ऐसी स्थिति में 'तेलुगु और उसका साहित्य' भूमिका आदि को मिलाकर १२५ पृष्ठों में तैयार की गई है। इसमें कितना विषय दिया जा सकता है, पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि इसमें लेखक ने तेलुगु-साहित्य के इतिहास की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। उन्हीं के शब्दों सुनिए—"मैंने इसमें 'गागर में सागर' भर देने की विनम्र चेष्टा की है। तेलुगु साहित्य का इतिहास इतना विस्तृत और गम्भीर

१ लेखक—शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रकाशक—इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि इस ज़रा-सी पुस्तक में उसकी रूप-रेखा प्रस्तुत करना कठिन काम था। मैंने इस विषय का ध्यान रखा कि हिन्दी के माध्यम से आन्ध्रेतर भाषियों को तेलुगु-साहित्य का परिचय सरल ढंग से मिल जाय।"

तेलुगु साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। आधुनिक तेलुगु साहित्य के युग-प्रवर्तक स्वर्गीय श्री वीरेश लिंगम पंतुलुजी ने अपने 'आन्ध्र कवुल चरित्र' (आन्ध्र कवियों का इतिहास) में ग्रन्थ को अधिक सुगम व सरल बनाने की दृष्टि से कवि तथा काव्यों को तीन प्रधान भागों में बाँटा था जो क्रमशः (१) प्राचीन कवि (२) मध्य-युग के कवि तथा (३) आधुनिक कवि थे। श्री गुरजाड राममूर्तिजी ने अपने 'कवि जीवितमुलु' (कवियों की जीवनियाँ) नामक ग्रन्थ को कवियों की रचनाओं के आधार पर (१) महाभारत के कवि (२) रामायण के कवि और (३) प्रबन्धों के कवि नाम से काल-विभाजन किया है। परन्तु विषय की दृष्टि से महाभारत, रामायण और प्रबन्ध ही नहीं बल्कि नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवनियाँ, शतक, खण्ड-काव्य, रीति-ग्रन्थ आदि भी तेलुगु में समय-समय पर रचे गए हैं। तेलुगु का शतक साहित्य इतना समृद्ध है कि उसने अपना एक युग ही बना लिया है। ऐसी दशा में उपयुक्त ग्रन्थों का प्रतिनिधित्व करने वाला युग ही नहीं रहा।

इनके बाद श्री के० वेंकेट नारायणरावजी ने 'आन्ध्रवाङ्मय चरित्र संग्रहम' (आन्ध्र-साहित्य के इतिहास का संग्रह) नाम से एक तेलुगु साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया। उन्होंने इस ग्रन्थ को पाँच प्रधान खण्डों में विभक्त किया, जिनके उपखण्ड भी हैं। ये इस प्रकार हैं।

(१) प्राचीन कविता ई० पू० २८ से ई० सन् १००० तक

(२) पुराण कविता ई० स० १००१ से १३८०

(अ) चालुक्यपोडयुग (१००१—१२००)

(आ) काकतीययुग (१२०१—१३८०)

(३) काव्य तथा प्रबन्ध कविता ई० १३८१—१६५०

(अ) रेड्डी, नायक, कर्नाटक युग (१३८१—१५००)

(आ) श्री रायल युग (१५०१—१६५०)

(४) अर्वाचीन कविता ई० १६५१—१८६०

(अ) मध्य युग—शतक (१६५१—१८००)

(आ) सन्धियुग—(१८०१—१९००)

(५) नवयुग १९०१ से आज तक

इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-रचना व काव्य-लक्षणों के आधार पर काव्य-विभाजन किया है जो अधिक युक्तिसंगत मालूम होता है। परन्तु इसमें भी इस समय मतभेद हैं। तेलुगु साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक श्री कोरडा रामकृष्णय्याजी ने तेलुगु-साहित्य के इतिहास का निम्न प्रकार से विभाजन किया है।

(१) अज्ञात युग ई० पू०	२८ से १००० तक
(२) भाषान्तरीकरणयुग या कवित्रययुग	१००१—१३५०
(३) सन्धियुग या श्रीनाथयुग	१३५१—१५००
(४) प्रबन्धयुग या रायलयुग	१५०१—१७००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) दक्षिणदेश वाङ्मययुग १७०१—१९००
(६) आधुनिक युग १९०१—आज तक

उपर्युक्त सभी काव्य-विभागों में श्री कोरडा रामकृष्णय्याजी का युग-निर्णय काव्य, लक्षण, कवि तथा युग की परिस्थितियों के अनुकूल है। प्रत्येक युग का नाम अपने समय के साहित्य का परिचय दे रहा है।

परन्तु इस ग्रन्थ के लेखक ने काल-विभाजन में एक दूसरी पद्धति को ही अपनाया, किन्तु इस काल-निर्णय के सम्बन्ध में अपनी राय स्पष्ट नहीं की। इसके अलावा इसका युग-निर्णय अधिक भ्रमात्मक है। उदाहरण के लिए देखें—लेखक ने साहित्य के इतिहास का इस प्रकार वर्गीकरण किया है।

(१) अति प्राचीन साहित्य ई० स० ५००—१०००
(२) पुराण युग १००१—१३००
(३) काव्य काल १४००—१७००
(४) ह्रास काल १६५०—१९००
(५) आधुनिक काल १८५०—१९५० तक

इसमें पुराण युग ई० सन् १००१ से १३०० तक माना गया है। इसके बाद काव्य-काल १४०० से प्रारम्भ होता है। १३०१ से १४०० तक कौनसा काल था? समझ में नहीं आता। इसमें लेखक व प्रकाशक दोनों का ध्यान नहीं गया है। वैसी ही भूलें और देखिए—काव्य-काल १४०० से १७०० तक है और ह्रास-काल १६५० से १९०० तक माना गया है। ऐसी स्थिति में काव्य-काल को १४०० से १६५० तक ही मानते तो अच्छा होता। १७०० तक काव्य-काल ही था तो ह्रास-काल १७०१ से मानना चाहिए था। ऐसे ही ह्रास-काल १६५० से १९०० तक है तो आधुनिक काल १८५० से ही प्रारम्भ हो जाता है, जो पाठकों को संदेह में डाल देता है। इसे स्पष्ट करना चाहिए था।

पुस्तक की छपाई, सफाई व गेट अप सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण है। पुस्तक की शैली व विषय-प्रतिपादन का ढंग भी उत्तम है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक तेलुगु व हिन्दी के अच्छे विद्वान् हैं और बहुत ही परिश्रम के साथ पुस्तक की तैयारी की है। ग्रन्थ के आरम्भ में तेलुगु-प्रदेशः जनता व भाषा और अन्त में विविध प्रवृत्तियाँ तथा पत्र-पत्रिकाएँ व संस्थाएँ निबन्ध जोड़कर लेखक ने स्वर्ण में सुगन्ध का कार्य किया है। भाषा विषय के अनुकूल है। गम्भीर विषयों को समर्थ भाषा में संक्षिप्त में समझाने का लेखक ने अच्छा प्रयत्न किया है। आन्ध्रेतर भाषियों को तेलुगु भाषा व साहित्य के विकास का ज्ञान कराने के लिए यह पुस्तक पर्याप्त एवं सुन्दर है।

इतना होते हुए भी यत्र-तत्र छपाई की भूलें रह गई हैं। ये भूलें लेखक की ओर से तो हो ही नहीं सकतीं, तेलुगु का ज्ञान न होने के कारण छपाई में ही हो गई होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। उदाहरण के लिए :

येद्लनिनन् की जगह—येट्लनिमन्[1], जेस्वु—जेरुवु[2], कोनबुद्धारेड्डी—गोनबुद्धारेड्डी[3],

१. पृष्ठ २३, पंक्ति २।
२. ,, ,, ,, ३।
३. ,, २५ ,, ५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विन्नकोट पेछुन्न —विन्नकोट पेद्दना[४], अल्लसानि पेछुन्न के स्थान पर अल्लसानि पेद्दना[५], छपवाना चाहिए था। यह भूल तो सर्वत्र हुई है। मुय्यु पल्लु के स्थान पर मुद्दु पल्कु[६] होना चाहिए। ऐसी ही भूल गजोपाख्यान गयोपाख्यान[७] के स्थान पर छपी है, जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया है। बोंदेलपाटि के स्थान पर बोंद्देन्नपाटि[८], मोट्टूरि के स्थान पर मोट्टूरि[९] छपे हैं।

इनके अलावा एक विचित्र गलती यह छपी हुई है कि अंग्रेजी के महान् कवि व नाटककार की कृति कामेडी ऑव एर्रर्स (Comedy of Errors)[१०] की जगह पर 'कामेडी ऑव टू एर्डर्स' छपा है। यह भूल कैसे हुई, पता नहीं चलता है।

लेखक ने श्री गोपीचन्द की रचनाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'असमर्थुनि जीवित यात्रा' तथा 'देवुनि जीवितं'[११] इनके छोटे-छोटे उपन्यास हैं। परन्तु स्मरण रहे कि 'देवुनि जीवितं' गोपीचन्द का उपन्यास नहीं बल्कि उनकी कहानियों का संग्रह है। उनके दो उपन्यास और हैं—वे 'परिवर्तनम्' और 'ना क्रोत्त नवल' (मेरा नया उपन्यास) हैं।

प्रगतिशील कवि श्री आरुद्र के बारे में परिचय वाक्य लिखा है कि 'कविता और विचारधारा में ये अपने मामा से प्रेरित हैं।'[१२] परन्तु इस बात का कहीं ग्रन्थ में उल्लेख नहीं हुआ है कि इनके मामा कौन हैं। अधिकांश तेलुगुभाषी जनता को यह नहीं मालूम कि इनके मामा तेलुगु-प्रगतिशील साहित्य के प्रवर्तक श्री श्री रंगम श्री निवासराव (श्री श्री) हैं। ऐसी दशा में हिन्दी जगत् को कैसा मालूम होगा ? सम्भवतः परिचय देना भूल गए होंगे।

इन त्रुटियों को अगले संस्करण में सुधारा जाय तो पुस्तक सुन्दर व उपादेय बन सकती है। विषय जो कुछ भी दिया है, सुन्दर एवं प्रामाणिक है। कुछ कवि और काव्यों के सम्बन्ध में जो मतभेद हैं, उनका विवरण ग्रन्थ-विस्तार के भय से देना छोड़ दिया मालूम होता है। हाँ, प्रत्येक काल के विषय में आरम्भ में उस युग की सामाजिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों का कुछ विस्तारपूर्वक परिचय करते तो अच्छा होता।

अन्त में हम इसके सम्पादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' को बधाई देना चाहते हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य परिचय नामक ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी जगत् को समस्त भारतीय भाषाओं व साहित्यों के विकास की रूप-रेखा का परिचय कराने का संकल्प किया है। इस ऐतिहासिक प्रकाशन के लिए श्री सुमन जी धन्यवाद के पात्र हैं। उनके इस स्तुत्य प्रयत्न की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही होगी।[१३]

---

४. पृष्ठ २७ पंक्ति १८।
५. ,, ४४ ,, ६।
६. ,, ४८ ,, १२।
७. ,, ८६ ,, १०।
८. ,, १२० ,, ८।
९. ,, १२६ ,, २।
१०. ,, ५२ ,, २४।
११. ,, १०३ ,, २४।
१२. ,, २०२ ,, २४।
१३. तेलुगु और उसका साहित्य, लेखक—हनुमच्छास्त्री, 'अयाचित'। सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन'। प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, बम्बई, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

द्विवेदी-पत्रावली

किसी भी साहित्य के अध्ययन की सामग्री में पत्र-साहित्य का अपना विशेष स्थान है। बहुत-सी बातें जो सार्वजनिक रूप से नहीं कही जा सकतीं या जो सार्वजनिक रूप से ज्ञात नहीं होतीं वे पत्रों में सहज ही स्वीकार कर ली या कह दी जाती हैं—वह भी ऐसे क्षणों में जब पत्र-लेखक अपने स्वभाव और अकृत्रिम रूप में होता है। यदि पत्र-लेखक कोई उच्चकोटि का साहित्यिक या कलाकार हुआ तो उसकी सरल एवं सजीव शैली साहित्य की निधि बन जाती है। उसमें उसका वास्तविक व्यक्तित्व निखर उठता है जिससे साहित्य के विद्यार्थी को उसे समझने में अमूल्य सहायता प्राप्त होती है। इतना ही नहीं साहित्यिक पत्रों का सम्यक् रूप से अध्ययन करने से युग-विशेष की साहित्यिक परिस्थितियों, व्यक्तियों, रचनाओं, भावनाओं, रचना-विशेष के मूल स्रोतों और प्रेरणाओं के रहस्योद्घाटन आदि के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा-वृत्ति की परितुष्टि और ज्ञानपिपासा की शान्ति होती है; हमारी कल्पना में उस युग-विशेष का रूप साकार हो उठता है। पत्रों के साथ-साथ यदि आत्म-कथाओं और संस्मरणों का अध्ययन भी किया जाय तो निस्सन्देह हम युग-विशेष का मेरुदण्ड पहचान सकेंगे। किन्तु पत्र-साहित्य, आत्म-कथाओं और संस्मरणों का जितना अधिक महत्त्व है उतना ही उनका कलापूर्ण सर्जन कठिन है। संवेदनशीलता, विदग्धता, सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, युग-मन को पहचानने की क्षमता, उसकी परिस्थितियों और वातावरण की पृष्ठभूमि को ठीक-ठीक समझना और मूल्यांकन करना और स्वयं उस युग की भावनाओं में पैठना, इन बातों के साथ-साथ उन्हें संक्षेप में उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना प्रतिभापेक्ष्य है। सभी लोग ऐसा नहीं कर सकते। शैली, बायरन, गोर्की, शॉ, रवीन्द्रनाथ आदि महान् कवियों और कलाकारों के पत्र आज विश्व-साहित्य में समादृत हैं और वे विश्व-साहित्य के आवश्यक अंग बन गए हैं। यह सन्तोष का विषय है कि हिन्दी में भी साहित्य-प्रेमियों का ध्यान इस ओर जाने लगा है। पुस्तक संग्रह साहित्य के इसी अनिवार्य रूप के अभाव की पूर्ति है।

हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, 'प्रेमघन', द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त आदि के पत्रों का यदि संकलन कर दिया जाय तो आधुनिक हिन्दी-साहित्य की गति-विधि पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। पद्मसिंह शर्मा और सत्यनारायण कविरत्न के पत्रों में जो विचक्षणता है, वह हिन्दी साहित्य की अपनी चीज़ है। द्विवेदी जी के मानव-रूप एवं साहित्यिक व्यक्तित्व दोनों ही का हिन्दी-साहित्य ऋणी है। प्रस्तुत पत्र-संग्रह से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि द्विवेदी जी साहित्यिक कार्यों में कितना व्यस्त रहते थे, किस प्रकार उदीयमान कवियों और लेखकों को प्रोत्साहित तथा उनका मार्ग-प्रदर्शन करते थे, खड़ी बोली हिन्दी को किस प्रकार तराश-खराश कर उसका भव्य रूप निर्मित करना चाहते थे, अपने व्यक्तिगत जीवन में वे कितने सरल, निर्लोभ, मितव्यय, संवेदनशील, निर्भीक, प्रखर, स्पष्टवादी समन्वयवादी और अनुशासनपूर्ण थे और किस प्रकार उन्होंने अपने जीवन की भाँति हिन्दी साहित्य को भी नीचे से ऊपर उठाकर उच्च भूमि पर स्थित कर दिया। उनके छोटे-छोटे उपयुक्त शब्द और वाक्य युग-चित्र उपस्थित करने में पूर्णतः सक्षम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मैथिलीशरण जी को लिखे गए पत्रों के एक-एक शब्द और वाक्य में मैथिलीशरणजी की काव्य-काया की गठन का क्रम स्पष्ट झलकता है। श्रीधर पाठक, राधाकृष्णदास, पद्मसिंह शर्मा, रायकृष्णदास, लल्लीप्रसाद पाण्डेय, केशवप्रसाद मिश्र आदि को लिखे गए पत्रों से बीसवीं शताब्दी हिन्दी-साहित्य के प्रथम पैंतीस-छत्तीस वर्षों की बड़ी सुन्दर झाँकी मिलती है।

श्री 'विनोद' जी ने द्विवेदी जी के पत्रों का संकलन करके वस्तुतः हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों का उपकार किया है। आशा है वे शेष पत्रों का संग्रह भी शीघ्र ही प्रस्तुत करेंगे। पद्मसिंह शर्मा या बालमुकुन्द गुप्त के पत्रों का प्रकाशन भी भाषा और शैली की कलात्मकता की दृष्टि से वांछनीय होगा। 'विनोद' जी इस ओर भी प्रयत्नशील हों।[1]

महावीर अधिकारी

रजवाड़ा

'रजवाड़ा' श्री देवेशदास द्वारा मूल बंगला में लिखित इसी नाम की पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर है। इस ग्रन्थ में लेखक ने संस्मरणात्मक शैली में राजस्थान के अर्वाचीन इतिहास और प्राचीन गाथाओं का तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ को न उपन्यास कहना उचित है, न केवल-मात्र संस्मरण और न ही इतिहास। क्योंकि लेखक ने तीनों के वस्तु-तत्वों को लेकर एक सजीव साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। लेखक ने स्वयं इस ओर संकेत करते हुए लिखा है कि अधिक निकट से जिन लोगों ने राजस्थान को देखा है वे न केवल इतिहास लिख सकते हैं और न मात्र संस्मरण। 'रजवाड़ा' में वर्णित "कहानियों में सत्य, सौन्दर्य, इतिहास और उपकथा इस तरह मिली हुई हैं कि साधारण व्यक्ति के लिए राजहंस की तरह नीर-क्षीर विवेचन करना सम्भव नहीं।" सामान्य पाठक को बहुधा विवेचना करना उतना सुखकर भी प्रतीत नहीं होता। वह इतिहास से विवेचना ग्रहण करता है, उपकथाओं से रोमान और सौन्दर्य की गरिमा को ग्रहण करके ही कृतकृत्य हो उठता है। 'रजवाड़ा' में ये तीनों ही तत्व प्रचुर मात्रा में हैं।

पूरी पुस्तक सत्रह अध्यायों में विभाजित है। (१) अभिसार की झलक, (२) हवाई यात्रा, (३) जयपुर की नूरजहाँ, (४) कृष्णाकुमारी की कहानी, (५) राज अतिथि, (६) शिकारी और स्वप्नदर्शी, (७) विवाह और प्रथम प्रणय, (८) सवाई राजा जयसिंह की कहानी, (९) राजपूत का युद्ध-वर्णन, (१०) रसिक जीवन, (११) दरबारी नृत्य, (१२) नई पीढ़ी का विकास, (१३) कत्थक नृत्य की कहानी, (१४) रूपसी रानी पद्मिनी, (१५) रक्षा-बन्धन, (१६) प्रेम-योगिनी मीरा, (१७) महाराणा प्रताप और चारण।

प्रथम अध्याय जय और पद्मा के अभिसार से प्रारम्भ होता है। जय एक सामान्य युवक है और पद्मा किसी रजवाड़े की राजकन्या। पद्मा के लिए प्रेम करना मात्र एक विलास है और वह जय से कहती है कि एक साथ उन्होंने जितने दिन सुख और आनन्द से गुजारे वही अपने-आप में

१. संकल नकर्ता, श्री बैजनाथसिंह 'विनोद'। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य थे और वही विवेह; फिर वह कभी पद्मा को याद करके अपना समय नष्ट न करे। पद्मा का अभिसार पुराने राजस्थान के अभिसारों अथवा प्रेमाख्यानों से बिलकुल विपरीत कोटि का है। राजस्थान की धरती पर प्रेम ने उत्सर्ग जाना है। नये और पुराने के मध्य ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत करने के लिए यह कहानी एक प्रतीक बन गई है और इसके सहज निष्कर्षों को लेखक ने सभी कहानियों में योजनापूर्वक सँवारा है।

वस्तुतः इस ग्रन्थ की सभी कहानियाँ एक ऐसे मानस की उपज हैं, जिसमें अतीत का गौरव वर्तमान है और जो युग-सन्धि पर खड़ा होकर एक महान् परिवर्तन को घटित होते देख रहा है। लेखक ने सन् १९४७ और उसके बाद के इतिहास में होने वाली रक्तहीन देशी राज्यों की क्रान्ति से प्रेरणा ग्रहण करते हुए पाठक को प्राचीन आख्यानों तक पहुँचाया है। अस्तोन्मुखी ब्रिटिश साम्राज्य के पालित पुत्रों के विलासी जीवन और राजपूती शौर्य, बलिदान और पराक्रम का विशद वर्णन इस ग्रन्थ में सन्निहित है।

'सवाई राजा जयसिंह की कहानी', 'राजपूत का युद्ध वर्णन', 'रूपसी रानी पद्मिनी', 'रक्षा बन्धन', 'महाराणा प्रताप और चारण' के अन्तर्गत यही परम्परागत शौर्य और पराक्रम कूट-कूट-कर भरा है। 'रूपसी रानी पद्मिनी' का एक कथोपकथन इस प्रकार है :

"गढ़ के अन्दर बारह साल के वीर बालक बादल से उसकी चाची ने प्रश्न किया—'बताओ तो बेटा! मैं जब तुम्हारे चाचा से मिलने के लिए जा रही थी, उस समय उन्होंने कैसा युद्ध किया?'

"बादल ने कहा, "वे युद्ध-क्षेत्र में ऐसे लग रहे थे मानो धान काटते हुए चल रहे हों। मैं तो सिर्फ इतना ही कर रहा था कि वे तलवार से जिस फसल को काट रहे थे, मैं उसे लांघता हुआ उनके पीछे-पीछे चल रहा था। सम्मान के रक्त से सनी शय्या पर वे मरे हुए दुश्मन का गलीचा बिछाकर और एक यवन राजकुमार को अपना तकिया बनाकर सो गए हैं।

"हँसकर गोरा की पत्नी ने बादल से विदाई ली। बोली, 'बेटा! मैं चली, देर हो जाने पर वे न मालूम क्या सोचेंगे!' कहकर वह चिता के लिए रवाना हो गई और सती की चिता भभककर जल उठी।"

'रजवाड़ा' में ऐसे स्थल बार-बार आते हैं जिन्हें पढ़कर पाठक के रक्त में शौर्य हिलोरें लेने लगता है। भाषा और भावों में सामञ्जस्य का भरसक निर्वाह हुआ है, परन्तु कहीं-कहीं लेखक ने काव्य भी लिखने का प्रयास किया है जो प्रसंग के अनुकूल न होकर रसोद्रेक में भारी विघ्न पैदा करता है।

कुछेक बातें हैं जिन पर चर्चा करना अनुपयुक्त नहीं होगा। (१) राजस्थान की गाथाएँ लिखते समय बहुधा लेखक साम्प्रदायिकता के चक्र में फँस जाते हैं—रजवाड़ा का लेखक इस दोष से सर्वथा मुक्त है। (२) रजवाड़ा में लेखक ने अनेक स्थानों पर इतिहास की नवीन उपलब्ध सामग्री तथा अपने विश्लेषण द्वारा आख्यायिकाओं को नव रूप देने की चेष्टा की है। सुझाव यह है कि इस ग्रन्थ की शैली मुख्यतः भाव-प्रधान होने से वे रूखे सन्दर्भ रेगिस्तान की खुश्की पैदा करते हैं। (३) यदि लेखक इतिहास को मूर्तिमन्त करने पर ही अधिक जोर देता तो यह साहित्य आज के स्खलित-चरित्र युवक के लिए अमृत का काम करता। स्थान-स्थान पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलनात्मकनैतिक निर्देश होने से पूरे-के-पूरे इतिहास को लेखक ने अपने व्यक्तित्व की सीमाओं से बाँधने की चेष्टा की है। यह दृष्टि कथा-साहित्य में ही श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती थी। (५) भाषा भी हिन्दी के पाठकों के अनुरूप नहीं है। गति पर बल नहीं है, चित्रकारी पर आग्रह अधिक है।

लेकिन इसके बावजूद भी लेखक ने कथाओं का निर्वाचन करने में अपने भावुक और प्राणवान व्यक्तित्व का परिचय दिया है। इन कथाओं में डूबकर उसने जितना लिखा है वह पाठक को भी उस रस के सरोवर में निमन्त्रित कर देता है। हिन्दी में इस शैली पर कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

इस ग्रन्थ की हीलिंग पावर का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसे मैंने रुग्णावस्था में पढ़ा और बार-बार अपने डूबते हुए दिल को उन मृत्युंजय नायकों के सामीप्य से बचाया जिनका उस पुस्तक में वर्णन है और दूसरों को भी यह पुस्तक पढ़ने का परामर्श दिया। गुण-दोष विवेचन की दृष्टि भी इस व्यक्तिगत मंगल भाव से अगर प्रभावित हो गई है, तो इसे भी मैं इस पुस्तक की विजय मानता हूँ।[1]

१. रचयिता—श्री देवेशदास। प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
१	पुनरुद्धार	श्री कंचनलता सब्बरवाल	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
२	स्वप्नसिद्धि की खोज में	,, कन्हैयालाल माणिक-लाल मुन्शी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
३	साहित्य के रूप और तत्त्व	,, शिवनन्दन प्रसाद	पुस्तक भण्डार, पटना-४
४	श्रेयार्थी जमनालालजी (संक्षिप्त)	,, हरिभाऊ उपाध्याय	दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, त्यागराय नगर, मद्रास-१७
५	आर्य संस्कृति के मूल सिद्धान्त	,, सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार	विजयकृष्ण लखनपाल, 'विद्याविहार', देहरादून
६	स्वाधीनता और उसके बाद	,, जवाहरलाल नेहरू	पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना तथा प्रसार मन्त्रालय, दिल्ली
७	शल्य-वध	,, उग्रनारायण मिश्र	श्री दूधनाथ पुस्तकालय एण्ड प्रेस, कलकत्ता-७
८	औद्योगिक नीति और पंच-वर्षीय योजना		पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली
९	गांधी चरित मानस	,, विद्याधर महाजन	हिन्दी-भवन, जालन्धर और इलाहाबाद
१०	मनुष्य की कहानी	,, जयचन्द विद्यालंकार	हिन्दी-भवन, इलाहाबाद
११	हिन्दी शुद्ध लेख	,, आर० सी० मौदल	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१२	आविष्कारकों की कहानी	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१३	वीरता की कहानियाँ	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१४	साहस की कहानियाँ	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१५	शिक्षाप्रद कहानियाँ	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१६	मीठी कसक	,, उमाशंकर शुक्ल	जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
१७	भारतवर्ष की विभूतियाँ	श्री (सम्पादक) डी० आर० टोलीवाल	ग्रेट इंडिया पब्लिशर्स, नागपुर
१८	आखिरी चट्टान तक	,, मोहन राकेश	प्रगति प्रकाशन, दिल्ली
१९	पहली पंचवर्षीय योजना	,, योजना कमीशन	पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली
२०	बाबा बटेसरनाथ	,, नागार्जुन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२१	बाहर भीतर	डॉ० देवराज	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२२	सच्ची नागरिकता	श्री मनरो लीफ	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२३	एक क़दम आगे	,, मनरो लीफ	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२४	The Jewel of Hindi Literature	Prof. S. N. Sharma	27, Jagjivan Mansion, 2 Fanas Wadi, Bombay-2
२५	मूर्च्छना	,, रामगोपाल रुद्र	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२६	हिमशिखर	,, रामगोपाल रुद्र	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२७	शिञ्जिनी	,, रामगोपाल रुद्र	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२८	मंजीर	,, रामकिशोर 'नवल'	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२९	आरोह	,, आलोक	चाणक्य प्रकाशन, पटना
३०	सन्धि-सन्देश	,, कवि किंकर	श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, नया टोला, पटना-४
३१	सन्त-दर्शन	,, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित	साहित्य-निकेतन, कानपुर
३२	धूल के फूल	,, परमेश्वर 'द्विरेफ'	नवयुग प्रकाशन, नागपुर
३३	ये घर, ये लोग	,, जितेन्द्र	युग मन्दिर, उन्नाव
३४	बहता तिनका	,, कमल जोशी	नवयुग प्रकाशन, दिल्ली
३५	सिन्दूर बिन्दी	,, इकबाल बहादुर	किताब महल, इलाहाबाद-१
३६	हिन्दी-निबन्धकार	,, जयनाथ नलिन	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
३७	सेक्स का स्वभाव	,, मन्मथनाथ गुप्त	आशा प्रकाशन, दिल्ली
३८	सिद्धार्थ	,, हरमन हेस अनु० श्री महावीर अधिकारी	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
३९	शराबी	,, 'उग्र'	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४०	मानव की परख	,, देवीदयाल सेन	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४१	अमृत और विष	,, अरुण एम० ए०	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४२	भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी	,, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४३	अखंड विश्व	,, आदर्श	आदर्श प्रकाशन, मन्दिर प्रयाग
४४	शेली	,, यतेन्द्र कुमार	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
४५	बंगला और उसका साहित्य	श्री हंसकुमार तिवारी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४६	अवधी और उसका साहित्य	डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४७	मानव और मशीन	श्री लालकृष्ण अग्रवाल	एल० के०, अग्रवाल, बनारस
४८	कम्युनिस्ट पुराण	,, सीताराम गोयल	एशिया में स्वाधीनता संरक्षक संघ—कलकत्ता
४९	मैं कम्युनिस्ट क्यों नहीं हूँ	,, निरुपम भट्टाचार्य इत्यादि	प्राची प्रकाशन, १२, चौरंगी स्क्वायर, कलकत्ता
५०	व्रजभाषा	,, प्रो० धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
५१	राष्ट्रीय विकास में सार्वजनिक सहयोग		पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली
५२	प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास	डॉ० रांगेय राघव	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
५३	शेर ओ सुखन	श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
५४	छितवन की छाँह	विद्यानिवास मिश्र	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
५५	माटी की मुसकान	,, रूपनारायण त्रिपाठी	विकास प्रकाशन, जौनपुर
५६	साहित्यिक निबन्ध	,, राजनाथ शर्मा	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
५७	किसान	,, हरगोविन्द गुप्त	गृहपति प्रकाशन, चिरगाँव, झाँसी
५८	चौलुक्य कुमारपाल	,, लक्ष्मीशंकर व्यास	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
५९	मृत्यु की ओर	,, सन्तोष	सज्जन प्रकाशन, दिल्ली
६०	साँझ	,, नारायणसिंह भाटी	पचिल प्रकासण, जोधपुर
६१	संन्यासी और सुन्दरी	,, यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र'	रामपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता
६२	भारतीय लोक साहित्य	,, श्याम परमार	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
६३	मीराबाई का जीवन-चरित्र	,, ललिताप्रसाद सुकुल	बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता
६४	नदी प्यासी थी	डॉ० धर्मवीर भारती	किताब महल, इलाहाबाद—१
६५	पारिभाषिक शब्दावलियाँ		गवर्नमेन्ट आफ़ इण्डिया
६६	हिन्दी कथा-साहित्य	श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई
६७	विचार-वीथिका	,, दुर्गाशंकर मिश्र	नवयुग ग्रन्थागार, लखनऊ
६८	अनुभूति और अध्ययन	,, दुर्गाशंकर मिश्र	नवयुग ग्रन्थागार, लखनऊ
६९	भारतीय तत्त्व चिन्तन	डॉ० जगदीशचन्द्र जैन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
७०	सनसनाते सपने	श्री राधाकृष्ण	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
७१	बँगला की आधुनिक प्रेम कहानियाँ	श्रीमती मृदुला देवी	अखण्ड भारत प्रकाशन, कलकत्ता ३१
७२	भावना के फूल	श्री हनुमान नत्थानी	कमीनुद्दीन एण्ड सन्स बुकडिपो, रामपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
७३	जर्जर हथौड़े	श्री बरुआ	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ल
७४	सचित्र गृह विनोद	,, अरुण	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ल
७५	आदर्श भाषण कला	,, यज्ञदत्त शर्मा	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ल
७६	डूबते मस्तूल	,, नरेश मेहता	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ल
७७	भारतीय संस्कृति को तुलसी का योगदान	डॉ० बददेव प्रसाद मिश्र	नागपुर विश्वविद्यालय, नाग
७८	वैजयन्ती	,, 'चन्द्रमौलि'	सरस्वती सदन, बीकानेर
७९	प्रेमचन्द	सम्पादक,डॉ० इन्द्रनाथ मदान	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
८०	उर्दू साहित्य का इतिहास	श्री सैयद एहतिशाम हुसैन	अंजुमन तरक्की उर्दू (हिन्द अलीगढ़
८१	सुरीले बोल	,, अजमत उल्ला खाँ	अंजुमन तरक्की उर्दू (हिन्द अलीगढ़
८२	नवीना	,, गंगाप्रसाद पाण्डेय	रामनारायणलाल, इलाहाबा
८३	पत्थर की आँख	,, कमल जोशी	रश्मि प्रकाशन, कलकत्ता
८४	कविताएँ १९५४	,, अजित कुमार : देवी-शंकर अवस्थी	साहित्य निकेतन, कानपुर
८५	हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास	डॉ० दशरथ ओझा	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा-साहित्य में राजकमल प्रकाशन द्वारा
एक समृद्ध प्रकाशन-माला का सूत्रपात

राजकमल-मूल्यांकन-माला

हिन्दी निबन्ध : श्री प्रभाकर माचवे

"निबन्ध क्या है, और हिन्दी-निबन्ध और निबन्धकारों के विकास और सद्यस्थिति पर इस पुस्तक में विवेचन है।...मेरा प्रयास है कि कुछ तथ्य, जो मुझे अपने पढ़ने-लिखने के सिलसिले में हस्तगत हुए, मैं अन्य सहृदयों तक पहुँचाऊँ।"

लेखक—भूमिका में

पृथ्वीराज रासो में कथानक-रूढ़ियाँ : श्री ब्रजविलास श्रीवास्तव

"कथानक-रूढ़ियों या कथानक-गत अभिप्रायों के अध्ययन का हिन्दी में सम्भवतः यह प्रथम प्रयास है।...कथानक-रूढ़ियों का अध्ययन केवल साहित्यिक मनोविनोद नहीं है। अब यह सम्पूर्ण मनुष्य को समझने के प्रधान उपकरणों में गिना जाने लगा है।...इस निबन्ध को मैं बहुत महत्वपूर्ण समझता हूँ...इससे साहित्य के अध्ययन की एक नई दिशा को उन्नति मिलती है।"

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—भूमिका में

आगामी प्रकाशन

हिन्दी रीति साहित्य : डॉ० भगीरथ मिश्र

पृष्ठभूमि, हिन्दी रीति-शास्त्र, रीति का तात्पर्य, परम्परा, आधार, विविध सम्प्रदायः अलंकार-सम्प्रदाय के १८ आचार्य, रस-सम्प्रदाय के २२ आचार्य, ध्वनि-सम्प्रदाय के १५ आचार्य, विभिन्न रीति कवि, रीतिकाव्य की प्रवृत्तियाँ, रीतिकाव्य-संग्रह शीर्षक खण्ड।

मध्यकालीन हिन्दी-गद्य : श्री हरिमोहन श्रीवास्तव

"विषय कुछ ऐसा रहा है कि प्राकृत काल से लेकर ब्रजभाषा काल तक के प्राप्य प्रायः सभी गद्य-ग्रन्थों का विवरण, उनके उद्धरण और उदाहरण तथा उनमें विकसित होती हुई गद्य की प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए चलना पड़ा है।"

लेखक—भूमिका में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमसे प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचना, साहित्य, संस्कृति

प्रेमचन्द और गोर्की :
सम्पादिका शचीरानी गुर्टू ६)
हिन्दी के आलोचक : ८)
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि :
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ६)
कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक-विवेचन : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ४)
कबीर साहित्य की परख :
परशुराम चतुर्वेदी ५)
आचार्य केशवदास :
डॉ० हीरालाल दीक्षित ६)
साहित्यानुशीलन : शिवदानसिंह चौहान ६)
कथाकार जयशंकर प्रसाद :
हरस्वरूप माथुर २)
आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ :
नामवरसिंह १॥)
छायावाद की काव्य-साधना :
प्रो० 'क्षेम' एम० ए० ४॥)
हिन्दी दशरूपक :
डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ६।)
बौद्ध-दर्शन तथा भारतीय दर्शन (दो भागों में) : भरतसिंह उपाध्याय १६)
हिन्दू परिवार मीमांसा :
हरिदत्त विद्यालंकार १०)
भारतीय तत्त्व-चिन्तन :
डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ६)
राजस्थान की जातियाँ :
बजरंगलाल लोहिया १२)
कला क्या है : ताल्सताय ॥≡)॥
सांस्कृतिक प्रश्न :
जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द २॥)

काव्य

त्रिपथगा : भगवतीचरण वर्मा २)
गीत-गुंज :
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' १॥)
धूप के धान : गिरिजाकुमार माथुर ३)
संकलिता : राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह २॥)
सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य नाटक :
सिद्धनाथ कुमार ४॥)
धरती और स्वर्ग : डॉ० देवराज ३)
मुक्तिका : जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द २॥)

कोष

ज्ञान शब्द कोष :
सम्पादक मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव १२)

उपन्यास

एक था : शीला शर्मा २)
कली मुसकराई : सत्यप्रकाश संगर ३)
हेमा : राजेन्द्र शर्मा ३)
पच्चीसवाँ घण्टा :
अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन ६)
उमड़ती घटाएँ : गुरुदत्त वैद्य ६)
मनुष्य और देवता :
भगवती प्रसाद वाजपेयी ३॥)
पवित्र पापी : नानकसिंह ॥≡)॥
लहरें : रामदेव ६)
पथ से दूर : कमल शुक्ल २)
सेठ बांकेमल : अमृतलाल नागर १॥)
प्रदीप : हितवल्लभ गौतम ५)
समाधान : रामावतार त्यागी २)
रजिया की बेटी : अनु० नरोत्तम नागर ७)
तावीज : अनु० मगनलाल जैन १॥)
मनुष्यानन्द : पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ४)
राजनेता : अनु० चन्द्रदत्त पाण्डेय ६)

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-बम्बई

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादन डॉ. धर्मवीर भारती
डॉ. रघुवंश
समिति डॉ. व्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण साही

१५ आलोचना

जनवादी साहित्य (२) : सम्पादकीय
अनुकृति, अन्विति और काव्यगत आनन्द : रमाशंकर तिवारी
सन्त साहित्य और जैन हिन्दी कवि : परशुराम चतुर्वेदी
जापानी साहित्य : १९२५-१९५५ : के० दोई
साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व : हर्षनारायण, प्रभाकर माचवे, रामधारी द्विवेदी, शिवकुमार राय, उदयशंकर भट्ट, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा

राजकमल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रै मा सि क आ लो च ना

वर्ष ४ अंक ३ पूर्णांक १५ अप्रैल, १९५५

वार्षिक मूल्य १२) एक अंक का ३)

सूची

▲सम्पादकीय

—जनवादी साहित्य (२) --- १

▲निबन्ध

—अनुकृति, अन्विति और काव्यगत आनन्द :
रमाशंकर तिवारी --- ९

—सन्त साहित्य और जैन हिन्दी कवि :
परशुराम चतुर्वेदी --- २६

—जापानी साहित्य : १९२५-१९५५ :
के० दोई --- ३७

▲प्रस्तुत प्रश्न

—साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व :
(विचारार्थ प्रस्तुत आलेख) --- ४५

—वैयक्तिक स्वातन्त्र्य : सांस्कृतिक जीवन की पहली शर्त :
हर्षनारायण --- ४८

—भारतीय साहित्यकार की स्वातन्त्र्य धारणा का मूल उत्स
प्रभाकर माचवे --- ५२

—साहित्य-सृजन की प्रक्रिया और लेखक का व्यक्तित्व :
डॉ० रामअवध द्विवेदी --- ५६

—वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व की अन्योन्याश्रित स्थिति :
बालकृष्ण राव --- ५७

—कलाभिव्यक्ति का ध्येय : जीवन की पूर्ण स्वतन्त्रता :
उदयशंकर भट्ट --- ६०

—स्वातन्त्र्य बनाम शहादत :
जैनेन्द्रकुमार --- ६३

—बौद्धिक स्वातन्त्र्य, बौद्धिक अराजकता नहीं !
भगवतीचरण वर्मा --- ६५

—सम्मतियाँ ६६

▲मूल्यांकन

—हिन्दी-साहित्य के नये यात्री :
रघुवंश --- ७१

—तीन लघु उपन्यास :
व्रजेश्वर वर्मा --- ७७

—कविताएँ : १९५४ :
प्रभाकर माचवे --- ८३

—हिन्दी कथा-साहित्य :
अनन्तकुमार पाषाण --- ९१

—प्रेमचन्द : समीक्षकों की दृष्टि में :
डॉ० प्रेमशंकर --- ९५

—बाजत आवे ढोल :
डॉ० रांगेय राघव --- १००

—अमरबेल :
व्रजविलास --- १०२

—मैला आँचल (१) :
नलिन विलोचन शर्मा --- १०५

—मैला आँचल (२)
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' --- १०८

—दिनकर की नई काव्य कृतियाँ :
डॉक्टर रामखिलावन पाण्डेय --- ११०

—नवीना :
सिद्धनाथ कुमार --- ११३

—कबीर साहित्य की परख :
बद्रीनारायण श्रीवास्तव --- ११६

—सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-नाटक :
डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल --- १२०

—कविता में प्रकृति-चित्रण :
उदयशंकर भट्ट --- १२१

—काव्यधारा :
विजयदेवनारायण साही --- १२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

आलोचना

सम्पादकीय

जनवादी साहित्य—२

पिछले अंक के सम्पादकीय में विवेचन के उपरान्त हमने देखा कि जनवाद और जनहित की धारणा केवल अप्रत्यक्ष आशंसा के रूप में ही साहित्यकार के मानस में वर्तमान रह सकती है। उसका कोई ठोस और निश्चित आधार नहीं बनाया जा सकता। या कोई ऐसी कसौटी नहीं प्रस्तुत की जा सकती जिस पर निस्संशय होकर हर कृति को कसा जा सके। इस जनहित का स्रोत साहित्यकार के मन के भीतर ही है, वस्तुपरक ऐतिहासिक स्थिति उसका संकेत-मात्र दे सकती है। यहाँ तक कि कभी-कभी हमें अपनी व्यापक धारणा में जन-हित अथवा जन-अहित लगने वाली वस्तुओं का समावेश करना भी आवश्यक होगा। साहित्य एवं कला की गति ही ऐसी है। इस दृष्टि और यूरोपीय उपयोगितावाद में, जो जनवाद का प्रथम तर्क है, जमीन-आसमान का अन्तर है।

गांधीवादी विनोबा भावे ने भी यह बात स्वीकार की है। गांधी और विनोबा के उपयोगितावादी होने में कोई सन्देह नहीं कर सकता। उन्होंने शिक्षा और संस्कृति सभी के लिए पहला प्रश्न यही पूछा है : इसकी उपयोगिता क्या है ? कम लोग होंगे जो विनोबा की विचारधारा और उसके भूदान आन्दोलन को जन-हित के विरुद्ध अथवा जनहित-निरपेक्ष समझते होंगे। गत मार्च में पुरी के सर्वोदय सम्मेलन में विनोबा ने कहा :

"....जिस बोध से अनेकविध तात्पर्य निकलते हैं, वही साहित्य बोध है।....गीता उत्तम साहित्य है, रामायण उत्तम साहित्य है, क्योंकि उनके तात्पर्य के विषय में मतभेद हैं। जिस साहित्य के तात्पर्य के विषय में मतभेद न हो और तात्पर्य निश्चित कहा जा सके, तो उसमें साहित्य-शक्ति कम प्रकट होती है...। ईश्वर के बारे में भक्तजन कहते हैं कि वह प्रेम अहेतुक होता है, उसमें हेतु नहीं होता। प्रेम करना ईश्वर का स्वभाव है। वैसे ही साहित्य में भी कोई हेतु नहीं होता। साहित्य एक स्वयंभू वस्तु है। लेकिन हेतु रखने से जो नहीं सध सकता, वह साहित्य में बिना हेतु रखकर सधता है, यह साहित्य की खूबी है।"

हमने संकेत किया था कि मध्यकालीन भारतीय सन्तों ने स्वान्तःसुखाय और जनहिताय में

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई भेद स्वीकार नहीं किया। विनोबा का दृष्टिकोण भी वही है। उन्नीसवीं शताब्दी तक यूरोप में भी ऐसा आत्यन्तिक विभाजन नहीं हुआ था। वस्तुतः यूरोपीय साहित्य के समकालीन ह्रास का कारण इस समन्वित, सुनियोजित दृष्टि का विभाजन है।

प्रेमचन्द ने कहा था कि प्रगतिशील साहित्य, यह शब्द ही गलत है। क्योंकि श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि श्रेष्ठता पर हमारा आग्रह बना रहे। साहित्य की साहित्यिक शक्ति प्रमुख पूँजी है। उसे क्षीण न होने देना चाहिए। प्रेमचन्द की उक्ति जनवादी शब्द पर भी लागू होती है, क्योंकि जनवादी और प्रगतिशील समानार्थी शब्द हैं। कम-से-कम साहित्यिक आन्दोलन की विशेष शब्दावली में, उनका प्रयोग एक ही अर्थ में होता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक निराला पथ अपनाकर प्रगतिशील और प्रगतिवादी दो प्रकार के साहित्यों की कल्पना की है। प्रेमचन्द की भाँति वे प्रगतिशील शब्द को गलत नहीं समझते। उनके अनुसार :

"हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है—सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है —व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य! परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है तब-तब साहित्य नये काव्य-रूपों की उद्भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। इसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है। इसी की एक निश्चित तत्त्ववाद पर आश्रित शाखा 'प्रगतिवादी' साहित्य है। 'प्रगतिशील' शब्द व्यापक है, किन्तु 'प्रगतिवाद' एक निश्चित तत्त्ववाद को सूचित करता है।"[1]

इस प्रकार द्विवेदीजी प्रेमचन्द से सहमत नहीं हैं कि प्रगतिशील शब्द गलत है और किसी ऐसी विशेषता को सूचित नहीं करता जो श्रेष्ठ साहित्य के अन्तर्गत उपस्थित न हो। आवश्यक है कि द्विवेदी जी की स्थापना की छानबीन की जाय।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक धाराओं के पुनर्विभाजन तथा पुनर्नामकरण की क्षमता विख्यात है। किन्तु आश्चर्य है कि 'प्रगतिशील' और 'प्रगतिवादी' इन दोनों विभाजनों का न तो उन्होंने स्पष्टीकरण ही किया है और न इसके लिए प्रमाण ही दिये हैं। इतना ही नहीं द्विवेदीजी आगे चलकर 'प्रगतिवादी' साहित्यकारों के भी दो वर्ग बनाते हैं। एक जो कम्युनिस्ट पार्टी सम्बद्ध हैं और उनके अंगुलि निर्देश पर लिखते हैं और दूसरे 'जो पार्टी से सम्बन्धित नहीं हैं पर इन विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं।' इनमें भी कुछ सम्प्रदायवादी हैं, जिनके सम्प्रदायवाद से द्विवेदीजी को शिकायत है। शेष, द्विवेदीजी की आशा एवं प्रशंसा के पात्र हैं।

यह प्रगतिशील साहित्य 'एक नवीन आदर्श से चालित है।' 'नवीन' का एक ही अर्थ हो सकता है : यह आदर्श सन्तों में नहीं था, भारतेन्दु युग में नहीं था, द्विवेदी युग में नहीं था, छायावाद में नहीं था। यूरोप में भी

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ४६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शायद यह शेक्सपीयर, बालजाक गेटे में नहीं था। पोप और ड्राइडन में तो शायद नहीं ही था। न केवल नवीन ही, बल्कि इसने एक 'अधिक व्यापक और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह' दिया है। किसकी तुलना में? एक अर्थ तो यह हो सकता है कि आजतक के समस्त साहित्य की तुलना में। दूसरा शायद यह है कि खड़ी बोली के आधुनिक साहित्य की तुलना में। और तीसरा शायद छायावादी और तदुपरान्त नये साहित्य के तुलना में। हम तीसरा अर्थ, जो सबसे सीमित है उसे ही मानें तब भी विचारणीय है कि ऐसा कौनसा आदर्श 'प्रगतिशील' साहित्यकारों ने प्रस्तुत कर दिया है जो समकालीन वे साहित्यकार नहीं प्रस्तुत कर सके हैं जो प्रगतिशील नहीं कहे जाते, या कहलाया जाना पसन्द नहीं करते।

'अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की क्षमता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी'—शायद यही वाक्य उस अभूतपूर्व व्यापक आदर्श को सूचित करता है। किन्तु इस में नवीन क्या है? क्या ऐसा कोई श्रेष्ठ साहित्य है जो मनुष्य की क्षमता और मुक्ति में विश्वास न रखता हो? यूरोप की उन्नीसवीं शताब्दी में तो यह धारणा सर्वव्यापी थी; और संसार के समस्त मानववादी चिन्तकों, स्वप्नद्रष्टाओं तथा कलाकारों की मूल प्रेरणा रही है। हिन्दी के आधुनिक सन्दर्भ में भी इस दृष्टि का एकाधिकार एक विशेष धारा को ही प्राप्त हो, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दीखता। परोक्षतः इसका यह अर्थ है कि 'प्रगतिशीलों' के अतिरिक्त जो लोग लिख रहे हैं वे इसके विपरीत हैं, जो सत्य नहीं होगा। यदि द्विवेदीजी का तात्पर्य समसामयिक समस्त हिन्दी धारा से है, जिसमें सभी साहित्यकार आते हैं, तो इस का अर्थ यह हुआ कि वे इस पूरे युग को प्रगतिशील कहना चाहते हैं। यह बड़ा दावा है, और अन्ततः हम प्रेमचन्द के ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यदि 'प्रगतिशील' में इलाचन्द जोशी, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र, अज्ञेय और वे सभी सम्मिलित हैं, जो आज लिख रहे हैं तो फिर इस प्रगतिशील शब्द को रखने से क्या लाभ? अच्छा यही हो कि युग के नामकरण का उत्तरदायित्व आने वाली पीढ़ियों पर ही छोड़ दिया जाय। अब तक तो यही होता आया है; यों द्विवेदीजी आचार्य हैं। प्रगतिशील शब्द चाहे जितना भी व्यापक हो, एक विशेष अर्थ में संकुचित हो चुका है। यही बात 'जनवादी' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

'प्रगतिशील' लेखकों को 'प्रगतिवादियों' से द्विवेदीजी ने अलग किया है। पर इनमें कौन-कौन हैं, जो 'महान् आदर्श से चालित और निश्चित तत्त्ववाद से अलग' हैं, इसे उन्होंने नहीं गिनाया। नाम गिनाना उन्हें अभीष्ट न हो ऐसा भी नहीं, क्योंकि प्रगतिवाद के दस नाम उन्होंने दिये हैं। यह महत्त्वपूर्ण बात (या बात का अभाव) है। हम देखेंगे कि 'प्रगतिवादी' और 'प्रगतिशील' दो भिन्न प्रकार नहीं हैं। द्विवेदीजी ने खाह-म-खाह बाल की खाल निकाली है। सम्प्रति हम विवश होकर यही मानते हैं कि 'प्रगतिशील साहित्य' एक ऐसे 'महान् आदर्श से परिचालित' साहित्य है जिसके एक भी लेखक का नाम हमें ज्ञात नहीं है।

किन्तु द्विवेदीजी ने मुक्ति के पहले 'सामूहिक' विशेषण लगाया। यह 'नवीन' जान पड़ता है। इस 'सामूहिक' के लिए वे एक सूत्र देते हैं 'व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य' यह जानना कठिन है कि यह प्राधान्य किस प्रकार सिद्ध होता है और इसके क्या लक्षण हैं। कम्युनिस्ट विचारधारा में तो इस सूत्र की एक विशेष रूप से व्याख्या की गई है और मार्क्स के नाम पर इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग पार्टी की तानाशाही के लिए किया जाता है। बेचारे मार्क्स का इसमें कहाँ तक अपराध है, इस पर हम आगे विचार करेंगे। किन्तु उस व्याख्या को तो द्विवेदी जी तत्त्ववाद पर आश्रित सम्प्रदाय-मात्र मानते हैं। अतः यह उनके 'प्रगतिशील' की सम्यक् परिभाषा नहीं है। इसके उपरान्त तो यह सूत्र फ़ासिज़्म, गांधीवाद, कम्युनिज्म, रूसो, हीगेल, नीशे या स्पेंग्लर सब पर समान रूप से लागू किया जा सकता है। यहाँ तक कि सूत्र का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। शायद अमेरिका का 'सामूहिक सुरक्षा' का तर्क भी इससे सिद्ध किया जा सकता है।

विवश होकर हम दूसरे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्विवेदीजी का 'प्रगतिशील' साहित्य एक ऐसे महान् आदर्श से चालित है जिसके सिद्धान्तों का हमें पता नहीं है; शायद मूल्यों का भी पता नहीं है, क्योंकि उस ओर भी द्विवेदीजी ने कोई संकेत नहीं किया है।

इसके बाद 'प्रगतिवादी' बचते हैं। ये शायद वही हैं जिन पर हमने पिछले अंक के सम्पादकीय में विचार किया है। इनमें कहीं-कहीं सम्प्रदायवाद की गन्ध द्विवेदीजी को महसूस होती है। किन्तु सम्प्रदायवाद की परिभाषा विचित्र है। द्विवेदीजी ने कुछ सूत्र गिनाये हैं। इन सूत्रों से, लगता है, उनका कोई मतभेद नहीं है। शिकायत यह है कि इन सूत्रों का प्रयोग खरे-खोटे की पहचान के लिए किया जाता है। इसीसे सम्प्रदायवाद का जन्म होता है। 'फ़ारमूला का प्रयोग किया जाय तो प्रसादजी प्रतिगामी होंगे, महादेवी अप्रगतिशील बन जायँगी और राहुल सांकृत्यायन को भी जाति-बहिष्कृत होना पड़ेगा।' इसलिए सिद्ध हुआ कि फ़ारमूला ग़लत नहीं है; फ़ारमूले का प्रयोग गलत है!

किन्तु द्विवेदीजी का सबसे निरर्थक और अयथार्थ विभाजन उन प्रगतिवादियों के बीच है जो कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बद्ध हैं तथा वे जो नहीं हैं, किन्तु उसके 'विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं।' सम्बद्ध से आशय यदि सदस्यता से है तो ध्यान में रखना होगा कि कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता लेखक की नहीं वरन् पार्टी की इच्छा पर निर्भर करती है। फिर इस भेद से साहित्य में क्या अन्तर पड़ता है यदि सभी लेखक पार्टी के 'विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते रहें? क्या सदस्यों से इससे अधिक की आशा की जाती है? जहाँ तक अंगुलि-निर्देश का प्रश्न है वह कम्युनिस्ट विचारधारा का केन्द्रीय सिद्धान्त है। द्विवेदीजी ने आशा व्यक्त की है कि कम्युनिस्ट पार्टी अपने अंकुश और अंगुलि-निर्देश को उठा लेगी। जिस दिन पार्टी ऐसा करेगी वह कम्युनिस्ट न रह जायगी, स्तालिन, ज्यानोव और माओत्से तुंग से विरत हो जायगी। अ-सदस्य प्रगतिवादियों से शायद द्विवेदीजी का तात्पर्य उन लेखकों से है जो कम्युनिस्ट शब्दावली में फेलो-ट्रेवलर्स, सहगामी, कहलाते हैं। ज्ञातव्य है कि इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता, साहित्यिक उद्देश्य अथवा व्यवहार के क्षेत्र में, संसार की कोई कम्युनिस्ट पार्टी नहीं स्वीकार करती। उनकी तुलनात्मक स्वतन्त्रता कम्युनिस्ट पार्टी की दुर्बलता पर निर्भर करती है। इस सिद्धान्त को पार्टी स्वयम् स्वीकार करती है। उनकी अन्तिम परिणति या तो पार्टी के प्रति सम्पूर्ण समर्पण, अथवा लेखक वर्ग से बहिष्करण में है। इस मूल सिद्धान्त पर माओत्से तुंग, रेवाई, ज्यानोव या स्तालिन में कोई मत-भेद नहीं है।

अंगुलि-निर्देश अथवा पार्टी के प्रति सम्पूर्ण समर्पण का आग्रह कम्युनिस्ट पार्टी की किसी वामपन्थी या दक्षिण पक्षी गलत धारा का परिणाम नहीं है। वह उसी मूल सूत्र से उपजता है जिसे द्विवेदीजी इस जनवादी आन्दोलन का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महान् आदर्श बतलाते हैं : 'व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य'। क्योंकि बेचारा लेखक व्यक्ति-मानव है और कम्युनिस्ट पार्टी समष्टि-मानव !

द्विवेदीजी की इन आश्चर्यजनक स्थापनाओं का परिणाम क्या निकलता है ? एक कल्पित वर्ग है, जो अच्छा है, महान् आदर्शों से चालित है। यह 'प्रगतिशील' है। शेष प्रगतिवादियों में जो फेलो-ट्रेवलर है वह भी ठीक है। अब जो सीधे पार्टी का सदस्य है, उसमें भी जो सम्प्रदायवाद से ऊपर उठ सकता है (और ऐसे व्यक्तियों की ओर द्विवेदीजी ने जोर देकर संकेत किया है) वह भी ठीक है। बुरा केवल वह है जो घोर सम्प्रदायवादी है और फ़ारमूलों का प्रयोग करता है। इसमें अपने को समझकर कोई भलामानस बुरा न मान जाय अतः द्विवेदीजी ने दस-बारह नाम गिना दिये हैं जो प्रौढ़ हैं, चिन्तनशील हैं। केवल 'प्रगतिशील' नामक वृत्त में दो-चार आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचने और विभाजन करने का अभूतपूर्व लाभ यह हुआ कि कई शिफ्टों में सभी 'जनवादी' आलोचना की वैतरणी पार कर गए। किसी को बुरा मानने की गुंजायश न रही। यदि द्विवेदीजी एक प्रगतिशील वर्ग ऐसों का भी बना देते जो प्रगतिशील कहा जाना पसन्द नहीं करते तो एक और खेवे में सभी पार निकल जाते और आचार्यप्रवर निस्संशय होकर सबके समान समर्थन (श्रद्धा और समादर नहीं, क्योंकि वह तो उन्हें समान रूप से प्राप्त है ही) के भोक्ता बन जाते।

अब हम जनवादी साहित्य के अन्तर्गत 'व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव के प्राधान्य' पर आते हैं, जिसके लिए बेचारे मार्क्स का नाम हिन्दी के आलोचकों में इतना सुनाई पड़ता है कि हमें पूर्ण विश्वास हो गया है कि हिन्दी के समकालीन लेखकों में मार्क्स को पढ़ने का कष्ट क्या कम्युनिस्ट क्या ग़ैर-कम्युनिस्ट कोई भी नहीं करता।

मार्क्स के सामाजिक दर्शन में मानव-व्यक्तित्व को जीवन की उपलब्धि और सौन्दर्य का प्रमुख आधार मानता है। पूँजीवाद के अन्तर्गत इस व्यक्तित्व के ह्रास की ओर उसने बारम्बार संकेत किया है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को उसने कभी भी 'व्यक्ति-मानव के ऊपर समष्टि-मानव के प्राधान्य' के रूप में नहीं देखा। यहाँ विस्तृत उद्धरण देना तो स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है, किन्तु मैं कुछ अंश प्रस्तुत करता हूँ।

"मशीन के व्यापक प्रयोग और श्रम-विभाजन के कारण मज़दूरों के कार्य ने अपना व्यक्तिगत चरित्र बिलकुल खो दिया है···और इसके फलस्वरूप मज़दूरों के लिए काम की सरसता भी लुप्त हो गई है।'[1]

इसके आगे :

"अतः बुर्जुवा समाज में पूँजी स्वतन्त्र है और अपना व्यक्तित्व रखती है। किन्तु जीवित व्यक्ति परतन्त्र है और व्यक्तित्व-हीन है इस परिस्थिति के विनाश को बुर्जुवा वर्ग व्यक्तित्व तथा स्वतन्त्रता का विनाश कहता है। ठीक भी है। बुर्जुवा व्यक्तित्व, बुर्जुवा स्वतन्त्रता और बुर्जुवा स्वाधीनता का विनाश निस्सन्देह उद्दिष्ट है।···अतः आपको मानना पड़ेगा कि व्यक्ति से आपका आशय मध्यम वर्गीय सम्पत्ति-स्वामी के अतिरिक्त और किसी से नहीं है। निस्सन्देह इस व्यक्ति को रास्ते से हटाना और उसे असम्भव बनाना पड़ेगा। कम्यूनिज्म किसी व्यक्ति की समाज द्वारा उत्पादित वस्तुओं के स्वामित्व की शक्ति का अपहरण नहीं करता, वह केवल उस शक्ति का अपहरण करता है

१. कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके द्वारा ऐसा स्वामित्व दूसरों को पराधीन बनाता है।"

एक और :

"हम केवल थोड़े से उदाहरण उन आपत्तियों के देंगे जो इस निबन्ध में कम्यूनिज्म के विरुद्ध उठाई गई हैं :

कम्यूनिस्ट विभिन्न अणुओं को एक समन्वित पूर्णता (organic whole) में नियोजित नहीं करता।

बेशक; इन अणुओं (atoms) को एक समन्वित पूर्णता (organic whole) में वियोजित करना उतना ही कम वांछनीय है जितना एक वृत्त को चौकोर वर्ग बनाने का प्रयास करना!"[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मार्क्स ने व्यक्ति-मानव और समष्टि-मानव इन दो प्रकार के मानवों की कल्पना नहीं की है। वस्तुतः वह सदैव 'व्यक्ति' अथवा 'व्यक्तित्व' (Individual, Individualidy) को अविभाज्य इकाई के रूप में प्रयुक्त करता है। एक बुर्जुवा व्यक्तित्व है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति और उस सम्पत्ति को दूसरों के शोषण का आधार बनाने की क्षमता से उत्पन्न होता है। इसका विनाश वांछनीय है। इसके लिए इस क्षमता का अपहरण करना होगा और कुछ नहीं। दूसरा साधारण मानवीय व्यक्तित्व है जो हर मानवीय इकाई का नैसर्गिक एवं आत्मिक गुण है। न केवल इसका विनाश अवांछनीय है, बल्कि समाजवाद का प्रमुख उद्देश्य इस व्यक्तित्व को पुनः स्थापित करना है। उसकी उपलब्धि से आनन्द, सुख और जीवन को सरसता प्राप्त होती है। इस व्यक्तित्व का निर्माण कार्य में 'व्यक्तिगत चरित्र' की छाप पड़ने से होता है। जितनी निकटता व्यक्ति और उत्पादित वस्तु में होगी उतनी ही उपलब्धि प्रखर होगी। जितनी दूरी होगी उतना ही व्यक्तित्व खण्डित होगा और कार्य-प्रणाली नीरस होती जायगी। इस व्यक्तित्व का आधार सम्पत्ति नहीं बल्कि मानव-मन की नैसर्गिक वृत्तियाँ हैं। अन्त में, अणुओं का गन्तव्य समग्र पूर्णत्व में एकाकार हो जाना नहीं है, बल्कि अपनी अणुता, अपने व्यक्तित्व को अधिक-से-अधिक निखारने का अवसर प्राप्त करना है—व्यक्तिगत सम्पत्ति जिसके मार्ग में अवरोध बनकर आ खड़ी हुई है।

समस्या यह नहीं है कि व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव को प्रतिष्ठित किया जाय बल्कि किस प्रकार उसे पुनः स्थापित किया जाय। अतः स्पष्ट है कि जो भी समष्टिगत प्रयास उस स्वाभाविक मानव-व्यक्तित्व के विकास को रोकता है, उस सीमा तक वह ह्रासशील और प्रतिक्रियावादी है। और ऐसा कोई भी प्रयास जो व्यक्ति-मानव या मानव-व्यक्तित्व के विकास में सहायता पहुँचाता है, अर्थात् उत्पादक और उत्पादित वस्तु की निकटता और 'व्यक्तिगत चरित्र' को अक्षुण्ण रखता है मार्क्सीय समाजवाद के विरुद्ध नहीं हो सकता।

व्यक्तित्व की इस परिकल्पना में कलाकार का स्थान कहाँ है? एंगेल्स ने पूँजीवादी समाजवाद में व्यक्तित्व के खण्डित होने का उदाहरण आलपीन के उत्पादन से दिया था। एक आलपीन के बनाने में हजारों मजदूरों के हाथ लगते हैं, तो स्पष्ट है कि कोई मजदूर उस पर अपनी, केवल अपनी, छाप नहीं देख

१. जर्मन आइडियालोजी : द्र सोशलिज्म। यहाँ मार्क्स एंगेलस उन जर्मन समाजवादियों का खण्डन कर रहे हैं जिन्होंने फ्रेन्च कम्यूनिज्म पर आपत्तियाँ की थीं। अणु का अर्थ 'व्यक्ति-मानव' है और समन्वित पूर्णता का अर्थ 'समष्टि मानव' है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता। अतः मशीन तथा श्रम-विभाजन उत्पादित वस्तु और उत्पादक के बीच एक दूरी स्थापित करता है। इसके पुनस्संयोजन का उपाय यही है कि समाजीकरण द्वारा आलपीन पुनः अपने उत्पादकों के पास लौट आये, न कि किसी एक की सम्पत्ति हो जाय।

किन्तु कलाकृति के उत्पादन में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बड़ी-से-बड़ी मशीनरी के आविष्कार के उपरान्त भी उसका सामूहिक उत्पादन नहीं हो सकता। यह एकमात्र प्रक्रिया है जिसमें श्रम-विभाजन सम्भव नहीं। हम भविष्य में किसी ऐसे युग की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें कोई उपन्यास दस हजार उपन्यास-कारों द्वारा इस प्रकार लिखा जाय कि कोई भी न कह सके कि उस पर किसकी छाप है। साथ ही, कलाकृति में 'व्यक्तिगत चरित्र' की अभि-व्यक्ति अन्य उत्पादन-सामग्रियों में सबसे अधिक होती है। अन्य वस्तुओं का उत्पादन सामू-हिक श्रम द्वारा होता है और उनका उपभोग व्यक्तिगत। इसके ठीक विपरीत कलाकृति का उत्पादन एक व्यक्ति करता है और समूह उसका उपभोग करता है। अतः कलाकार की वैयक्तिक सत्ता, अपनी कृति के सम्बन्ध में अक्षुण्ण है, अप्रतिहत है। उसकी अभिव्यक्ति और उसका विकास किसी प्रकार प्रगति का बाधक नहीं बन सकता।

तब क्या कलाकार का व्यक्तित्व खण्डित नहीं होता? होता है, दो प्रकार से। एक तो समाज के अंग के रूप में शोषण-उत्पीड़न आदि की अनिवार्य विकृतियाँ उसे मजबूर करती हैं। वस्तुतः उसका कलात्मक प्रयास इस कलाहीन विच्छिन्नता से ऊपर उठने का चमत्कारपूर्ण प्रयास है; लेनिन के शब्दों में नरक के बीच स्वर्ग का निर्माण करने का प्रयास है। जितनी बड़ी प्रतिभा उसके पास होती है उतना ही वह उसके ऊपर उठकर हमें पूर्णता की दृष्टि प्रदान करता है। यह पूर्णता की उपलब्धि किस स्तर पर होगी यह प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य कारणों पर भी निर्भर करता है जिनका विवेचन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

दूसरे, कलाकार का व्यक्तित्व तब खण्डित होता है जब उसके अन्तस् से अननुभूत कोई बाह्याचार, शैली, विचारधारा, जीवनदृष्टि अथवा प्रचारात्मक पक्षधरता उसके ऊपर लाद दी जाती है; जब वह उन्मुक्त होकर यह नहीं कह सकता कि इस कृति का सृजन मैंने, केवल मैंने, किया है, इस पर आदि से अन्त तक मेरी, केवल मेरी, छाप है।

जो भी सामाजिक संगठन कलाकार की इस उन्मुक्तता पर आघात करता है, उतने अंश तक अन्यायपूर्ण और साहित्य-विरोधी होता है। प्रसिद्ध समाजवादी स्वप्नद्रष्टा सेंट-साइमन ने, जिसका प्रभाव मार्क्स पर अत्यधिक है, मरते समय अपने शिष्यों से कहा था :

"मेरा सारा जीवन केवल एक सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है : प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के मुक्ततम विकास करने का आश्वासन मिलना चाहिए।"

यही समस्या मार्क्स के जीवन का भी केन्द्र रही है।

यहाँ व्यक्तित्व और व्यक्तिवाद में अन्तर करना आवश्यक है। इसलिए कि व्यक्तिवाद एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है, जिसमें सम्पत्ति-सम्बन्धों की कल्पना अवश्यम्भावी है। फिर भी, 'प्रत्येक व्यक्ति के स्वाभाविक विकास' की माँग को यदि कोई व्यक्तिवाद कहे तो हमें उस व्यक्तिवाद पर आपत्ति नहीं है और उसे हम समष्टि-मानव के विरुद्ध नहीं मानते।

मार्क्स के व्यक्ति-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जनवादी साहित्य के अन्तर्गत मार्क्स का नाम लेकर अक्सर साहित्य के समाजीकरण की माँग भी की जाती है। 'व्यक्ति-मानव पर समष्टि-मानव के प्राधान्य का अर्थ सर्वोच्च रूसी चिन्तकों या कमिस्सारों ने यह लगाया है कि समष्टि-मानव की आवाज बुलन्द करने वाला एक माध्यम हो—(जो राज्य या पार्टी हो सकती है) और उसका प्राधान्य व्यक्ति मानव अर्थात् कलाकार के ऊपर स्थापित किया जाय।

साहित्यकार की वैयक्तिक सत्ता पर आक्रमण करने के लिए चार प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग होता है। जनवादी साहित्य के नमूने के लिए आदिकालीन जंगली अथवा बर्बर जातियों की कला की बात सबसे अधिक की जाती है—इस उद्देश्य से कि कला अथवा साहित्य सामूहिक उत्पादन की वस्तु है। लोक-गीतों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है: सचेत कलाकार के सामने अक्सर महान् साहित्य के नमूने के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है—शायद इस उद्देश्य से कि यह सब भी सामूहिक उत्पादन की वस्तु है। कहा जाता है कि पूँजीवादी समाज की बढ़ी हुई मशीनों के कारण साहित्य के उत्पादन में प्रेस, मशीनें, मजदूर आदि लाखों व्यक्तियों तथा सामाजिक शक्तियों का बहुत बड़ा योगदान हो गया है—शायद इस उद्देश्य से कि इस युग में साहित्य को वैयक्तिक उत्पादन की वस्तु मानना सम्भव नहीं है। और चौथे, यह कि साहित्यककार सामाजिक उत्तरदायित्व से सीमित है, उसके विचार स्वतन्त्र नहीं हैं, यदि वह अपनी बात कहना चाहता है तो पलायनवादी है अथवा प्रतिक्रियात्मक है। शायद इस उद्देश्य से कि उसका कोई अपना निर्णायक विवेक भी नहीं है।

ये सभी तर्क साहित्यकार के व्यक्तित्व के क्षरण और नैतिक रूप से उसे जर्जर एवं आत्म-विश्वासहीन बनाने के लिए उपस्थित किये जाते हैं। सतही तौर से देखने वाला भी समझ सकता है कि बर्बर जातियों का उदाहरण आधुनिक संदर्भ में बिलकुल अनावश्यक और प्रमाण हीन है। मानव व्यक्तित्व के आज तक के विकास को झुठलाया नहीं जा सकता। आज उन परिस्थितियों में लौट जाना असम्भव है। कला का विशेषीकरण मानव-जाति की प्रगति और प्रौढ़ता का चिह्न है। इसके अतिरिक्त आधुनिकतम समाजशास्त्रीय अन्वेषणों के प्रकाश में कला की आदिम सामूहिकता भी सन्दिग्ध है। उसी प्रकार लोक-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो सामूहिक केवल इस कारण लगता है कि उसे लिखा नहीं गया, उसके लेखक लुप्त हो गए। जो कुछ युगों के प्रवाह में गढ़ा गया है वह उस पत्थर की भाँति है जो समुद्र की लहरों द्वारा सुडौल होता है। एक कलाकार से उस प्रकार की कृति उत्पन्न करने की आशा करना अयथार्थ है। फिर, लोक-साहित्य की सीमाएँ हैं जिनको याद रखना आवश्यक है। सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न 'जनहित' से सम्बद्ध है। इस पर हम अपने पिछले लेख में विचार कर चुके हैं।

कला के सृजनात्मक स्रोत तथा पूर्ण होने पर सामाजिक उपभोग, इन दोनों सन्दर्भों में हमने 'जनवादी साहित्य' की प्रमुख स्थापनाओं पर विचार किया। इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना रहा नहीं जा सकता कि हिन्दी में प्रचलित 'जनवादी-साहित्य' का दृष्टिकोण मार्क्सीय नहीं है, वैज्ञानिक भी नहीं है, समाज को आगे बढ़ाने वाला तो नहीं ही है, कम्युनिस्ट भले ही हो।

अन्त में हम फिर प्रेमचन्द की उक्ति की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे—प्रगतिशील साहित्य, यह शब्द ही गलत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

रमाशंकर तिवारी

अनुकृति, अन्विति और काव्यगत आनन्द

: १ :

(यीक सौन्दर्य-शास्त्र पर एक दृष्टि)

सौन्दर्य का या तो रूप, रस, गन्ध इत्यादि से सम्बन्धित इन्द्रियों द्वारा बोध होता है या कल्पना द्वारा उसकी अनुभूति होती है। सामान्यतया यह समझा जाता है कि सौन्दर्य में वे ही तत्त्व या तथ्य गृहीत हैं जो रुचिकर या रोचक होते हैं। किन्तु, सुसंस्कृत व्यक्ति जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति को ही सौन्दर्य मानता है। इस धारणा के अनुसार जीवन के सम्पूर्ण अर्थ-गर्भित तथ्य के प्रसंग 'सुन्दर' कहे जा सकते हैं जिनकी अभिव्यक्ति से मनुष्य के अन्तःकरण को वास्तविक भावात्मक आनन्द मिला। जैसे सभी दर्पणों पर इतनी पालिश नहीं होती, या उन पर पारे (मर्करी) की इतनी मोटी 'कोटिंग' नहीं होती कि वे सन्तोषजनक प्रतिबिम्ब प्रदान कर सकें उसी प्रकार, सौन्दर्य के समुचित स्वरूपण के लिए सर्व-साधारण की अभिरुचि प्रामाण्य नहीं ठहराई जा सकती। हमें उसकी सम्यक् संकलना के निमित्त उन व्यक्तियों की ही सम्मतियों का अवलम्बन करना पड़ेगा जिनकी संवेदनशीलता सर्वाधिक उत्कृष्ट हो।[1] ऐसे ही व्यक्तियों को भारतीय आचार्यों ने 'सहृदय' की आख्या प्रदान की है। अभिनवगुप्त के अनुसार, सौन्दर्य-रस की चर्वणा वे ही 'हृदय-संवादभाक् सहृदय' कर सकते हैं जिनका मनोदर्पण काव्य अथवा कलाओं के अनुशीलन से निर्मल एवं विशद हो गया हो तथा जिनमें वर्णनीय वस्तु (दृश्य वा श्रव्य वस्तु) में तन्मय हो जाने की योग्यता हो।

: २ :

यूरोप में आधुनिक प्रणाली के सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन का सूत्रपात जर्मन तत्त्वचिन्तक बामगार्टन ने अठारहवीं शती के मध्य में किया जिसके अनन्तर जर्मनी, इंगलैंड प्रभृति अनेक देशों के पण्डितों द्वारा 'सुन्दर' की व्याख्या की एक क्रमिक शृङ्खला ही प्रस्तुत कर दी गई। किन्तु, यूनान को इस बात का गौरव प्राप्त है कि ईसा से पाँच-छः सौ वर्ष पूर्व ही उसके दर्शन-

१. Eric Newton : 'The Meaning of Beauty'—P. 16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेत्ताओं द्वारा सौन्दर्य का ऐसा विश्लेषण किया गया जो आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यूनान के आद्याचार्य प्लेटो के सौन्दर्य-विवेचन के दो प्रधान तत्त्व हैं—'अनुकृति' ('इमिटेशन' अथवा 'माइमेसिस') और 'अन्विति' ('यूनिटी' और 'हार्मनी')। अरस्तु ने अपनी ओर से कुछ विशिष्ट नवीनताओं की संयोजना नहीं की, अपितु थोड़े-बहुत संशोधन के साथ प्लेटो की ही मान्यताओं को आगे बढ़ाया।

ग्रीक देव-कल्पना और अनुकृतिवाद

विशेषतया अनुकृति को प्रधानता देने वाले इस दृष्टिकोण के विकसन में यूनान की परम्परानुमोदित विचार-धारा और देव-कल्पना का उत्तरदायित्व अत्यधिक था। दर्शन-चिन्तन के प्रांगणों के बाहर तथा इसके उदय के बहुत पूर्व से ही, यूनानी विचार-जगत् 'द्वन्द्वात्मक भावना' से सर्वथा असम्पृक्त था। उदाहरणतः, उसमें 'देव' या 'ईश्वर' किसी ऐसी अदृश्य सत्ता का बोधक नहीं था जो केवल अवतार ग्रहण करे किन्तु फिर भी जिसकी आध्यात्मिक प्रकृति का सर्वथा ह्रास न हो सके। उसका रूप वस्तुतः मनुष्य का ही था जो समान्यतः मानवी चक्षुओं का विषय न होते हुए भी, किसी पर्वत या मन्दिर में अधिवास करता था। वे केवल मानवी सौन्दर्य और स्वभाव के ही आदर्शीकृत स्वरूप थे। मनुष्य की सीमाओं से बाहर या उनसे बढ़कर, किसी उच्चतर आदर्श अथवा किसी गम्भीरतर अर्थ या भावना के वे प्रतीक नहीं थे। भारत की प्राचीन कला और विचार-भूमिका पर ध्यान देने से बात ठीक-ठीक समझ में आ जाती है। यहाँ यद्यपि देवता अधिकांशतः मनुष्य-रूप में ही हैं, तथापि मानवी सौन्दर्य एवं स्वभाव के नमूने पर ही उनकी कल्पना नहीं हुई है। उनकी आकृतियाँ बहुधा मानव-आकृति से मेल नहीं खातीं। उदाहरणार्थ, देवी दुर्गा के दस हाथ हैं, शंकर के पाँच मुख हैं, इन्द्र के सहस्र नेत्र हैं और ब्रह्मा के चार मुख हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण, चित्रसूत्र इत्यादि ग्रन्थों में मूर्तियों के निर्माण के नियम और विधान अंकित किये गए हैं। ऐसी मान्यता है कि औपनिषदिक ऋषियों को ध्यानावस्था में इन देवताओं के इन्हीं रूपों का दर्शन हुआ था।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय देवताओं का स्वरूप किसी मानव-रूप का आदर्शीकृत संस्करण नहीं है जो यूनानी देवों के सम्बन्ध में सत्य है। पुनः इन भारतीय देवों की आध्यात्मिक प्रकृति एवं महिमा का पूर्ण संरक्षण हमारे दर्शन-ग्रन्थों में सन्निविष्ट है। यतः कलाकारों, विशेषतः मूर्तिकारों और कवियों को धर्म-ग्रन्थों की मान्यताओं का उल्लंघन करने की स्वतन्त्रता नहीं थी, अतः भारतीय कला-कृतियों में 'प्रतीकात्मक भाव' ('सिम्बौलिज्म') की सदैव रक्षा होती रही। इसके विरुद्ध, यूनानी कला की आत्मा किसी लोकातीत अध्यात्म-भावना से अनुप्राणित नहीं है, क्योंकि उसके पीछे ऐसी कोई लोक-भावना किंवा तात्त्विक-चिन्ता नहीं थी। इसी कारण शेलिंग ने कहा है कि होमर की रचनाओं में कोई अलौकिक अथवा अति-मानवीय ('सुपर-नैचुरल') तत्त्व नहीं क्योंकि ग्रीक देवता प्रकृति का ही एक अंग है। इस प्रकार, अप्रत्यक्ष और अगोचर सत्यों वा सत्ताओं की किसी रहस्य-गर्भित कल्पना के अभाव में इस सौन्दर्य-सृष्टि से उत्पन्न भावना 'अनुकरणात्मक' चित्रण की रही, न कि किसी लोकोत्तर अर्थ-भूमि के उद्घाटन अथवा उद्भावना की। किसी देवता की मूर्ति-रचना में साधारण यूनानी किसी दिव्य भाव का प्रतीक नहीं देखता था, अपितु वह किसी मानव-रूपापन्न जीवधारी की ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुकृति उसे समझता था।[1] यही कारण है कि प्लेटो ने अपनी काव्य-विवेचना में कला को केवल वास्तविकता की अनुकृति माना, इस अनुकरण-प्रक्रिया में घटित होने वाले 'सौन्दर्य के आध्यात्मिक नव-जन्म'—"The spiritual second birth of beauty"—की अभिशंसना नहीं कर सका। जैसा पूर्व कथित है, यूनानी कलाकार अथवा कवि किसी आध्यात्मिक अभिप्राय की भावना से असम्पृक्त था, जिस कारण उसकी कृतियाँ रहस्यात्मक प्रतीकात्मकता से अनुप्राणित नहीं हो सकीं। अतएव, जीवन और जगत् से वह जो सामान्य भाव अथवा धारणाएँ संकलित कर सका उन्हें उसने विशद एवं 'आदर्श' रेखाओं में अंकित किया। इसी कारण, फिर, यूनानी कला में एक शान्ति तथा स्थिरता पाई जाती है, एक समन्वय एवं सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। वैविध्य में ऐक्य (Unity in variety) के स्थापन का यह आदर्श ग्रीक-कला और विशेषतया ग्रीक कला-विवेचन का, दूसरा प्रधान तत्त्व है जिसे हमने 'अन्विति' की आख्या से अभिहित किया है। इस प्रकार यूनानी पण्डितों का सौन्दर्य-शास्त्रीय विश्लेषण लगभग उनकी कला-कृतियों के ऊपरी, औपचारिक तत्त्व तक ही सीमित रह गया तथा उनमें प्रतिष्ठित रागावेश एवं मानवीय स्पन्दन कोरे सौन्दर्य-विरोधी आलोचन का ही शिकार बन पाया। पुनः इसी कारण, समस्त कला-अभिव्यक्ति 'इमिटेशन' की कृत्रिम संज्ञा से पर्याच्छन्न हो गई।

नैतिक, दार्शनिक और सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रतिमान

सौन्दर्य के शास्त्रीय विवेचन से सम्बन्धित तीन सिद्धान्तों की चर्चा प्रो० बोसाँके ने अपने प्रसिद्ध इतिहास में की है जो परस्पर एक ही सम्बन्ध-सूत्र में अनुस्यूत हैं। ये सिद्धान्त हैं नैतिक, दार्शनिक और सौन्दर्य-शास्त्रीय। यदि कला अनुकृति या 'इमिटेशन' है तो नैतिक दृष्टि से यह ठहराया गया कि किसी अनैतिक वस्तु व व्यापार की नकल करने से अनैतिकता के उदाहरणों की ही वृद्धि होगी—अर्थात् व्यवहारतः कला-कृतियों की व्यंजनीय वस्तु की उपादेयता उन्हीं नैतिक प्रतिमानों से निश्चित की जानी चाहिए जो वास्तविक जीवन में व्यवहृत होते हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह निरूपित किया गया कि, यतः कलात्मक चित्रण मानवीय अथवा मानवेतर प्रकृति की ही नकल करता है, अतः जो वस्तु पहले से ही विश्व में विद्यमान है उसकी अनावश्यक पुनरावृत्ति वांछनीय नहीं। सौन्दर्य-शास्त्रीय (Aesthetic) दृष्टि से यह प्रतिपन्न हुआ कि गोचर वास्तविकता का अनुलेख होने के कारण कला में किसी गहन-गम्भीर अप्रत्यक्ष सौन्दर्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती; अतएव, दूसरे शब्दों में, यह निर्णीत हुआ कि सौन्दर्य केवल बाह्य एवं औपचारिक ('फ़ॉर्मल') है, रूपगत है—अर्थात् जिस प्रकार प्रारम्भिक ज्यॉमिति में रेखा, त्रिभुज इत्यादि चित्रों के स्वरूप-निर्माण के लिए कतिपय बाह्य शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार ललित कला की कृतियों में भी आकारगत अत्यन्त सामान्य नियमों का पालन अपेक्षणीय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'समग्र' के विभिन्न

---

१. प्रो० बोसाँके का कथन है कि ग्रीस की 'प्लैस्टिक' कला में स्वयं निरी अनुकृति की भावना नहीं थी अपितु उन मूर्तियों में कलाकारों ने यथेष्ट रचनात्मक कल्पना का उपयोग किया है। इनका सच्चे सौन्दर्यात्मक रूप में केवल अभिशंसन नहीं हो सका क्योंकि जनता की विचार-धारा में कोई द्वन्द्व-भावना विद्यमान नहीं थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागों और अंशों में एकरूपता व सामंजस्य लाना, अनेकता में एकता की सृष्टि करना, इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप सौन्दर्य-सर्जना का प्रधान आधार बना।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुकरण किंवा 'इमिटेशन' के सिद्धान्त के स्वीकरण का यह स्वाभाविक फल हुआ कि कला और काव्य में नैतिक तथा सामाजिक मंगल-क्षेम की भावना का एक और पल्लवन हुआ अथच दूसरी ओर सौन्दर्य की एकमात्र कसौटी आकारगत, अथवा वर्ण्य-वस्तु का समञ्जस-संघटन व विन्यासन बन गई।

किन्तु, यह समझना तथ्य-संगत नहीं होगा कि प्लेटो के पूर्व काव्य के मूल्यांकन का प्रश्न यूनानी मनीषियों ने नहीं उठाया था। वास्तविकता यह है कि ग्रीक-साहित्य के स्वर्ण-युग की परिसमाप्ति के पूर्व ही काव्यालोचन के मूल मानदण्ड की ओर स्वयं ग्रीक काव्यकारों ने प्रचुर स्पष्ट संकेत कर दिया था। सुप्रसिद्ध सुखान्त-नाटककार अरिस्टोफेनीज़ (ई० पूर्व ४५६-३८० वर्ष) अपनी रचना 'Frogs' में यह प्रश्न करता है कि किस आधार पर कवि की प्रशंसा होनी चाहिए और स्वयं यूरीपाइडीज़ के माध्यम से उत्तर देता है—"यदि उसकी कला सच्ची है और उसका उपदेश सारपूर्ण है तथा वह नागरिकों को किसी प्रकार श्रेष्ठतर बनाकर राष्ट्र की सहायता करता है (तो उसका अभिनन्दन होना चाहिए)।"[1] कला की उपादेयता तथा उपदेश-निष्ठता लगभग सभी प्राचीन यूनानी मनीषियों को मान्य थी। वे सभी राष्ट्रानुरागी महानुभाव थे तथा सुयोग्य नागरिक निर्माण करने की प्रेरणा से अनुप्राणित थे क्योंकि 'आदर्श राज्य' की स्थापना उनका उद्देश्य था। इस प्रकार कवियों के निकट भी कला के विशुद्ध, निरपेक्ष मूल्य का महत्त्व स्वीकृत नहीं था।[2] अतएव, यदि कठोर दार्शनिक चिन्तक प्लेटो ने अपने आदर्श जनतन्त्र से कवियों को निष्कासित कर दिया तो अधिक आश्चर्य की बात नहीं माननी चाहिए। सुप्रसिद्ध राष्ट्र-कवि होमर के प्रति एक प्रकार का 'प्यारपूर्ण आदर-भाव' रखते हुए भी प्लेटो कठोर 'सत्य' की वेदी पर मनोरम 'सौन्दर्य' की बलि चढ़ा देता है। अपने विख्यात ग्रन्थ 'Republic' में वह काव्य पर अत्यन्त व्यंगपूर्ण प्रहार करता है। उसकी तर्कना का सार यों है—"सरस्वती (the Muse) सम्पूर्ण महान् कवियों की वाणी एवं मानस पर अधिकार कर लेती है। फलतः अपने सुन्दर पद्यों की रचना करते समय वे विक्षिप्त-से बन जाते हैं तथा उस रागोद्रेक की अन्तः-प्रेरित अवस्था में उन हलके, पवित्र जीवों में मस्तिष्क का तिरोभाव हो जाता है। अन्य किसी दशा में वे अपने आत्म-विस्मृतिशील उद्गारों की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते।" 'आदर्श राज्य' एवं 'आदर्श मनुष्य' का निर्माण प्लेटो का चरम लक्ष्य है। सुतरां 'राज्य' में व्यापक व समष्टि-रूप से प्रतिफलित 'न्याय' का वह परीक्षण, और 'व्यक्ति' में उसके

---

१. "If his art be true, and his counsel sound; and if he brings help to the nation, by making men better in some respects."—R. A. Scott—James: 'The Making of Literature'—p. 36.

२. प्रो० बोसाँके ने अपने ग्रन्थ 'A History of Aesthetic' में (पृ० १२) 'ईलियड' के अठारहवें भाग से दो पंक्तियों को उद्धृत करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि होमर का कवि कविता में सर्जन-क्षम कल्पना का महत्त्व जानता था, किन्तु स्कॉट जेम्स ने इस स्थापना का खण्डन किया है—दे० 'The Making of Literature'—P. 29—30.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्रोत का अन्वेषण करता है। यह स्मरणीय है कि वह 'न्याय' को 'साधुता' या 'अच्छाई' का पर्याय मानता है। अतएव, सामाजिक दृष्टिकोण से वह कला को, जैसा कि प्रत्येक वस्तु को, नैतिकता की सेविका तथा वैयक्तिक दृष्टिकोण से, कला को, जैसा कि प्रत्येक वस्तु को, दार्शनिक आदर्श अर्थात् सत्य की साधना की पोषिका समझता है। होमर तथा उसका अनुसरण करने वाले अन्य कवियों की वह भर्त्सना इसलिए करता है कि उन्होंने देवताओं को निष्करुण, विलासप्रिय, प्रतिशोधशील तथा द्वन्द्वपूर्ण चित्रित किया है; क्योंकि उन्होंने नेक परमात्मा को बुराई का जनक निरूपित किया है; क्योंकि उन्होंने अक्लीज़ (Achilles) और प्रियम् (Priam) जैसे सम्मानित शूर-वीरों को दुर्बल या निम्नस्तरीय मनोभावों से अधिग्रस्त दिखलाया है। अतएव, वह होमर और हेसियड पर नैतिकताविरोधी शिक्षाएँ देनी तथा दुःखान्त और सुखान्त नाटककारों पर अशोभन वस्तुओं या व्यापारों की नकल कर नागरिक-चरित्र को भ्रष्ट बनाने का आरोप लगाता है। सामान्य, शिष्ट जीवन में शील-विच्युत व्यक्तियों को कटोर दण्ड दिया जाता है, किन्तु इन कवि-रचनाओं में ऐसे व्यक्ति पनपते-फूलते चित्रित किये जाते हैं —इस 'असंगति' को यूनानी आद्याचार्य अपनी 'सत्यं' और 'शिवं' की धुन में नहीं समझ पाया; अच्छा होगा यह कहना कि उसने समझने की चेष्टा नहीं की। आज भी तो उसी द्वारा प्रवर्तित दृष्टिभंगी से प्राण-रस लेकर मार्क्सवादी समीक्षक कवि को 'मानवीय आत्मा का शिल्पी' ('Architect of the human soul') समझते हैं और इसी आड़ में, प्रचुर परिमाण में प्रवृत्तिमूलक या प्रचारात्मक (Tendentious) साहित्य की रचना को प्रोत्साहन प्रदान कर रहे हैं। एडमंड विल्सन ने अपने ग्रन्थ 'मार्क्सवाद और साहित्य' में लेनिन के विषय में एक अत्यन्त रहस्योद्घाटक उल्लेख किया है। सुप्रसिद्ध संगीत-स्रष्टा बीटोफ़ैन का कोई रमणीय संगीत सुनकर लेनिन बोल उठा—"जी चाहता है इस लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण स्वर-लहरी को प्रतिदिन सुनता रहूँ।·····आदमी क्या-क्या नवीन उद्भावनाएँ कर सकता है!" किन्तु, इतना कहने के साथ ही लेनिन की मुख-मुद्रा किंचित् खिन्न हो गई और उसने आगे कहा—"किन्तु, मैं प्रायः संगीत नहीं सुन सकता, क्योंकि उससे मन पर प्रभाव पड़ता है। जी चाहता है कि भोली, मीठी बातें करूँ और उन लोगों की पीठ ठोकूँ जिन्होंने इस नरक में रहते हुए भी इतने सौन्दर्य की सृष्टि की है। और, भाई, आजकल किसी की पीठ नहीं ठोंकनी चाहिए—खतरा है कि लोग कहीं तुम्हारा हाथ ही न काट खाएँ!"[1] इस उक्ति में स्पष्टतया यह लक्षित हो जाता है कि लेनिन ने समष्टि के 'शिवं' के लिए अपनी सौन्दर्य-पिपासु अन्तश्चेतना को अवदमित कर दिया। कुछ ऐसे ही उद्देश्य और कुछ ऐसी ही परिस्थितियों—यद्यपि समसामयिक ग्रीस में 'हाथ काट खाने' की विभीषिका विद्यमान नहीं थी—के कारण सौन्दर्योपासक प्लेटो ने अपनी अन्तरात्मा की सहज रसमूलक स्फुरणाओं को दबाकर 'सत्यं' और 'शिवं' दोनों की रक्षा के निमित्त 'सुन्दरं' पर निर्मम प्रहार किया। 'कलाकार मुख्यतः संगत तर्क की भाषा में नहीं अपितु चित्रों की भाषा में बोलता है'—इस सहज सत्य को प्लेटो हृदयंगम नहीं कर सका; 'अपार काव्य-संसार में कवि ही एकमात्र स्रष्टा और विधाता हुआ करता है'—इस सत्य की प्रतीति तो उसके लिए सर्वथा अकल्पनीय ही थी। तथापि, प्लेटो का यह उपयोगितावादी एवं नैतिकता-निष्ठ दृष्टिकोण उस समय कुछ क्षम्य बन जाता है जब

१. द्रष्टव्य—"मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति"—श्री विजयदेव नारायण साही, 'आलोचना' विशेषांक, १९५३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम देखते हैं कि पूर्ववर्ती 'रोदनशील दार्शनिक' ('Weeping Philosopher') हिरैक्लिटस तथा समसामयिक विख्यात इतिहास-वेत्ता जेनोफेन भी कुछ ऐसी ही भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं से होमर की भर्त्सना करने में कोई कोर-कसर न रख सके।

दार्शनिक दृष्टिकोण प्लेटो का और अधिक मनोरंजक है। 'रिपब्लिक' के दसवें भाग में, उस सुविख्यात संवाद में, वह सम्पूर्ण चित्रण-प्रधान ललित कलाओं की हीनता और हेयता का प्रतिपादन करता है। संक्षिप्ततया उसकी तर्कना यों है—"यह कलाकार बड़ा विचित्र है। वह प्रत्येक प्रकार का बरतन ही नहीं बनाता है, अपितु जीव-जन्तु, पौधे-वृक्ष, धरती-स्वर्ग, पृथिवी के भीतर और स्वर्ग में रहने वाली वस्तुएँ, यही नहीं, देवताओं को भी बनाता है। तीन खाटों (beds) की अवस्थिति समझी जा सकती है। एक खाट की सत्ता तो प्रकृति में है जिसकी रचना स्वयं भगवान् ने की है; दूसरी की सत्ता प्रयोजनपूर्ण लोक में है जिसे बढ़ई ने निर्मित किया है; तीसरी खाट की रचना चित्रकार (पेंटर) ने की है जिसकी सत्ता न प्रकृति में है, न लोक में। इन तीन 'निर्माताओं' में वास्तविक रचयिता परमेश्वर ही है क्योंकि उसे ही निखिल विश्व की सृष्टि करने का अधिकार है। बढ़ई को भी 'निर्माता' कहा जा सकता है, किन्तु वह वास्तविक 'सत्ता के आभास' ('Semblance of existence') की रचना करता है। किन्तु, चित्रकार को रचयिता अथवा सृष्टिकर्ता नहीं कहा जा सकता; अधिक-से-अधिक उसे 'अन्यों-द्वारा निर्मित वस्तुओं की नकल करने वाला' कहा जा सकता है। इसी प्रकार दुःखान्त-नाटककार कवि एक 'इमिटेटर' है और अन्य सभी अनुकर्त्ताओं के समान सत्य से तीनगुना दूर है। ये नाटककार तथा होमर सत्य का ज्ञान नहीं रखते अथच उनकी कृतियाँ केवल आभास या प्रतीतियाँ('अपीयरेन्सेज़') हैं, वास्तविक वस्तुएँ नहीं, तथा जो यह समझते हैं कि ये कवि मानवीय और ईश्वरीय सम्पूर्ण बातों के अभिज्ञाता हैं, वे केवल भ्रम ('इल्यूज़न') के शिकार हैं।[1] काल और दूरी में जो वस्तु-जगत् चलनशील है उसके अतिरिक्त वास्तविक सत्ताओं का एक दूसरा लोक है। इस लोक में अनेक 'विचारों' या 'सिद्धान्तों' की रूपमयी अवस्थिति है जिनमें एक शिव है, दूसरा न्याय है, तीसरा सत्य है, चौथा सौन्दर्य है। ये रूपापन्न विचार या सिद्धान्त ही असली, मौलिक सत्ताएँ ('Arche-types') हैं तथा इस वस्तु-जगत् में जो कुछ भी सत्य, शिव और सुन्दर दिखाई पड़ता है वह सम्पूर्ण इन मूल सत्ताओं की ही क्रमशः प्रतिकृति है, आभास है। कलाकार इन 'प्रतीतियों' (appearances) की, जो केवल नकल हैं, नकल करता है—अर्थात् वह 'नकल की नकल' की सृष्टि करता है तथा तर्क-बुद्धि को स्पर्श न कर हृदय के रागों और संवेगों को उद्वेलित करता है जो आत्मा के निम्नतम या निकृष्ट अंश हैं। इस प्रकार कला और कविता अनाचार तथा मिथ्या का प्रतिपादन और प्रचारण करती हैं।

: ३ :

हमने ऊपर कहा है कि विशुद्ध सौन्दर्यात्मक (Aesthetic) दृष्टि से, अनुकृतिवाद की परिणति समन्वितिवाद में हुई। विविधता में एकसूत्रता व सामंजस्य की सृष्टि करना ही यूनानी चिन्तकों के अनुसार सौन्दर्य का पर्याय था। जब तक साधारण बोध में आने वाली वस्तुएँ ही कला का प्रतिमान समझी जाती हों, तब तक आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का दर्शन

१. Bernard Bonsanquet : 'A History of Aesthetic'—pp. 23-26.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना लगभग असम्भव ही है। यूनानी दर्शन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि एक और अनेक का समन्वय अथवा अनेकता में एकता की स्थापना थी। 'समग्र' का उसके विभिन्न भागों से मेल, तथा विभिन्न भागों में परस्पर सामंजस्य की सृष्टि कर एक समन्वित 'समग्र' की उद्भावना—निश्चय ही इस प्रकार की रचना में मानव-मन को परितृप्त करने का महनीय गुण होगा; अथच इस समग्रता की गोचर अथवा काल्पनिक अभिव्यक्ति में अवश्य ही एक 'सौन्दर्य' रहेगा। वस्तुतः सम्पूर्ण यूनानी कला-विवेचन में केवल यही एक तत्त्व ऐसा है जिसे अद्यावधि लगभग सर्व-सम्मति से स्वीकार किया जाता रहा है।

अन्विति का रूप

समग्र (the whole) और भागों (parts) का यह सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध अपेक्षाकृत विशुद्धता के साथ, ज्यामितिक रूपों व चित्रों, अथवा एक विशिष्ट अनुपात में घटित होने वाले लयों वा दूरीगत अंतरालों (Spatial intervals) द्वारा अभिव्यक्त होता है। यूनान में गणित-विषयक शास्त्रों का पुष्कल अनुशीलन तथा निरूपण हो चुका था। सुतरां, यूनानी दर्शन, विशुद्ध एवं प्रातिनिधिक ('टिपिकल') सौन्दर्यस्वरूप के लिए, गणित के ही रूप, अनुपात और समानुपात को चुनने की ओर प्रवृत्त हुआ। अरस्तू का स्पष्ट कथन है कि "सामंजस्य, सममात्रत्व, तथा निश्चित परिसीमन सौन्दर्य के प्रधान तत्त्व हैं, अथच ये ही प्रमुख गुण हैं जिनकी ओर गणितीय विद्याएँ हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं।"[1]

प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'philebus' में रूपगत सौन्दर्य की व्याख्या की है। वह आग्रहपूर्वक अपना मन्तव्य यों प्रकट करता है कि सीधी रेखाएँ और वृत्त तथा उनसे बनने वाले धरातल और ठोस रूप ही, सनातन एवं निरपेक्ष भाव से, सुन्दर हैं ("Eternally and absolutely beautiful") अथच इन्हीं से अमिश्र आनन्द का प्रादुर्भाव होता है। वह आगे और कहता है कि रंगों तथा ध्वनियों में भी ऐसा सौन्दर्य सन्निविष्ट है क्योंकि प्रथम दूरी में व्याप्त होकर, तथा दूसरी काल में व्याप्त होकर, अन्विति ('यूनिटी') की गोचर अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती है। इस प्रकार यूनानी दर्शन के अनुसार औपचारिक सौन्दर्य है, एक अगोचर सिद्धान्त (Non-sensuous principle)—अनेकता में एकता की स्थापना—को इन्द्रिय-बोध्य स्वरूप प्रदान करना। प्लेटो कहता है कि इस उपस्थापन को 'इमिटेशन' की आख्या दी जा सकती हैं। उक्त प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि प्लेटो ने जीवन एवं जीवन के चित्रों—मूर्ति, चित्र, कविता इत्यादि—को सनातन सौन्दर्य की सीमा में सन्निविष्ट नहीं किया है। यही उसके कलागत विवेचन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। ग्रीक वास्तु-कला में सीधी रेखा और वृत्त—जिन्हें प्लेटो ही वस्तुतः सुन्दर मानता है—की जगह रमणीय मोड़ों ('कर्व्ज') का ही अधिक समादर था; उस ओर उसकी सरलताप्रिय दृष्टि नहीं जा सकी। इसी प्रकार, 'रिपब्लिक' की तीसरी पुस्तक में, जहाँ वह छन्द एवं संगीत का विशद विवेचन करता है, अनुकरणात्मक अर्थात् नाट्यात्मक संगीत

---

१. "The main species (elements ?) of beauty are order, symmetry, definite limitation, and these are the chief properties that the mathematical sciences draw attention to."—B. Bosanquet : 'A History of Aesthetic'—P. 33.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अन्विति की जगह विविधता और जटिलता ही अधिक देखता है, तथा फलतः उस रमणीय स्वर-सम्पदा को वास्तविक सौन्दर्य की सीमा से बहिष्कृत कर देता है और अत्यन्त स्पष्ट एवं साधारण गीत-स्वरों को ही सौन्दर्य का 'सर्टीफिकेट' प्रदान करता है। प्लेटो का कठोर सरलता तथा उस सरलता से निष्पन्न होने वाली पूर्णतम अन्विति के प्रति अविचलित अनुराग उसे कलाओं की मोहक, मृदुल अभिव्यक्तियों के अभिशंसन ('ऐप्रिसियेशन') में प्रवृत्त होने से वंचित कर गया। इस प्रकार यूनानी सौन्दर्य-चेतना में रूप, लय, सममात्रत्व एवं सन्तुलन पर जो अत्यधिक बल दिया गया उसमें जीवन की मोहक एवं मांसल, वैचित्र्यमयी रागमूलक वास्तविकताओं की, एक परिमाण में, उपेक्षा ही हुई, यद्यपि उससे एक इस सौन्दर्य-शास्त्रीय सत्य की निष्पत्ति हुई कि संगति अभिव्यक्ति का प्रथम नियम है।

प्लेटो की भूलें

प्लेटो की भूलों और गलतियों की ओर आज आसानी से इंगित किया जा सकता है—(१) यद्यपि कलाकार द्वितीय वर्ग की वास्तविकता का चित्रण करता है, तो भी वह उसमें एक 'भाव' की प्रतिष्ठा करता है, उसे एक 'रूप' प्रदान करता है। कला एक सृष्टि है जिसमें कलाकार की रूप-विधायिनी कल्पना अथवा नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा नवीनताओं की नियोजना कर एक ऐसे लोक की रचना कर देती है जो मनुष्य के लिए सर्वाधिक मर्मस्पर्शी, अतः सर्वाधिक मूल्यवान् एवं सर्वाधिक 'सत्य' होता है। प्लेटो इस साधारण तथ्य को नहीं समझ सका। (२) 'अनुकृति' का सिद्धान्त पूर्ण सत्य नहीं, अर्द्ध-सत्य है। वस्तु अथवा व्यापार का प्रतिरूप उतारना ही यदि कलाकार का कृतित्व माना जाय, तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसे उसमें रचना या सृष्टि का आनन्द मिलेगा ही क्योंकि अपेक्षित चित्र अंकित करते समय उसका केवल हाथ ही क्रियाशील न होगा अपितु उसका अन्तर्मानस भी सजग और सचेत हो जायगा और उस मानसिक स्फूर्ति की दशा में उसका अनुकरण निरी 'अनुकृति' न रहकर कुछ अधिक मार्मिक, अधिक सार-गर्भित वस्तु बन जायगा। मामूली फोटोग्राफी से परिचित होने वाले व्यक्ति भी जानते हैं कि फोटोग्राफर की सजगता और तन्मयता से कोई चित्र या तसवीर कितनी सुन्दर, कितनी आह्लादजनक बन जाती है। प्लेटो इस तथ्य को नहीं समझ पाया। (३) कला और नैतिकता में विरोध का प्रतिपादन कर प्लेटो ने कला को सदाचार की सेविका बना दिया। कलाकार अपनी संवेदनाओं के माध्यम से जीवन और जगत् का अनुवचन करता है तथा, अपनी प्रतिक्रियाओं के रूप में, वह उनके विषय में जो 'रिपोर्ट' प्रस्तुत करता है वह असत्य, अनैतिक नहीं हो सकती। वह एक मार्मिक अनुभव का मर्मपूर्ण चित्र अंकित कर देता है जो, कभी-कभी सामान्यतया स्वीकृत नैतिकता की कसौटी पर खरा न उतरते हुए भी, मनुष्य को उसकी 'मानवीयता' का दर्शन करा देता है। अतएव, कवि या कलाकार उपदेशक वा शिक्षक नहीं। (४) प्लेटो सौन्दर्य की अवस्थिति 'सत्य' और 'शिव' से स्वतन्त्र नहीं मान पाया; वस्तुतः उसका 'सुन्दर' दर्शन के 'सत्य' और उपादेयता या उपयोगिता के 'शिव' से ही संलग्न एक 'बाई-प्रॉडक्ट' है। (५) औपचारिक रूपगत सौन्दर्य का प्रतिमान ज्यामितिक रूपों को मानकर उसने एक कृत्रिम, बाह्य सौष्ठव का आदर्श उपस्थित किया जिसका पालन करने से कलाकार की उद्भावनशील प्रतिमा न खिल सकती थी, न खेल सकती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथापि, तात्कालिक परिस्थितियों पर विचार करने और यूनान की परम्परागत विचार-धारा को स्मरण रखने से यह ज्ञात होता है कि प्लेटो का कला-विवेचन पुष्ट एवं संगत था। होमर के युग (ईसा से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व) के यूनानी कवि को मधुर गायक समझते थे जो स्वर्गीय संगीत से उन्हें आनन्द प्रदान किया करता था। किन्तु प्लेटो के युग के यूनानी कवि को शिक्षक भी समझने लग गए थे जिसका अर्थ यह था कि कवि के चित्रणों का उनके आचरण पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। पुनः, एथेंस की जनता निरन्तर नाटक और संगीत नृत्य के आयोजनों से अत्यधिक भावुक बन गई थी। ऐसी अवस्था में, प्लेटो ने यदि काव्य और कला के प्रति कड़ा नैतिक दृष्टिकोण अपनाया तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उसकी रचनाओं पर दृष्टि-पात करने से यह मालूम पड़ जाता है कि दर्शन-चिन्ता के अतिरिक्त उसमें कवि-सुलभ प्रतिभा भी विद्यमान थी। अवश्य ही ऐसे संवाद भी उसके उपलब्ध हैं जो विचारों की अस्पष्टता से दुर्बोध हैं। परन्तु, 'सिम्पोज़ियम', 'फ़ीडो', 'फ़ीड्रस' इत्यादि अनेक रचनाओं में काव्य, चरित्र-निरी-क्षण, चरित्र-अंकन अथवा सुकरात के हास्य एवं छलपूर्ण चातुरी का मनोरम मिश्रण सम्पन्न हुआ है। नाट्य-रचना 'सिम्पोज़ियम' में नितान्त भिन्न चरित्रों के प्रेम के विषय में अंकित विचार अत्यन्त मनोरंजक हैं और साथ ही उसमें ऐसा सूक्ष्म अवेक्षण विद्यमान है जो काल और देश की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के लिए परम सत्य एवं उद्बोधक है। सच तो यह है कि यदि हम कुछ देर के लिए यह विस्मरण कर जायँ कि प्लेटो उच्चतम कक्षा का दार्श-निक आचार्य है, तो "हमारे सम्मुख अत्यन्त मधुर, मनोरम, प्रभावकारी तथा मानवीय रस से ओतप्रोत काव्य की एक विषद भूमिका अनावृत हो जाती है।[1] अतएव, यह आसानी से समझा जा सकता है कि प्लेटो ने किन अवस्थाओं में, किन कारणों से, ललित कलाओं को इतनी निर्मम कसौटी पर कसने का उद्योग किया। साथ ही, उसे बहुत पूर्व से ही अनुकरणात्मक धारणा (इमि-टेटिव कन्सेप्शन) की विरासत मिली थी। अथच प्राथमिक सत्य के प्रति उसका आग्रह इतना सच्चा, इतना 'सिन्सियर' था कि वह काव्य और कला की प्रतीकात्मक व्याख्या नहीं कर सका—यद्यपि, जैसा प्रो० बोसाँके का अनुमान है, यह समझना असंगत नहीं होगा कि रिपब्लिक की उस विख्यात उपमा में, जिसमें सूर्य और उसका प्रकाश 'सनातन शिव' की सन्तान तथा प्रतीक और उसकी अभिव्यक्ति के रूप में कल्पित किये गए हैं, परवर्ती यूरोपीय धर्म-शास्त्र ('थियॉ-लिजी') के सूत्र विद्यमान हैं। यह सही है कि कवि और कलाकार प्लेटो की दृष्टि में दार्शनिक से हीन[2] धरातल के व्यक्ति हैं तथा दार्शनिक ही सच्चा 'सुन्दर' का उपासक है; किन्तु इससे यह मान बैठना उचित नहीं है कि उसके लिए ललित कलाएँ सौन्दर्य के प्रांगण से बाहर की वस्तु हैं।

यह अवश्य चिन्त्य है कि प्लेटो विशुद्ध सौन्दर्यानुभवजन्य आनन्द की निर्भ्रान्त कल्पना नहीं कर सका। एक स्थल पर वह मानता है कि सौन्दर्य का मूल्य इसी कारण है कि उससे आनन्द की प्राप्ति होती है। किन्तु, वह इस आनन्द का परिसीमन कर देता है—केवल नेत्र और कान के माध्यम से होने वाले बोधों, तथा निम्नतर धरातल पर, घ्राण-जन्य वस्तुओं में ही यह आनन्द उपलभ्य है, अथच वैसी अवस्थाओं में यह प्राप्य है जिनमें इन इन्द्रिय-बोधों

१. Madox Ford : 'The March of Literature'—P. 144.

२. कवि, चित्रकार इत्यादि उक्त संवाद में बढ़ई, लुहार इत्यादि से भी हीन बताये गए हैं।
—लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Sense-perceptions) से, 'फ़ॉर्मल' सौन्दर्य से, प्राप्य उस आनन्द का अनुभव हो जिसमें अभिलाषा अथवा आकांक्षा की व्यग्रता नहीं होती। इससे ज्ञात होता है कि प्लेटो सौन्दर्यनिष्ठ आनन्द (Aesthetic pleasure) की अवस्थिति स्वीकार करता है; किन्तु उसे विशुद्ध आकारगत, औपचारिक सौन्दर्य (जो ज्यामिति के रेखा, वृत्तादि चित्रों में रहता है) तक ही सीमित कर देता है। इसका परिणाम यह हुआ कि उच्चतर चित्रणात्मक कलाओं में वह 'अभिव्यक्ति के आनन्द' को नीति और सदाचार के व्यावहारिक आदर्श से पृथक् नहीं कर सका। अनेक स्थलों पर अपने संवादों में प्लेटो ने सौन्दर्य को परिष्कृत प्रेम ('एजुकेटेड लव') का भाजन बताया है। किन्तु, यह सौन्दर्य वैचारिक क्षेत्र की वस्तु है अथवा एक ऐसा 'मूल्य' है जिसे हम ऐन्द्रिय-बोध के जगत् में केवल एक प्रयोजनातीत 'अभिव्यक्ति' के भाव से अनुभव करते हैं—यह बात पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाई है। यदि दूसरी स्थिति ही सही है तब तो यह मानना ही चाहिए कि प्लेटो का सौन्दर्यानुराग विशुद्ध 'कलात्मक आनन्द' है जो भारतीय दृष्टि से, 'साधारणीकरण' की अवस्था-प्राप्ति के अनन्तर या उसके फलस्वरूप निष्पन्न होता है। प्लेटो स्वयं निश्चिततया इस भाव-भूमि तक पहुँच नहीं सका।

प्लेटो की उपलब्धियाँ

फिर भी, प्लेटो की उपलब्धियाँ, यद्यपि वे अधिकतर ऋणात्मक ('नेगेटिव') ही हैं, सौन्दर्य-शास्त्रीय अनुशीलन के क्षेत्र में महनीय हैं। (१) उसने परवर्ती चिन्तकों को यह निश्चित दृष्टि प्रदान की कि चित्रणात्मक अथवा कल्पनात्मक कलाओं का एक ऐसा समूह है (मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य), जो उपयोगी, व्यवहार-सापेक्ष शिल्पों व व्यवसायों से, समान रूप से, पृथक् हैं तथा जिन पर गहन चिन्तन होना चाहिए। हीगेल का ललित कला और उपयोगी कला का वर्गीकरण प्लेटो से ही प्रसूत है। (२) सर्वप्रथम उसीने शास्त्रीय ढंग से कला के अनुकरणात्मक स्वरूप का विवेचन किया। कलाकार दृश्य जगत् की इन्द्रियगोचर वस्तुओं की मूर्ति रचता है, न कि किसी काल्पनिक इन्द्रियातीत लोक की, और इसलिए उसकी कृतियों में रक्त-मांस की वास्तविकता की प्रतिष्ठा होनी चाहिए न कि हवाई विचारों की उड़ान—इस सत्य का प्रतिफलन भी प्लेटो के विवेचन से ही निष्पन्न हुआ है। (३) इस बात की ओर ध्यान खींचकर कि चित्रकार खाट के एक ही 'पक्ष' (Aspect or position) का चित्र बना सकता है न कि बढ़ई के समान सम्पूर्ण खाट का निर्माण कर सकता है, प्लेटो ने एक ओर इस तथ्य की तरफ संकेत किया कि 'कला' कथमपि 'जीवन' का स्थानापन्न नहीं हो सकती। दूसरी ओर, यह बताकर कि कला-कृति वास्तविक सनातन सत्ताओं (सत्य, शिव, न्याय, सुन्दर इत्यादि) से अत्यधिक दूर पड़ती है, प्लेटो ने परवर्ती कवियों और कलाकारों को इस बात की प्रेरणा प्रदान की कि वे अपनी रचनाओं को उच्चातिउच्च भावों एवं आदर्शों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाएँ। यह देखकर अवश्य प्रसन्नता होती है कि भारतीय मनीषा ने कवि को 'मनीषी, परिभू, स्वयंभू' कहा है तथा उसके विश्व-विधातृ अणोरणीयान्, अचिन्त्य एवं आदित्यवर्ण ज्योति-स्वरूप[1] की कल्पना की है जिससे

१. "कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥"
—गीता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवियों और कलाकारों को 'आहारनिद्राभयमैथुनं' के सामान्य धरातल से ऊपर उठने की प्रेरणा निरन्तर प्राप्त होती रहे। (४) यह आरोप लगाकर कि कवि रागोद्रेक की विक्षिप्तावस्था में अपने मोहक उद्गारों की अभिव्यक्ति करते हैं, प्लेटो ने सर्जना के मूल्यवान् क्षणों की ओर इंगित किया जिससे इस तथ्य की निष्पत्ति हुई कि सच्ची कला अथवा सच्चे सौन्दर्य की सृष्टि तभी सम्भव है जब कलाकार की सम्पूर्ण आत्मा, उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस मार्मिक सत्य की अनुभूति से ओतप्रोत हो जाय जिसकी एक क्षीण प्रतीति ने उसके अन्तःकरण में, थोड़ी देर पूर्व, एक विस्मयजनक अनुरणन उत्पन्न कर दिया हो। (५) महाकाव्य, गीति-काव्य तथा नाट्य-काव्य का पृथक्-पृथक् वर्गीकरण किया तथा इस बात पर बल दिया कि दुःखान्त की (ट्रैजेडी) एक पूर्ण, समग्र और अखण्ड रचना है। इस प्रकार, "प्लेटो ने अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति से अनुप्राणित होकर, एक ऐसे महनीय अनुभव का संकलन एवं व्यवस्थापन किया जिसमें, उसके नीरस और कठोर (Abstract) सौन्दर्य-सिद्धान्त में सन्निविष्ट तत्त्वों की अपेक्षा अधिक संकेत भरे हुए थे, तथा भावी समीक्षा के लिए इस प्रकार उसने अनेक मर्मपूर्ण प्रश्नों का निर्देशन किया।"[1]

: ४ :

प्लेटो के सौन्दर्य-विवेचन की हमने थोड़ी विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है और वह सामिप्राय रही है। यद्यपि अरस्तू ने यूनानी सौन्दर्य-शास्त्र को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया और वही यूरोपीय कला-समीक्षण का सर्वमान्य प्रथम आचार्य साधारणतया समझा जाता है, तथापि इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्लेटो ने अपने विशद आलोचन से उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया था। यदि उसे यूरोप की सर्वोत्कृष्ट मेधा प्राप्त थी, तो उसकी परिस्थितियाँ और उसका उत्तराधिकार भी उतने ही अनुकूल, उतने ही महिमापूर्ण थे। दार्शनिक पंडित की हैसियत से प्लेटो और अरस्तू में यह अन्तर था कि "एक ने विश्व को अपनी ही योजना में समेटने का प्रयत्न किया तो दूसरा दृष्टान्तों की खोज में सम्पूर्ण पृथ्वी पर चतुर्दिक् दौड़ता रहा जिनकी सहायता से वह अन्ततः किसी योजना को देख और समझ सकने की आशा करता था; एक यूरीपाइडीज के समान महान् कवि था तो दूसरा हेरोडोटस की भाँति महान् गद्यकार था।"[2]

अनुकरण नहीं चित्रण

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि अरस्तू ने प्लेटो के 'अनुकृतिवाद' का प्रत्याख्यान नहीं किया। उसकी सौन्दर्य-दृष्टि भी 'इमिटेशन' की ही भावना में नियोजित रही, यद्यपि कला को उसने, अपने गुरु की तरह, वास्तविकता का अनुलेख-मात्र न समझकर उसका 'चित्रण' माना। इस दृष्टि से अरस्तू का 'इमिटेशन' प्लेटो की 'अनुकृति' नहीं है; उसे 'अनुकरण' कहना ही अधिक संगत होगा। महाकाव्य, त्रासद (ट्रैजेडी), प्रहसन (कॉमेडी)[3], उग्रस्तोत्र (डिथिरै-

१. B. Bosanquet : 'A History of Aesthetic'—P. 55.

२. Madox Ford : 'The March of Literature'—P. 144.

३. अरस्तू के ट्रैजेडी में 'त्रास' (Terror) की प्रधानता है, तथा कॉमेडी में 'हास्यजनक' (Ludicrous) तत्त्वों का ही निदर्शन गृहीत है जो सर्वथा सुखान्तकी की वस्तु नहीं। अतः क्रमशः उन्हें 'त्रासद' और 'प्रहसन' कहना ही अधिक समीचीन है। —लेखक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

म्बिक) और बाँसुरी तथा वीणा का अधिकांश संगीत—ये सभी 'अनुकरण' के स्वरूप बताये गए हैं। उन सब कलाओं में ताल, शब्द तथा स्वर में से एक या सबके समन्वित सहयोग के द्वारा अनुकरण की सृष्टि की जाती है। वीणा और वंशी के अनुकरणों में स्वर और ताल का ही प्रयोग होता है। नृत्य में केवल ताल का प्रयोग होता है और नर्त्तक केवल ताल पर ही नाचकर चरित्र रागावेश तथा कार्यों का अनुकरण करते हैं। काव्य ऐसी कला है जिसमें शब्द का ही माध्यम ग्रहण किया जाता है यद्यपि उसके कुछ रूपों त्रासद, प्रहसन, उग्रस्तोत्र और 'ग्राम-गीतों' (पैस्टोरल्स) में ताल, राग और छन्द, सभी का उपयोग होता है। फिर भी, अरस्तू ने केवल महाकाव्य, त्रासद और प्रहसन इन्हीं तीन मुख्य रूपों का ही विवेचन किया है। अभिनय कला और गायन-कला को क्रमशः नाटक और महाकाव्य की कलाओं के प्रांगण के बाहर की वस्तु समझा गया है। गीति काव्य को कोई विशिष्ट काव्य-रूप नहीं माना गया है। वास्तु इत्यादि निर्माणात्मक कलाएँ 'पोयटिका' में सन्निविष्ट नहीं हैं यद्यपि चित्रकला (पेंटिंग) का दृष्टान्त के रूप में अनेक बार उल्लेख हुआ है। संगीत और चित्र के सम्बन्ध में अन्य रचनाओं में उल्लेख उपलब्ध हैं। किन्तु, इन कलाओं से प्राप्त होने वाले आनन्द का कोई सविधि, विशद विश्लेषण नहीं किया गया है। अतएव, अरस्तू का विवेचन ललित कला के सम्यक् शास्त्र जैसा व्यापक नहीं है।

तथापि, जैसा कहा गया है, अरस्तू ने कला को, और इसलिए 'सुन्दर' को, दर्शन के प्रतिबन्धों से मुक्त कर, काव्य का ऐसा विवेचन उपस्थित किया है जो आधुनिकता के रंगों से आविष्ट प्रतीत होता है। उसने 'काव्य-शास्त्र' में काव्य की उत्पत्ति का जो निर्देश किया है वह 'इमिटेशन' पर अवलम्बित होते हुए भी कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार काव्य का जन्म मानव-प्रकृति में बद्धमूल दो प्रवृत्तियों—अनुकरण और राग तथा लय—के विकसन एवं परिष्करण का परिणाम है। 'इमिटेशन' के विषय में अरस्तू का कथन है कि अनुकरण की प्रवृत्ति मनुष्य में बाल्यकाल से ही विद्यमान रहती है तथा इसी के द्वारा वह अपनी आरम्भिक शिक्षा प्राप्त करता है। मानव-मात्र को अनुकरण से आनन्द मिलता है और अनुभव बताता है कि ऐसे अप्रिय जीवों या पदार्थों के अनुकरण से भी आनन्द मिलता है जिनका प्रत्यक्ष-दर्शन दुःखद और ग्लानिप्रद होता है। इस आनन्द के मूल में मुख्य बात यह है कि ज्ञान प्राप्त करने से तत्त्ववेत्ताओं को ही आनन्द नहीं प्राप्त होता अपितु उन लोगों को भी होता है जिनकी ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता सीमित है। कोई 'अनुकरण' या चित्र देखकर मनुष्य कुछ सीखता है, कुछ निष्कर्ष निकालता है, कुछ नई जानकारी प्राप्त करता है; और यही अनुकरण के प्रेक्षण से मिलने वाले आनन्द का मूल रहस्य है। किन्तु, यदि हमने मूल वस्तु न देखी हो तो आनन्द का कारण स्वयं अनुकरण नहीं होगा प्रत्युत हम चित्र की सजावट-बनावट, रंग इत्यादि से ही आकर्षित होंगे।

अपने दूसरे प्रसिद्ध ग्रंथ 'अलंकार-शास्त्र' (Rhetoric) में अरस्तू का कथन है कि चित्र, मूर्ति और काव्य जैसी अनुकरणात्मक कलाओं से उपलब्ध आनन्द के मूल में ज्ञान-प्राप्ति अथवा 'बुद्धि का प्रयोग' तथा 'विस्मय की भावना' सन्निहित है।

उपर्युक्त उद्धरणों से हमें अरस्तू के काव्य-विषयक सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकालने की प्रेरणा मिलती है :—(१) अनुकरण से अनुकार्य वस्तु की तुलना में प्रायः अनुकूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव या संवेदन उत्पन्न होता है जिसे आनन्द कह सकते हैं। (२) इस अनुकूल संवेदन अथवा आनन्द के मूल में दो तत्त्व सन्निहित हैं—एक है ज्ञानात्मक और दूसरा है भावनात्मक। पहले से यह अभिप्रेत है कि ज्ञेय (अनुकार्य) वस्तु को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए हम बुद्धि किंवा तर्क-शक्ति का उपयोग करते हैं। अरस्तू ने जिन ग्रीक शब्दों का प्रयोग किया है उनके अनुवाद में अंग्रेजी में 'apprehend' या 'know' और 'infer' शब्दों का व्यवहार किया गया है। इन दोनों शब्दों में बुद्धि या तर्क-शक्ति—'इंटेलिजेन्स' और 'लॉजिक'—का स्पष्ट अन्तर्भाव है। अर्थात् अनुकरण का दर्शन से जो निष्कर्ष ('इनफरेंस') हम मूल पदार्थ के विषय में निकालते हैं उसमें बौद्धिक व्यापार के साथ-साथ सक्रिय कल्पना का भी सहयोग रहता है। दूसरा तत्त्व भावनात्मक है जिसमें अनुकरण के प्रेक्षण से एक विस्मय की भावना उद्भूत होती है। इस विस्मय का कारण यह होता है कि अनुकरण में हम कुछ ऐसी चीज पाते हैं जिससे हम पूर्व-परिचित हैं, जो परिचिति अथवा साहचर्य के कारण हमारी ममता, हमारी रागात्मक संवेदना या भाजन है तथा जो सजावट-बनावट और चमक-दमक के कारण कुछ नवीन आकर्षण से सम्पन्न होकर हमारे चित्त को विस्मित और चमत्कृत कर देती है। इस प्रकार अनुकरणजन्य आनन्द हमारी बुद्धि, कल्पना और भावना तीनों के उद्वेलन का परिणाम है। (३) यदि अनुकरण की मूल वस्तु हमारी जानी नहीं है, तो भी केवल चित्र की सजावट ही हमें आनन्द देती है। अर्थात्, कला-कृति की व्यंजनीय वस्तु से पूर्ण तादात्म्य स्थापित न कर सकने पर भी हम उसके बहिरंग अलकरण पर भी आकर्षित होते हैं। उस उक्ति का काव्य के शिल्प-पक्ष से घनिष्ट सम्बन्ध है।

प्रथम निष्कर्ष पर तनिक विचार करने से ज्ञात होता है कि अरस्तू यह स्पष्ट मानता है कि काव्य की व्यंजनीय वस्तु साधारण अनुभव में अप्रिय हो सकती है, किन्तु कलाकार द्वारा चित्रित होने पर वह प्रिय अर्थात् 'सुन्दर' बन जाती है। अथच उससे उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया आत्मा के अनुकूल होती है; वही आनन्द है। अतः प्लेटो की यह भूल कि वास्तविक वस्तुओं के समान ही काव्य में वर्णित वस्तु हमें प्रभावित करती है, अरस्तू द्वारा परिमार्जित कर दी गई है। दूसरे शब्दों में, अरस्तू कलाजन्य 'इस्थेटिक' आनन्द को लौकिक अनुभव से पृथक् सत्ता मानता है। प्लेटो के दृष्टिकोण में उसके नैतिक पूर्वाग्रह की स्पष्ट छाप थी। वह समझता था कि वस्तु-जगत् में जो वस्तुएँ और व्यापार स्थूलतया अशिव परिणाम उत्पन्न करते हैं वे काव्य में चित्रित होकर और भी भयंकर परिणाम उत्पन्न करेंगे। अरस्तू की दृष्टि-भंगी विशुद्ध कलात्मक है। वह यह मानता है कि प्रत्येक कलाकृति चाहे वह चित्र हो या कविता, सौन्दर्य की वस्तु है तथा वह हमें एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द प्रदान करती है, जो कलाओं से ही मिला करता है। हास्यास्पद वस्तु को वह कॉमेडी का विषय मानता है, और कॉमेडी से भी आनन्द प्राप्त होता है। अतः अरस्तू की दृष्टि में हास्यास्पद भी—जो कुरूप (the ugly) का ही एक प्रकार है—सौन्दर्य के प्रांगण में सन्निविष्ट है। यद्यपि कॉमेडी का पूर्ण विवरण आज के उपलब्ध 'पोयटिक्स' में प्राप्त नहीं है, तथापि उसका विवेचन सन्निविष्ट कर अरस्तू ने प्लेटो द्वारा प्रस्तुत नाट्य-विवेचना की सीमा बढ़ा दी है। यह उसकी व्यापक सौन्दर्य-चेतना का प्रमाण है।

अरस्तू ने स्पष्ट कहा है कि पद्यबद्ध रचना कविता नहीं है। औषध-विज्ञान और प्रकृति-विज्ञान पर पद्य में पुस्तक प्रणयन करने वाला 'कवि' की आख्या का अधिकारी नहीं है जबकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके विपरीत जीवन का 'अनुकरण' करने वाली रचना, चाहे वह गद्यबद्ध ही हो, काव्य की सीमा के भीतर सन्निविष्ट है।[1] अरस्तू की दृष्टि में 'अनुकरण' ही वह मूल, महत्त्वमय तत्त्व है जो सृजनात्मक साहित्य को सूचनात्मक, ज्ञानात्मक अथवा उपदेशात्मक साहित्य से पृथक् करता है। अनुकरण ('इमिटेशन') काव्य की प्रधान वस्तु है और अरस्तू की कला-दृष्टि में 'अनुकरण' का अर्थ प्लेटो की 'अनुकृति' नहीं है, अपितु उसका अभिप्राय है साहित्य में जीवन का 'चित्रण' जिसमें कवि ने कल्पना के उपयोग से जीवन की नव-रचना की हो। अवश्य ही, अरस्तू ने प्लेटो के ही समान अभिव्यञ्जनात्मक अथवा प्रतीकात्मक कला का उल्लेख नहीं किया, तो भी 'अनुकरण' की व्याख्या में उसकी सीमा इतनी बढ़ा दी कि इसके भीतर भावों या विचारों का भी चित्रण गृहीत हो सकता है।[2]

कलात्मक झूठ का महत्त्व

यद्यपि अरस्तू ने अपने समग्र विवेचन में 'अनुकरण' शब्द का ही प्रयोग किया है, तथापि, जैसा पहले एकाधिक बार संकेत किया गया है, उसका अनुकरण प्लेटो की 'अनुकृति' नहीं, और न वह है साम्प्रतिक युग का यथार्थवाद। कवि का सत्य फोटोग्राफर अथवा इतिहास-लेखक का सत्य नहीं है। अरस्तू का कथन है कि कवि का कर्त्तव्य यह नहीं कि वह उन वास्तविक घटनाओं का वर्णन करे जो हो गई हैं, अपितु वैसी बातों का वर्णन करे जो घटित हो सकती हैं अथवा जो घटित होनी चाहिएँ। इतिहास का लक्ष्य किसी विशेष (the particular) का वर्णन करना है, जबकि काव्य का लक्ष्य सार्वभौम सत्य (the universal) का निरूपण करना है। 'इसी कारण इतिहास की अपेक्षा काव्य अधिक श्रेष्ठ एवं दार्शनिक रचना है,' ऐसा अरस्तू का विचिकित्सारहित कथन है। इस उक्ति में विद्वानों का कथन है कि अरस्तू ने, प्रच्छन्न रूप से, प्लेटो के उस आरोप का असन्दिग्ध प्रत्याख्यान किया है कि काव्य 'नकल की नकल' करने के कारण सत्य से तीनगुना दूर है तथा वह मिथ्या एवं भ्रम का व्यवसाय करता है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर मनुष्य उनके प्रति किस प्रकार प्रतिक्रियाशील होते हैं, कैसे 'रिस्पाण्ड' करते हैं तथा उस प्रतिक्रिया में 'मानव की किस दुर्बलता अथवा क्षमता का उन्मीलन होता है, वही कला और काव्य का सत्य है—इस आधुनिक दृष्टि की स्पष्ट प्रतीति अरस्तू के उक्त कथन में उपलब्ध है। महाकाव्य के विषय में अरस्तू कहता है कि उसमें न केवल 'विस्मयजनक' (Marvellous) अपितु 'अतर्क संगत' (irrational) तत्त्वों का भी सन्निवेश हो सकता है। होमर ने इसकी भी कल्पना की है कि ट्राय-नगर के प्राचीर के चारों ओर अल्कीज हेक्टर का पीछा कर रहा है जबकि ग्रीक लोग चुपचाप खड़े तमाशा देख रहे हैं। साधारण समझ में यह बात नहीं आती। किन्तु, होमर ने ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया है जिसमें विचिकित्सा

---

१. तुलना कीजिए—
"The opposite of poetry is not prose, but science; the opposite of prose is not poetry, but verse." —Coleridge

२. यहाँ महत्त्व की बात यह है कि प्लेटो के पूर्व सुकरात ने स्पष्टतया कहा था कि केवल दृश्य का ही नहीं, अपितु अदृश्य (जिसमें भावों और विचारों का भी अन्तर्भाव है) का भी 'अनुकरण' हो सकता है। —लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कोई गुंजाइश नहीं। वातावरण के लिए जो सत्य हो सकता है वही कवि के लिए सत्य है। इसी प्रकार, 'ओडिसी' में ओडिसियस अत्यन्त रहस्यपूर्ण ढंग से समुद्र के उस पार स्थानान्तरित किया गया और इथरका के तट पर छोड़ दिया गया है। अरस्तू ने कहा है कि इसी कारण कवि "असम्भाव्य सम्भवताओं की अपेक्षा सम्भाव्य असम्भवताओं" को अधिक पसन्द करता है। होमर की यह कहकर वह सराहना करता है कि उसने अन्य कवियों को 'कलात्मक झूठ' (Artistic lies) बोलने का ढंग सिखाया है। प्लेटो के 'भ्रमवाद' का इसमें सांकेतिक प्रत्याख्यान है।

सौन्दर्य और शिव

तथापि यह सतत ध्यान में रखना आवश्यक है कि यद्यपि अरस्तू ने 'अनुकरण' की भावना का विस्तार किया, उसने इसका स्पष्ट तिरस्कार करके प्रतीकात्मक भाव का ग्रहण नहीं किया। अधिक-से-अधिक यही समझना उचित होगा कि ललित-कला को वह प्रस्तुत वास्तविकता का आदर्शीकरण ही मानता था। 'पोयटिक्स' के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में प्राप्त कला-विषयक उल्लेखों से ऐसा ज्ञात होता है कि सौन्दर्य और शिव, तथा सौन्दर्य और वासना में वह स्पष्ट, दृढ़ पार्थक्य बनाए नहीं रख सका है। 'रिटॉरिक' (अलंकार-शास्त्र) में वह 'सुन्दर' की परिभाषा करता है—"सौन्दर्य वह शिव है जो आनन्ददायक इसलिए है कि वह शिव है।"[1] यहाँ 'सुन्दर' के भीतर सदाचरण प्रत्यक्षतया अन्तर्भूत कर दिया गया है। अतः विद्वानों की शिकायत है कि अरस्तू में कला की वह विशुद्ध कसौटी प्राप्त नहीं है जो सौन्दर्य को ऐन्द्रिय-बोध एवं कल्पनागत अनुभूति में सीमित कर देती है। फिर भी, शिव की दृष्टि मानव की सौन्दर्य-भूख का निरन्तर नियमन करती रही है। रवीन्द्रनाथ का कथन है कि "सौन्दर्य-मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है और मंगल-मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।" अतएव, इस कथन में क्या अत्युक्ति होगी कि अरस्तू की सौन्दर्य-दृष्टि अद्यावधि अतिक्रमित नहीं की जा सकी है!

कलाजन्य आनन्द की प्रकृति

अरस्तू ने 'ट्रेजेडी' की परिभाषा में उससे मिलने वाले आनन्द की प्रकृति का वर्णन किया है। उसके अनुसार त्रासद में पूर्ण गम्भीर तथा यथेष्ट आकार वाले व्यापार का विविध अलंकरणों से विभूषित भाषा में इस प्रकार 'अनुकरण' किया जाता है जिससे सामाजिक में 'भय' एवं 'करुणा' का यथेष्ट संचार होकर, अन्ततः इन रागों व संवेगों का निरसन (purgation) हो जाय। भय और करुणा दोनों विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। पहली हमें विषय से प्रतिमुख बनाती है जबकि दूसरी हमें विषय की ओर अभिमुख करती है। भारतीय रस-दृष्टि से दोनों आवेगों की युगपत् अवस्थिति सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि दोनों तुल्य वेग से सम्पन्न होंगे तो रस की चर्वणा में बाधा पड़ेगी। अतः इनमें से एक का अंगी और दूसरे का अंग होना आवश्यक है। किन्तु, यूनानी और सौन्दर्य-दृष्टि त्रासद से प्राप्त आनन्द ('एस्थेटिक प्लेजर') की उद्भूति में भय और करुणा का आलोड़न अनिवार्य मानती है। त्रासद के अभिनय से पड़ने वाले मानसिक (Psychic) प्रभाव के विषय में प्लेटो और अरस्तू दोनों में साम्य है। प्लेटो का कथन है कि

१. "The beautiful is that good which is pleasant because it is good."
—'Rhetoric'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाटक का अभिनय देखते समय प्रेक्षक, व्यावहारिक जीवन के प्रतिबन्धों को तोड़कर, अपने आवेगों, विशेषतया भय एवं करुणा, की बाढ़ में बहने लगता है तथा इस अनियन्त्रित अनुभव में आनन्द प्राप्त करता है, अथवा इस आनन्द को उत्पन्न करने के लिए त्रासदकार आवेगों को उत्तेजित एवं उद्दीप्त करने वाले प्रत्येक सम्भव साधन का उपयोग करता है। यहाँ तक अरस्तू प्लेटो का अनुगमन करता है, किन्तु इसके उपरान्त वह एक पूर्णतया नवीन सिद्धान्त की उद्भावना कर, प्लेटो के इस अनुदार आरोप का अप्रत्यक्षतया प्रत्याख्यान करता है कि कवि या नाटककार सामाजिक की अन्तरात्मा के निम्नतम एवं हीनतम अंशों को प्रोत्साहन तथा परितृप्ति प्रदान करते हैं। इस नवीन सिद्धान्त के लिए उसने ग्रीक शब्द 'कैथार्सिस' (Katharsis) का प्रयोग किया है। अरस्तू के अनुसार मनुष्य के अन्तःकरण में भय और करुणा के संवेग वर्तमान हैं जो यदि उसके वास्तविक जीवन में उद्दीप्त हो जायँ, तो उसे विनष्ट कर देंगे। त्रासद के अभिनय के प्रेक्षण से इन संवेगों का अतिशय परिमाण में उद्वेलन होता है जिससे ये सामाजिक के मानस से निकलकर उसे मानसिक शान्ति और संतुलन प्रदान करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक पंडित बताते हैं कि जिन मनोवेगों से हमें अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है उनसे हम, या तो दमन से या उन्नयन ('सब्लिमेशन') से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। जब हम किसी कार्य में सफलता पाते हैं तो हम न तो किसी मनोवेग का दमन किये रहते हैं, न उन्नयन। त्रासद के प्रेक्षण से (वा पठन से) इस प्रकार विरोधी मनोभावों का संतुलन होता रहता है और हममें विचित्र, विस्मयजनक अन्तस्सामञ्जस्य बना रहता है। इस दृष्टि से डॉ० रिचार्ड्स 'ट्रेजेडी' को सम्भवतः अत्यन्त व्यापक, सर्वग्राही एवं सर्व सन्निवेशक (All-ordering) रचना मानते हैं।[1] रिचार्ड्स ने अरस्तू की परिभाषा में समाविष्ट 'कैथार्सिस' का अपने व्यापक काव्य-सिद्धान्त के निरूपण में उपयोग किया है। यद्यपि उनके अनुसार काव्य के अनुशीलन का उद्देश्य आनन्द (प्लेजर) नहीं होना चाहिए, तो भी, अरस्तू का अभिप्राय हमारे लिए नितान्त स्पष्ट है—त्रासद के अभिनय का अध्ययन से जो आनन्द आविर्भूत होता है वह हमारे उस मानसिक संतुलन एवं शान्ति से प्रसूत होता है जो भय और करुणा के क्षोभजनक मनोवेगों के निरसन का स्वाभाविक परिणाम है। जब हम यह देखते हैं कि अरस्तू की यह नवीन उद्भावना आधुनिक मनोविज्ञान के मनीषी सौन्दर्य-शास्त्रियों द्वारा भी समर्थित होती है तो हमें अरस्तू की सूक्ष्मगामिनी प्रतिभा की प्रतीति होती है।

इससे यह स्पष्ट है कि प्लेटो की 'अनुकृति' अरस्तू की प्रतिभा के पारस से संयुक्त होकर क्योंकर 'अपूर्व-वस्तु-निर्माणपरक-प्रज्ञा' की समकक्ष बन गई है। यह दूसरी बात है कि उसने 'कल्पना' के द्योतक किसी ग्रीक शब्द का प्रयोग नहीं किया। 'अनुकरण' का सिद्धान्त इतना आकर्षक सिद्ध हुआ कि आधुनिक समय में विख्यात जर्मन कवि और विद्वान् शिलर ने भी इसका नवीन ढंग से प्रतिपादन किया। 'अन्विति' के सिद्धान्त का फ्रेंच पण्डितों ने किस प्रकार विशदीकरण कर 'संकलन-त्रय' का निरूपण किया, तथा रोमांटिक कला के अभ्युदय से होने वाले संशोधनों के बावजूद किस प्रकार आज भी 'संगति' एवं 'सामञ्जस्य' से पूर्ण कला-सर्जना का आधारभूत तत्त्व माना जाता है, यह हमें पूर्णतया विदित है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात यह है कि भारतीय मनीषियों ने भी नाटक के सम्बन्ध में 'अनुकरण वृत्ति' का

---

१. 'Principles of Literary Criticism'—P. 247.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लेख किया है—"लोकावृत्तानुकरणं शास्त्रमेतन्मयाकृतम्" (भरत)। किन्तु यह अनुकरण प्लेटो की 'अनुकृति' का पर्याय नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'शिल्पों की अनुकृति'[1] का भी उल्लेख प्राप्त है, किन्तु इस अनुकृति के लिए देवशिल्प की अनुप्रेरणा बताई गई है[2] तथा शिल्प से आत्मा के संस्कार की बात कही गई है। 'पंचदशी' में सुन्दर ढंग से बताया गया है कि किस प्रकार प्रमाता की चेतना प्रबुद्ध होकर प्रमेय को अधिकृत कर लेती तथा स्वयं उसमें ओत-प्रोत हो जाती है। इस प्रकार भारतीय प्रतिभा ने कला को 'अनुकृति' न मानकर आत्मा का प्रकाश बताया है। फिर भी, प्राचीन यूनानी और प्राचीन भारतीय आचार्यों में जो 'अनुकरण' विषयक साम्य दीख पड़ता है, वह निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है।

१. "एतेषां वै शिल्पानां अनुकृतीह शिल्पं अधिगम्यते।"
२. "ॐ शिल्पाणि शंसति देवशिल्पाणिः।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परशुराम चतुर्वेदी

सन्त साहित्य और जैन हिन्दी कवि

: १ :

जैनागमों एवं बौद्धपिटकों द्वारा अनुप्राणित श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से मूलतः कई बातों में भिन्न कही जा सकती है। वैदिक आर्यों की मनोवृत्ति जितनी दार्शनिक थी उतनी वह नैतिकता की ओर उन्मुख न थी। उपनिषदों में विशेषतः किसी नित्य, शुद्ध चैतन्य के दर्शन या ज्ञान को प्रधानता दी गई थी और उनमें निर्दिष्ट मोक्ष का स्वरूप भी बहुत-कुछ अस्पष्ट-सा प्रतीत होता था। इसके विपरीत श्रमण परम्परा वाले गौतम बुद्ध का तत्त्वज्ञान बुद्धिवाद पर आश्रित रहा तथा उनका लक्ष्य दुःख से परम निवृत्ति का था और इसी प्रकार, तीर्थंकर महावीर भी प्रधानतः इन्द्रिय वृत्तियों के पूर्ण अनुशासन तथा मौलिक मानवीय शक्तियों के पूर्ण विकास का ही आदर्श रखते थे। इन दोनों महापुरुषों का ध्यान शुष्क आत्मदर्शन की अपेक्षा 'निर्वाण' अथवा 'अर्हत्' की स्थिति उपलब्ध करने की ही ओर अधिक रहा। वैदिक आर्यों ने अपने ऐहिक अथवा आयुष्मिक हित के भी लिए यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठित होना परमावश्यक माना था जहाँ, बौद्ध एवं जैन स्वीकृतियों के अनुसार उन्हें अनावश्यक ठहराया गया और उनके लिए विहित हिंसा को सर्वथा हेय भी बतलाया गया। इसके सिवाय वैदिक आर्यों ने जहाँ, वेदों को अपौरुषेय मानते हुए, उनके प्रमाण तथा ब्राह्मण वर्ग के पौरोहित्य पर अपने धार्मिक जीवन को आश्रित रखा था, वहाँ श्रमण संस्कृति के समर्थकों ने उन्हें अस्वीकार करते हुए इसके निमित्त आत्मनिर्भरता को ही अधिक प्रश्रय दिया। इन्हें किसी ईश्वर जैसे जगत् के निर्माता और नियामक में भी कभी विश्वास नहीं रहा, जिस कारण ये लोग बहुधा निरीश्वरवादी कहलाकर भी प्रसिद्ध हुए।

श्रमण संस्कृति के समर्थकों की निरीश्वरवादिता वस्तुतः उनके कर्मवाद में निर्भ्रान्त आस्था रखने के कारण थी। वे कर्मों के परिणामस्वरूप होते रहने वाले जन्मान्तर में भी, वैदिक संस्कृति वालों से कहीं अधिक, विश्वास रखते थे। फिर भी इन दोनों ही वर्गों के लोग सांसारिक जीवन के प्रपंचों से निवृत्ति पाने के भी इच्छुक थे। गौतम बुद्ध जहाँ प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक एवं अनात्म मानकर चलते थे और वैदिक आर्यों को जहाँ दृश्यमान जगत् की पृष्ठभूमि के रूप में, अनेक में एक होकर विद्यमान किसी सत्ता में भी विश्वास था वहाँ तीर्थंकर महावीर को जगत् की क्षणिकता एवं आत्मतत्त्व को एक साथ स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न थी, उन्हें केवल आत्मतत्त्व का एकांतिक रूप-मात्र ही स्वीकार नहीं था। इस कारण उपनिषदों में जहाँ जगत् को, उसके अनित्य होने के ही कारण, दुःखमय कहा गया था और इसीलिए आत्मतत्त्व जैसी नित्य वस्तु के प्रति आग्रह भी था, तथा गौतम बुद्ध जहाँ उसी कारण उसका सर्वथा निवृत्त हो जाना तक श्रेयस्कर समझते थे वहाँ तीर्थंकर महावीर ने न तो उपनिषदों जैसी आत्मतत्त्व की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकांतिकता को अपनाया और न उन जैसा पूर्ण निवृत्ति पर बल देना ही उचित समझा। इनके लिए जगत् की परिवर्तनशीलता और आत्मतत्व की नित्यता दोनों ही मान्य थीं और तदनुसार इनका मोक्ष भी पूर्ण निवृत्ति के रूप में न होकर मनोविकारों से मुक्ति-स्वरूप था।[1] मोक्ष को उपलब्ध करने की शक्ति बीजरूप में सब किसी के अन्तर्गत निसर्गतः विद्यमान है, किन्तु वह सदा जागृत नहीं की जाती। उसके द्वारा अर्हत् की स्थिति प्राप्त कर जीव सिद्ध एवं सर्वज्ञ हो जाता है, जो वैदिक परम्परानुसार केवल ईश्वरत्व की दशा में ही सम्भव है।

जैन धर्म आचरण-प्रधान है और उसमें आध्यात्मिक जीवन को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। जैनाचार की समस्त क्रियाओं का मूलाधार अहिंसा में निहित है, जिस कारण इसे वहाँ के 'अणुव्रत' में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। अहिंसा का सत्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसमें स्वभावतः ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का भी समावेश हो जाता है। योग-साधना के लिए विहित 'यम' के अंतर्गत भी अहिंसा की ही गणना सबसे पहले की जाती है और सत्य आदि के नाम इसके पीछे लिये जाते हैं। जैन धर्म ने अहिंसा, तप एवं संयम का होना मानवीय शक्तियों के समुचित विकास के लिए अनिवार्य ठहराया है और इसके विपरीत आचरण को हेय मानकर उसे कभी न अपनाने का उपदेश भी दिया है। तप के द्वारा बाह्य एवं आभ्यन्तरिक दोनों ही प्रकार का संशोधन हो जाता है, जिससे संयम के अनुसार आध्यात्मिक विशुद्धि प्राप्त करने में किसी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं होता और हमें क्रमशः अहिंसा की वह आदर्श स्थिति भी उपलब्ध हो जाती है जिसके बल पर विश्व की सारी समस्याओं का हल किया जाना सम्भव है। अतएव, जैन साहित्य में भी हमें इसी प्रकार की आत्मसाधना तथा आचरणशीलता को विशेष महत्त्व दिया गया मिलता है और वहाँ यज्ञादि के अनुष्ठान, तीर्थ-यात्रा, भेष-धारण, प्रतिमा-पूजन जैसे बाह्य साधनों को निरुत्साहित किया गया है। उसमें इस भाव-धारा की अभिव्यक्ति का माध्यम भी ऐसी ही भाषा को बनाया गया है जो सर्वजन-सुलभ हो।

: २ :

जैन कवियों ने अपनी कृतियों को जन-जीवन के अति निकट लाने के प्रयत्न में उनकी रचना-शैली को सरल एवं सरस कर दिया है। उनमें उक्त प्रकार के आध्यात्मिक जीवन का ही आदर्श प्रतिपादित किया गया मिलता है, किन्तु उसका उपदेश एक ऐसे ढंग से दिया गया रहता है जिसका गहरा प्रभाव बिना पड़े नहीं रहता और हम उस पर गम्भीरता के साथ विचार करने लग जाते हैं। इन कवियों की प्रबन्धमयी रचनाओं में प्रधानतः ऐसे पात्रों को ही स्थान दिया गया है जो सर्वसाधारण के लिए भी परिचित हों और सर्वत्र केवल ऐसे ही प्रतीक एवं उपमानादि के प्रयोग हुए हैं जो सब किसी के दैनिक जीवन में उपलब्ध हो सकते हों। इनके अनेक उदाहरण हमें जैन मुनियों की उन रचनाओं में भी मिलते हैं जो अपभ्रंश भाषा के प्रदेशों में लिखी गई हैं। अपभ्रंश भाषा में इस प्रकार के मुक्तकों की रचना बौद्ध सिद्धों ने भी की है और उनके कुछ ऐसे पद्य-संग्रह दोहा-कोषों एवं चर्यापदों के रूप में उपलब्ध हैं। किन्तु उन सिद्धों की कृतियों में अधिकतर तांत्रिक साधनाओं का भी उल्लेख रहा करता है और

१. डॉ० नथमल टाटिया : 'स्टडीज़ इन जैन फिलासफी', पृ० १८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे इसी कारण रहस्यमयी भी बन जाया करती हैं। उनमें बहुधा किसी ऐसी मनःस्थिति की और संकेत किया गया मिलता है जिसकी प्रतिकृति पूर्णतः उभर नहीं पाती। कभी-कभी तो हम उनके शब्दों की पारिभाषिकता की ही उलझन में पड़ जाते हैं, कभी उनके प्रतीकों के मूल स्रोत ढूँढ़ने लगते हैं और कई बार उनके कारण, ऐसी भूलभुलैया का भी शिकार बन जाते हैं जिससे निकल जाना महा कठिन जान पड़ता है। उनमें अभिव्यक्त जीवन का रूप भी जितना व्यक्तिगत और साधनात्मक है उतना नैतिक और व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।

जैन मुनियों की ऐसी कृतियाँ उनसे कहीं अधिक स्पष्ट और वस्तुसंगत हैं और हिन्दी के संत कवि सम्भवतः इन्हीं से अधिक प्रभावित हैं। जहाँ तक बाह्य आडम्बर, अनावश्यक प्रपंच आदि की आलोचना का प्रश्न है इन तीन वर्गों के कवि एक समान उद्‌गार प्रकट करते हैं। इन तीनों का लक्ष्य ऊपरी साधनाओं की व्यर्थता एवं कृत्रिम जीवन की परिहार्यता सिद्ध करना रहता है और ये तीनों प्रायः एक ही प्रकार की तीखी, चुभती, व्यंगमयी कथन-शैली का न्यूनाधिक प्रयोग भी किया करते हैं, किन्तु बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में जहाँ किसी आदर्श स्थिति का केवल स्वप्निल एवं वायवीय आभास-मात्र ही मिल पाता है वहाँ जैन मुनि एवं संत ठोस जीवन का चित्र भी रखते दीखते हैं। हिन्दी के संत कवियों ने बौद्ध सिद्धों की शब्दावली को अवश्य अपनाया है और ये कुछ-न-कुछ उनकी भाव-धारा से भी प्रभावित हैं, किन्तु ऐसी बातें इन्हें कदाचित् नाथपंथी कवियों द्वारा उपलब्ध हुई हैं जो स्वभावतः इनके अधिक सजातीय भी कहे जा सकते हैं। नाथपंथी कवि, संत कवियों की ही भाँति, किसी अनिर्वचनीय परमतत्त्व में आस्था रखते हैं और वे योग-साधना को भी महत्त्व देते हैं। उनकी रचनाओं में हमें जैन मुनियों की तपोनिष्ठा का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया दीख पड़ता है। किन्तु उनमें जैन मुनियों अथवा संतों की भाँति नैतिक जीवन की ओर उतना ध्यान दिया गया नहीं जान पड़ता। हमें उनमें उस भक्ति-भाव तथा प्रेम-साधना का भी कोई संकेत नहीं मिलता जिसके कारण संतों की गणना कभी-कभी भक्त कवियों में भी कर दी जाती है।

संतों के साहित्य में हमें बौद्ध सिद्धों की अटपटी बानियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं और इसमें उनके पारिभाषिक शब्दों की भी कमी नहीं। इसमें नाथपंथियों के साध्य शिवतत्त्व तथा उसके लिए किसी-न-किसी यौगिक साधना के उल्लेख भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार इसके अंतर्गत हमें वैष्णवों का भक्ति-भाव एवं सूफ़ियों-जैसी प्रेम की पीर भी लक्षित होती है। किन्तु इस साहित्य की जो सबसे बड़ी देन है और जो इसमें चित्रित आध्यात्मिक जीवन एवं नैतिक व्यवहारपरक उपदेशों के रूप में उपलब्ध है वह उनमें से किसी के भी अनुरूप नहीं। उसका आदर्श यदि कहीं मिल सकता है तो वह केवल जैन मुनियों की ही वाणी में अन्वेषणीय है। ये लोग स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "देव न तो देवालय में है, न पाषाण में है, न लेप में है, न चित्र में है; वह अक्षय, निरंजन और ज्ञानमय शिव समचित्त का समभाव वाले के मन में ही निवास करता है।"[1] "हे योगी, अपना मन निर्मल कर लेने पर ही शान्त शिव के दर्शन होते

---

१. देउ ण देउले णवि सिल ए, णावि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ, सिव संठिउ सम-चित्ति ॥१२३॥
'परमात्मप्रकाश', पृष्ठ १२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और वह घनरहित आकाश में सूर्य की भाँति प्रकाशमान होता है।"[1] अतएव "जिसका मन जीते-जी पंचेन्द्रियों के साथ मर गया उसे ही मुक्त मानना उचित है, उसी ने निर्वाण पथ को पाया है।"[2] तथा, "रागद्वेष का परित्याग करके जो सभी प्राणियों को एक समान जानता है और इस प्रकार समभाव में प्रतिष्ठित है वह शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है।"[3] "आत्मज्ञानी वही है जो, चाहे कोई किसी का मित्र हो अथवा शत्रु हो सबके साथ, सभी जीवों को एक मानने की दृष्टि से, व्यवहार करता है।"[4] कबीर साहब आदि संत कवियों के भी कथन का यही सारांश है और इसी के आधार पर सारे नैतिक आचरण की पूर्ण मूलभित्ति खड़ी है। इन जोइन्दु, मुनीराम सिंह जैसे जैन मुनियों की रचनाओं में संत साहित्य की अन्य अनेक गौण बातें भी पाई जाती हैं और इनकी सीधी परम्परा हिन्दी के उन जैन कवियों में भी लक्षित होती है जो विक्रम की १६वीं से लेकर उसकी १९वीं शताब्दी तक बराबर कविता करते आए हैं।

: ३ :

वास्तव में १६वीं से १९वीं तक की विक्रम शताब्दी का समय विभिन्न सुधार-आन्दोलनों का युग था। इसके पहले से ही भक्ति-आन्दोलनों का सूत्रपात हो चुका था और एक नवीन इस्लामी संस्कृति के संघर्ष में आ जाने के कारण सभी भारतीय धर्मों के अनुयायी सतर्क होने लगे थे। यों तो उन दिनों यूरोप के भी कई देशों में इस प्रकार के आन्दोलनों की कमी नहीं थी, किन्तु भारतवर्ष में ऐसी जागृति अधिक व्यापक बनकर दीख पड़ी। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत जहाँ वैष्णव सम्प्रदाय ने विशेष बल पकड़ा वहाँ इस्लाम के सूफ़ी सम्प्रदाय का भी इस समय बहुत अधिक प्रचार हुआ। ये दोनों ही सम्प्रदाय अपने-अपने मूलधर्मों के भीतर किसी-न-किसी प्रकार के सुधारों के पक्षपाती थे। इसी प्रकार हिन्दू धर्म के शैव सम्प्रदाय ने भी इस युग में वैसी ही प्रवृत्ति प्रदर्शित की और जैन धर्म के अनुयायियों में से भी कई ने सुधारपरक सम्प्रदाय स्थापित किये। उदाहरण के लिए कबीर साहब के प्रायः समसामयिक लौंकाशाह ने सं० १५०९ में गुजरात के अन्तर्गत, मूर्ति पूजन के विरुद्ध अपने उपदेश आरम्भ किये, सं० १६५७ के लगभग मध्य भारत में तारण स्वामी ने दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों में अपना तारण पन्थ चलाया और इसी प्रकार सं० १७१० में श्वेताम्बर सम्प्रदाय वालों का भी एक वैसा ही ढूँढिया वा स्थानक वासी नामक साधुमार्ग प्रतिष्ठित हुआ। इसके सिवाय प्रसिद्ध विद्वान जैन कवि बनारसी दास (सं० १६४३–१७००) ने उत्तर प्रदेश में इसके पहले से ही 'तेरापंथ' संज्ञक एक सुधार-

१. जोइय णिय मणि णिम्मलए, पर दीसइ सिउ सन्तु।
अम्बरि णिम्मलि घण-रहिए, भाणु जि जेम फुरन्तु ॥११९॥
'परमात्मप्रकाश', पृष्ठ १२०

२. असु जीवंवहं मणु मुवउ, पंचेन्दियहं समाणु।
सो जाणिज्जइ मोक्कलउ, लद्धउ पहु णिव्वाणु ॥१२३॥ 'पाहुड़ दोहा', पृष्ठ ३६

३. राम-दोस वे परिहरिवि, जे सम जीव णियंति।
ते समभाव परिट्ठिया, लहु णिव्वाणु लहंति ॥१००॥ 'परमात्मप्रकाश', पृष्ठ २४२

४. सन्तु वि मित्तु वि अप्पु परु, जीव असेसु वि एइ।
एक्कु करे विणु जो मुणइ, सो अप्पा जाणेइ ॥१०४॥ वही, पृष्ठ २४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परक आन्दोलन का प्रचार आरम्भ कर दिया था। फलतः जैन मुनियों की परम्परा वाले कवियों को ऐसे वातावरण में और भी अधिक प्रोत्साहन मिला और उनकी रचनाओं में सन्त साहित्य-सम्बन्धी अनेक बातों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में दीख पड़ने लगे। इनमें न केवल उसके साथ वर्ण्य विषय का ही साम्य लक्षित हुआ, अपितु भाषा एवं वर्णन-शैली तक में भी अपूर्व सादृश्य पाया गया।

जैन कवि बनारसीदास काव्य-रचना में स्वयं अत्यन्त निपुण थे और उनकी भावाभिव्यक्ति एवं शब्द-योजना दोनों ही सर्वथा प्रशंसनीय हैं। वह, अपने समकालीन सन्त कवि सुन्दरदास की भाँति, गूढ़-से-गूढ़ दार्शनिक विषयों को भी अपनी रचनाओं में बड़ी सफलतापूर्वक प्रकट कर देते थे। उन्हें अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार था और वह काव्य-शास्त्र के नियमों से भी पूर्ण परिचित थे। उनकी उपलब्ध कृतियों में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जहाँ की शब्दावली एवं मुहावरे तक कबीर साहब जैसे सन्त कवियों की रचनाओं में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए वह कहते हैं—

चेतन तूँ तिहुँ काल अकेला,
नदी नाव संजोग मिलै ज्यों, त्यों कुटम्ब का मेला ॥टेक॥
यह संसार असार रूप सब, ज्यों यह पेखन खेला।
सुख सम्पति शरीर जल बुदबुद, बिनशत नाहीं बेला॥
× × ×
कहत बनारसि मिथ्या मत तज, होय सुगुरु का चेला।
तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला॥२॥[1]

और यहाँ पर सन्त साहित्य की वर्णन-शैली से कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। इसी प्रकार वे फिर अन्यत्र भी कहते हैं :

भोंदू भाई समुझ शबद मह मेरा
जो तूँ देखैं इन आँखिन सौं, तामें कछू न तेरा ॥टेक॥
ए आँखैं भ्रमही सौं उमजी, भ्रमही के रस पागी।
जहं जहं भ्रम तहं तहं इनकौ भ्रम, तूँ इन ही कौ रागी॥
तेरे दृग मुद्रित घट अन्तर, अन्ध रूप तूँ डोलै।
कै तो सहज खुलै वे आँखें, कै गुरु संगति खोलै॥८॥[2]

तथा

वादिन को कर सोच जिय, मन में ॥टेक॥
बनज किया व्यापारी तूने, टांडा लादी भारी रे।
ओछी पूँजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे॥
× × ×
कहत बनारसि सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरखाना रे।
जीवन मरन कियो सो नाहीं, सर पर काल निशाना रे॥इ०॥[3]

---

१. 'बनारसी विलास', जयपुर, सं० २०११, पृ० २२३।
२. 'बनारसी विलास', जयपुर, सं० २०११, पृ० २३४-५।
३. प्रो० राजकुमार जैन : 'अध्यात्मपदावली', काशी, सन् १९५४ ई०, पृ० २०३-५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार कवि बनारसीदास ने अपनी एक रचना 'अध्यातम गीत' के अन्तर्गत दाम्पत्य-भाव के अनुसार वर्णन किया है, जिसमें भी कबीर साहब की भाव-धारा के साथ-ही-साथ उनकी शब्दावली तक से विचित्र सादृश्य दीख पड़ता है। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

मेरा मन का प्यारा जो मिलै, मेरा सहज सनेही जो मिलै ॥टेक॥

× × ×

मैं विरहिन पिय के आधीन, यों तलफौं ज्यों जल बिन मीन ॥३॥
बाहिर देखूँ तो पिय दूर, घट देखे घट में भरपूर ॥४॥
घट माहि गुप्त रहै निरधार, वचन अगोचर मन के पार ॥५॥
अलख अमूरति वर्ण न कोय, कबधौं पिय को दर्शन होय ॥६॥
सुगम सुपन्थ निकट है ठौर, अन्तर आउ विरह की बौर ॥७॥
जउ देखौं पिय की उनहार, तन मन सर्वस डारौं वार ॥८॥
होहुँ मगन मैं दरशन पाय, ज्यों दरिया में बूँद समाय ॥९॥
पिय को मिलों अपनपो खोय, ओला गलि पानी ज्यों होय ॥१०॥
मैं जग ढूँढ फिरी सब ठौर, पिय के पटतर रूप न और ॥११॥
पिय जग नायक पिय जग सार, पिय की महिमा अगम अपार ॥१२॥
बसौं सदा मैं पिय के गांउ। पिय तज और कहाँ मैं जाउ ॥१३॥

× × ×

पिय मोरे घट, मैं पिय माहिं। जल तरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ॥१९॥[1]

यहाँ जान पड़ता है कि ये, जैसे कबीर साहब के 'राम' व 'साहब' के ही सम्बन्ध में, अपना विरह-भाव प्रकट रहे हों जो वस्तुतः सही नहीं है। इसके सिवाय इन्होंने अपनी एक रचना 'पहेली' में भी जो 'सुमति' एवं 'कुमति' नामक दो सपत्नियों का वर्णन रूपक द्वारा किया है वह बहुत कुछ सन्त मत का ही भाव लिये हुए है और उसकी भी शब्दावली पर सन्त साहित्य की छाप लगी है। ये वहाँ उन दोनों की तुलना के साथ आरम्भ करते हैं और उन दोनों में एक संक्षिप्त वार्तालाप कराकर अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

हिय आंगन में प्रेम तरु, सुरति डार गुणपात।
मगन रूप ह्वै लहलहै, बिना द्वन्द दुख बात ॥१०॥[2]

बनारसीदास ने उपर्युक्त रचना 'अध्यातम गीत' की ही दूसरी पंक्ति में लिखा है :

अवधि अयोध्या आतम राम। सीता सुमति करै परणाम ॥[3]

और उन्होंने अन्यत्र, अपने एक पूरे पद में ही 'रामायण' की कथा के युद्ध प्रसंग का रूपक बाँधकर विवेकशील पुरुषों के भीतर प्रायः जाग्रत होते रहने वाले अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा सजीव चित्रण किया है। वे उस पद को

विराजै रामायण घट माहिं।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहिं ॥टेक॥

१. 'बनारसी विलास', पृ० १५९-१६२।
२. वही, पृ० १८०-१।
३. वही, पृ० १५९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से आरम्भ करते हैं तथा राम-रावण युद्ध वाले प्रमुख पात्रों के नाम लेते हुए उनके लिए भिन्न-भिन्न उपमानों की सृष्टि करते हैं और इसी ढंग से उसकी अन्य प्रासंगिक बातों का भी उल्लेख करते हैं। इस पद में भी आतम ही राम है और 'सुमति' ही सीता है, किन्तु यहाँ पर 'विवेक' के रणक्षेत्र में संग्राम के छिड़ने, 'धारणा' की आग में 'मिथ्यामति' की लंका के भस्म होने, 'अज्ञान' विषयक राक्षस कुल के भी नष्ट हो जाने, 'दुराशा' की मन्दोदरी के मूर्च्छित हो पड़ने तथा इसी प्रकार 'राग' एवं 'द्वेष' नामक दोनों सेनापतियों के जूझने एवं 'संशय' गढ़ के विध्वस्त हो जाने का भी सांगरूपक द्वारा वर्णन किया गया है। अन्त में कहा गया है :

इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम ॥८॥[1]

इससे स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य यहाँ पर केवल शुद्ध नैतिक समस्या के ही स्वरूप का अंकन करना रहा होगा।

परन्तु इनसे प्रायः दो सौ वर्ष पीछे अपने 'घट रामायन' ग्रन्थ की रचना करने वाले हाथरस के संत तुलसी साहब ने पूरी 'रामायण' की कथा का रूपक एक दूसरे प्रकार से ही बाँधा है। इनके उसी ग्रन्थ से पता चलता है कि ये अपने को प्रसिद्ध गो० तुलसीदास से अभिन्न समझते थे और इनका कहना था कि मैंने उस रूप में जिस रामायण 'रामचरितमानस' की रचना की थी उसका मर्म और ही है। 'मानस' में जिस कथा का वर्णन किया गया है वह इनके अनुसार केवल एक रूपक मात्र है, जिसका स्पष्टीकरण ये 'घट रामायन' द्वारा करते हैं। ये वहाँ पर कहते हैं :

घट में सुरति सैल जस कीन्हा। काग भुसुंड भाखि तस दीन्हा॥
काग भुसुंड कितहुँ नहिं भयेऊ। तुलसी सुरति सैल तन कहेऊ॥
काग भुसुंड काया के मांही। राम रमा सुख पैठा जाई॥
तुलसी ताकी गति मति जानी। रामायन में कीन्ह बखानी॥
× × ×
सरजू सुरति अवध दसद्वारा। ये घट भीतर देखि निहारा॥
रावन कुंभ लंकपति राई। त्रिकुटी ब्रह्म बसै तेहि मांही॥
रावन ब्रह्म कहा हम जोई। त्रिकुटी लंक ब्रह्म है सोई॥
मंदोदरी भभीषन भाई। इंद्रजीत सुत त्रिकुटी माही॥
× × ×
रावन राम सकल परिवारा। ये घट भीतर चुनि चुनि मारा॥[2]

इससे पता चलता है कि ये किसी राजयोग जैसी साधना की चर्चा कर रहे हैं। इनके यहाँ 'रामायण' के कई पात्र केवल 'मन' के ही विविध रूप दर्शाते हैं। अतएव, 'घट रामायन' में जहाँ रामायण की कथा 'सुरति सैल' के आधार पर बतलाई गई है वहाँ बनारसी दास के पद में वह 'विवहार दृष्टि' से ही आती है।

बनारसी दास के समकालीन एक जैनकवि पण्डित रूपचन्द भी थे जिन्हें वे गुरुवत् मानते

---

१. 'बनारसी विलास', पृ० २३३।
२. 'घट रामायन', बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९३२ ई०, पृ० ४२-३, एवं २१४-५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे और बहुत बड़ा विद्वान् भी समझते थे। रूपचन्द की एक रचना 'परमार्थी दोहा शतक' नाम से प्रसिद्ध है जिसके कई दोहे जैन मुनियों की रचनाओं का अनुसरण करते हैं और जिन्हें हम सन्तों की पंक्तियों के भी सर्वथा अनुकूल भाव व्यक्त करते हुए पाते हैं। उदाहरण के लिए उनके दो दोहे इस प्रकार हैं :

चेतन चित परिचय, बिना, जपतप सबै निरत्थ।
कन बिन तुस जिमि फटकते, आवें कछू न हत्थ॥
भ्रमतैं भूल्यो अपनपौ, खोजत किन घट माहिं।
बिसरी वस्तु न कर चढ़ै, जो देखै घर माहिं॥[1]

बनारसीदास के अनन्तर विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में भी अनेक ऐसे जैन-कवि हुए जिनकी रचनाओं में इस प्रकार की बातें मिलती हैं। भैया भगवतीदास का रचना-काल सं० १७३१ से सं० १७५५ तक माना जाता है। ये भी एक उच्च कोटि के प्रभावशाली कवि थे, जिनकी रचनाओं में 'आतमरस चाख्यौ मैं अद्भुत, पायो परमदयाल'[2] तथा 'चेतहु चेत सुनहु रे भैया, आप ही आप संभारो'[3] जैसी अनेक पंक्तियाँ पाई जाती हैं। इनके समकालीन भूधर दास की पंक्तियाँ इनसे और भी अधिक स्पष्ट हैं और इनकी वर्णन शैली भी बहुत-कुछ कबीर साहब का अनुकरण करती है। इनकी ऐसी रचनाओं की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

भगवन्त भजन क्यों भूला रे ॥टेक॥
यह संसार रैन का सुपना, तन धन वारि बबूला रे ॥१॥
इस जीवन का कौन भरोसा, पावक में तृण पूला रे।
काल कुदार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे ॥२॥ इ०[4]

और, अन्तर उज्वल करना रे भाई !
कपट कृपान तजैं नहिं तबलौं, करनी काज न सरना रे,
बाहिर भेष क्रिया उर शुचिसों, कीये पार उतरना है।
नाहीं है सब लोक रंजना, ऐसे वेदन वरना रे॥
कामादिक मल सौं मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे।
'भूधर' नील बसन पर कैसे, केसर रंग उछारना रे॥[5]

तथा, सुन ठगिनी माया, तैं सब जग खाया।
टुक विश्वास किया जिन तेरा, सो मूरख पिछताया,
× × ×
केते कंथ किये तैं कुलटा, तो भी मन न अघाया।
किस ही सौं नहि प्रीति निवाही, वह तजि और लुभाया॥

---

१. कामताप्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, काशी, १९४७, पृ० १०७।
२. वही, पृ० २४२-२४३।
३. 'अध्यात्म पदावली', पृ० ९९, 'प्रस्तावना'।
४. वही, पृ० ६४।
५. वही, पृ० ६८-७०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'भूधर' ठगत फिरत यह सबकौं, भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगनी कों ठग बैठे, मैं तिसको सिर नाया ॥[१]

इसके सिवाय कवि भूधर दास के 'पद-संग्रह' में एक ऐसा भी पद आया है जिसमें चरखे का रूपक है और जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना ॥ टेक ॥
पग खूँटे दुअ हालन लागे, उर मदरा खखराना।
छीदी हुई पाखंडी पसली, फई नहीं मन माना ॥१॥
रसना तकली ने बल खाया, सो अब कैसे खूटै।
सबद सूत सूधा नहिं निकसै, घड़ी-घड़ी पल टूटै ॥२॥
× × ×
मोटा महीं कातकर भाई, कर अपना सुरझेरा।
अंत आग में ईंधन होगा, भूधर समझ सबेरा ॥५॥[२]

जैन-कवि आनन्दघन कदाचित् इन दोनों कवियों से कुछ पहले हो चुके हैं। इनकी दो पुस्तकें इस समय उपलब्ध हैं जिनमें से 'आनन्दघन चौबीसी' के अन्तर्गत चौबीसों तीर्थंकरों की प्रशस्ति लिखी गई है और 'आनन्दघन बहोत्तरी' में विभिन्न धार्मिक विषयों पर पदों की रचना की गई है। इन दोनों में से, विशेषतः दूसरी में, 'अजयाँ', 'अनहद', 'अवधू', 'सुरतं', 'समाधि' और 'ब्रह्म अग्नि परजाली' जैसे शब्दों व शब्द-समूहों की संख्या अधिक दीखती है। इनका एक प्रसिद्ध पद भी इस रूप में उपलब्ध है :

राम कहो, रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्मा स्वयमेव री ॥
भाजनभेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखंड सरूप री ॥
निजपद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री ॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इहि विधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री ॥६६॥[३]

इसमें चेतन के लिए दी गई विभिन्न संज्ञाओं की चर्चा की गई है। इसकी वर्णन-शैली ठीक सन्तों जैसी ही लगती है और वह सम्भवतः उसके प्रभाव से प्रभावित भी है। इसी प्रकार हम एक अन्य जैन कवि द्यानतराय (ज० सं० १७३३) की भी निम्नलिखित रचना में इस बात का एक स्पष्ट उदाहरण पाते हैं; :

अब हम अमर भए न मरैंगे ॥
तन कारन मिथ्यात दियौ तज क्योंकरि देह धरैंगे ॥

---

१. 'अध्यात्म पदावली', पृ० ७२-३।
२. 'हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', पृ० १७५।
३. 'अध्यात्म पदावली', पृ० २७२-३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपजै मरै काल तैं प्रानी, तातैं काल हरैंगे।
राग द्वेष जगबंध करत हैं, इनको नाश करैंगे।
देह विनाशी, मैं अविनाशी भेद ज्ञान पकरैंगे।
नाशी जासी हम थिरवासी, चोखे ह्वै निखरैंगे॥
मरे अनन्त वार बिन समझे, अब सब दुख बिसरैंगे।
द्यानत निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरै सुमरैंगे॥४५॥[1]

इस पद को पढ़ते ही हमें कबीर साहब का वह पद स्मरण होता है जिसका आरम्भ 'हम न मरैं मरिहै संसारा, हमकूँ मिल्या जियावन हारा' से होता है।[2] ऐसा ही इसका एक दूसरा पद नीचे लिखे अनुसार है जिसके साथ सन्त रैदास जी के एक पद का आश्चर्यजनक साम्य दीखता है :

ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै मन कितहुँ न जाई॥
× × ×
सो तप तपो बहुरि नहि तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो बहुरि नहिं मरना॥[3]

सन्त रैदास जी का एक पद इस प्रकार मिलता है—

ऐसा ध्यान धरौ बरो बनवारी।
मन पवन दै सुख मन नारी॥ टेक॥
सो जप जपौं जो बहुरि न जपना।
सो तप तपौं जो बहुरि न तपना॥१॥
सो गुरु करौं जो बहुरि न करना।
ऐसो मरौं जो बहुरि न मरना॥२॥[4]

यहाँ पर द्यानतराय दूसरे को उपदेश दे रहे हैं जहाँ रैदास जी अपने विषय में वर्णन कर रहे हैं, किन्तु दोनों ही कवि लगभग एक ही प्रकार की साधना की ओर संकेत करते हैं।

सन्तों एवं जैन कवियों की रचनाओं में पाई जाने वाली इस प्रकार की समानता के कुछ उदाहरण हमें उन्नीसवीं शताब्दी में भी मिलते हैं। पण्डित दौलतराम उसी शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान थे और एक अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने अपने एक पद में इस प्रकार कहा है :

हम तो कबहूँ न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये॥
× × ×
यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये।
'दौल' तजै अजहूं विषयन में, सतगुरु वचन सुहाये॥[5]

---

१. 'अध्यात्म पदावली', पृ० २६१।
२. 'कबीर ग्रन्थावली', पद ४३, पृ० १०२।
३. 'अध्यात्म पदावली', पृ० २६७।
४. 'रैदास जी की वानी', बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९३० ई०, पृ० २६-२७।
५. 'अध्यात्म पदावली', पृ० २३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो संतों की ही वर्णन-शैली का स्मरण दिलाता है। इसी प्रकार इस काल के एक अन्य जैन कवि बुधजन हैं जो नीतिपरक रचनाओं के निर्माण में भी बहुत प्रसिद्ध हैं। ये भी अपने एक पद में कबीर साहब की भाँति कहते हैं :

करलै हो जीव, सुकृत का सौदा कर लै,
परमारथ कारज करलै हो।

× × ×

व्यापारी बन आइयो, नर यव हाट मंझार।
फलदायक व्यापार कर, नातर विपति तयार॥
मोह नींद मां सोवता, डूबौ काल अटूट।
बुधजन क्यों जागौ नहीं, कर्म करत है लूट॥[1]

जैन कवि 'ज्ञानानन्द' की रचना में भी हमें ऐसा ही स्वर सुन पड़ता है जिनकी एक चेतावनी की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

भोर भयो, उठ जागो, मनुवा साहब नाम सँभारो॥टेक॥
सूतां सूतां रैन विहानी, अब तुम नींद निवारो।

× × ×

खिन अर जोतू याद करैगो, सुख निपजैगो सारो।
बैला बीत्यां है, पछतावै, क्यूं कर काज सुधारो॥इ०॥[2]

परन्तु उपर्युक्त प्रकार की अनेक समानताओं के रहते हुए भी, सन्तों एवं जैन कवियों की रचनाओं में बहुत कुछ अन्तर दीख पड़ता है। सन्त कवि जहाँ अधिकतर अशिक्षित और अनभिज्ञ थे वहाँ जैन कवियों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। फलतः दोनों वर्ग वालों की रचनाओं में न केवल परिमार्जित भाषा के प्रयोग का ही अन्तर है, अपितु उनमें वर्ण्यविषय-सम्बन्धी भिन्नता भी आ गई है। जैन कवि जहाँ अपने धर्म-विशेष की मान्यता तथा उसकी पारिभाषिक शब्दावली की ओर भी स्वभावतः आकृष्ट हो पड़ते हैं वहाँ सन्त कवियों में वैसी बात लक्षित नहीं होती। ये अधिक-से-अधिक ऐसे समन्वयवादी ही कहे जा सकते हैं जिनकी भाव-धारा में विविध धर्मों एवं दर्शनों के विचार स्रोत आकर मिल गए हों। इसके सिवाय सन्तों की बानियों में जहाँ किसी अनिर्वचनीय सत्ता की ओर भी संकेत जान पड़ता है वहाँ जैन कवियों के लिए वह वस्तुतः कोई अनुपम आदर्श मात्र ही है। अतएव सन्तों की एक पृथक् परम्परा-सी बन गई है जो जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, सूफ़ी अथवा अन्य किसी भी धर्म व सम्प्रदाय से भिन्न कही जा सकती है।

---

१. 'अध्यात्म पदावली', पृ० २५८।
२. वही, पृ० २७०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के० दोई[1]

जापानी साहित्य : १९२५—१९५५

: १ :

जापानी साहित्य की आधुनिक गतिविधि, जापानी इतिहास की आधुनिक गतिविधि से सम्बद्ध है। १८६८ ई० का मेजि-पुनरुत्थान जापान के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। यहीं से हम रूढ़िग्रस्त व्यवस्थाओं को पीछे छोड़कर १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की व्यापक चेतना ग्रहण करके आधुनिक-युग में प्रवेश करते हैं। १८६७ में मुत्सुहितो सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने पाश्चात्य सभ्यता को जापानी प्रगति की आधार-शिला स्वीकार किय और देश के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सूत्रपात किया। उसने तोगुवाना-वंश के शोगनत्त्व का अन्त करके शासन-सत्ता का केन्द्रीकरण किया और सांस्कृतिक क्षेत्र में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली व विज्ञान को प्रश्रय दिया। यही नहीं, जापान ने अपनी परराष्ट्र-नीति में भी पाश्चात्य साम्राज्यवादिता का अनुकरण किया। अपनी उग्र साम्राज्यवादी आकांक्षाओं के कारण इस छोटे से द्वीप-समूह को अपने विस्तार के अनुपात में जितनी उत्कर्ष-अपकर्ष की विरोधी स्थितियों से गुज़रना पड़ा है, उतनी विषम परिस्थितियों का सामना विश्व के इने-गिने राष्ट्रों को छोड़कर शायद ही किसी अन्य देश को करना पड़ा हो।

लगभग ९० वर्षों की इस राजनीतिक पृष्ठभूमि में पनपा जापानी आधुनिक साहित्य सामयिक परिस्थितियों से अछूता नहीं रह सका। फलस्वरूप इस आधुनिक साहित्य की मूलवर्ती चेतनाएँ भिन्न-भिन्न प्रेरणा-स्रोतों के कारण कभी अलग-अलग प्रवाहित हुई हैं, कभी मिलकर साथ-साथ और कभी उस सन्धि-स्थल से फूटकर फिर अलग-अलग। इस जटिलता के कारण अनेक साहित्यिक धाराओं के बीच विभाजन-रेखाओं का सही निर्देश कर सकना असम्भव चाहे न हो, पर कठिन अवश्य है। फिर भी अध्ययन की व्यावहारिक सुविधा के दृष्टिकोण से उन उपधाराओं का पृथक्-पृथक् निर्देश करना कदाचित् अनिवार्य समझा गया। इस आधुनिक-साहित्य का श्रीगणेश मेजि-पुनरुत्थान के समानान्तर ही होता है, अतएव १८६८ ई० उसकी प्रारम्भिक तिथि स्वीकार की गई है। यह प्रारम्भिक काल लगभग १८ वर्ष तक (१८६८ ई० से १८८६ ई०) चलता रहा। इसके पीछे लगभग ३५ वर्ष के काल-विस्तार में अपनी विशिष्ट

१. श्री के० दोई टोकियो विश्वविद्यालय में उर्दू और हिन्दी के प्राध्यापक हैं। पिछले दो वर्ष से वह प्रयाग विश्वविद्यालय से सम्बद्ध होकर आधुनिक हिन्दी साहित्य का अध्ययन कर रहे थे। जापान वापस जाने के पूर्व उन्होंने 'आलोचना' के लिए पिछले तीस वर्षों के जापानी साहित्य की यह परिचयात्मक रूपरेखा हिन्दी में ही प्रस्तुत की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्तियों के साथ यथार्थवादी-काल (१८८७ ई०—१८९६ ई०), रोमाण्टिक काल (१८९७ ई० —१९०५ ई०), प्रकृतवादी काल (१९०६ ई०—१९११ ई०), सौन्दर्यवादी काल (१९११ ई०—१९१४ ई०), आदर्शवादी काल (१९१४ ई०—१९१८ ई०) और बुद्धिवादी काल (१९१८ ई०—१९२४ ई०) क्रमशः आवर्तित हुए। शेष तीस वर्षों की परिधि में साम्यवादी और कलावादी काल (१९२५—३५), युद्धकालीन साहित्यिक काल (१९३५ ई०—१९४५ ई०) और युद्धोत्तर साहित्यिक काल (१९४५ ई० से आगे) गिने जाते हैं। इस वर्गीकरण से स्पष्ट ही ज्ञात होगा कि इसमें वैज्ञानिक समीचीनता नहीं है, कामचलाऊपन भले ही हो।

प्रस्तुत लेख में बाद के केवल ३० वर्षों के जापानी साहित्य पर विचार करना ही अभीष्ट है, क्योंकि आधुनिकतम साहित्यिक वातावरण और प्रवृत्तियों का बोध करने के लिए इतनी ही पृष्ठभूमि यथेष्ट होगी। इतनी पृष्ठभूमि इसलिए भी आवश्यक है कि पिछले खेवे के जिन कलाकारों ने युगजनित परिस्थितियों की वजह से उत्पन्न हो गए साहित्यिक गतिरोध में अपनी क़लम बन्द कर दी थी, वे आज अपनी उन्हीं पुरानी प्रवृत्तियों के साथ सक्रिय होकर साहित्य-प्रणयन कर रहे हैं।

: २ :

(१) साम्यवादी व कलावादी प्रवृत्तियों का काल (१९२५–१९३५)

क—साम्यवादी साहित्यिक धारा—तोगुवाना-वंश के शोगुनों (१६०३ ई० से १८६८) ने विदेशी सम्पर्क को प्रोत्साहन नहीं दिया था। फलतः अन्य देशों से सम्बन्ध-विच्छेद और एकान्तवास (Isolation) लगभग १८५३ ई० तक चलता रहा, किन्तु यह एकान्तवास जब एक बार टूटा तो टूटता ही चला गया और जापान विश्व के सभी प्रगतिशील राष्ट्रों के सम्पर्क में आने लगा। १९०४ ई० में जापान ने रूस जैसे विशाल राष्ट्र को पराभूत करके अपनी साम्राज्यवादी शक्ति को और भी गहरी नींव दी। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से जापान रूस से प्रभावित होने लगा और साम्यवादी धारा का प्रभाव अनिवार्यतः साहित्य पर भी पड़ा। साहित्य में इस विचारधारा को १९२१ ई० में प्रकाशित मासिक-पत्र 'ताने माकुहिता' (बीज बोने वाला) से बड़ा प्रश्रय मिला। साम्यवादी लेखकों की रचनाएँ बराबर इसमें प्रकाशित होती रहीं। तीन वर्ष बाद १९२४ ई० में एक और दूसरे मासिक-पत्र 'बुन्गे सेन् सेन' (साहित्य-रणक्षेत्र) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। किन्तु १९२८ ई० में साम्यवादी लेखक दो गुटों में विभक्त हो गए—एक गुट था 'साहित्य-रणक्षेत्र' में लिखने वालों का, जिन्होंने 'मजदूर व किसान-कलाकार-समिति' की स्थापना की, और दूसरा वर्ग था 'रण-पताका' में लिखने वाले लेखकों का। ये लेखक प्रायः साहित्य व राजनीति के पारस्परिक सम्बन्ध, साहित्य और उसका वस्तु-शिल्प, साहित्य और जन-साधारण के लिए उसकी प्रेषणीयता आदि समस्याओं पर विचार-विमर्श करते थे। इन लोगों की विचार-धारा जोर पकड़ती गई। किन्तु १९३१ के लगभग सरकारी हस्तक्षेप और दमन-नीति के फलस्वरूप उसका विकास कुण्ठित हो गया और इस वर्ग के अधिकांश लेखक सामाजिक यथार्थवाद छोड़कर शुद्ध कलावादी हो गए।

ख—कलावादी साहित्य-धारा—इस साहित्यिक धारा की पार्श्व-भूमि में नवचेतनावाद तो जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकृत हुआ और नवकलावाद उसकी अभिव्यंजना-शैली के रूप में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवचेतनावाद दृष्टिकोण से प्रभावित लेखकों ने पहले काल के प्राकृतवादियों या नवयथार्थवादियों के इतिवृत्तात्मक विवरणों के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने बुद्धि और चेतना के माध्यम से अनुभूत जीवन को बिलकुल नई शैली में व्यक्त करने का प्रयास किया। इस शैली का एक उदाहरण देखिए :

"दोपहर वक़्त। मुसाफ़िरों से खचाखच भरी डाकगाड़ी पूरी रफ़्तार से दौड़ रही थी। रास्ते के छोटे-छोटे स्टेशन इस तरह उपेक्षित होते जाते थे, जैसे रास्ते के ढेले-पत्थर।"

नवकलावाद के लेखकों ने साम्यवाद का विरोध किया। तड़क-भड़क, नागरिक-जीवन आदि को आधुनिक जीवन की अनिवार्यताओं के रूप में स्वीकार किया।

कविता :

इस काल में बोल-चाल की भाषा में मुक्त छन्दों की कविता का पूर्ण विकास हुआ। पूर्ववर्त्ती काल की कविता की सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि वह आसपास के फैले जगत् से काव्य-वस्तु का चयन करके उसे सरल भाषा के माध्यम से सीधी-सादी अभिव्यक्ति दे देती थी। किन्तु इस काल के कवियों ने इस प्रवृत्ति का बहिष्कार किया। उन्होंने समष्टि की सामान्य रेखा प्रस्तुत करने में ही कवि-कर्म की इतिश्री नहीं समझी। इससे आगे बढ़कर व्यक्ति की गहराइयों में जाकर और व्यक्तिगत विशिष्टताओं को उभारकर चित्रित करने को उन्होंने अपना श्रेय माना। विशेषकर होरिगुचि दाइगाकु के अनूदित काव्य-संग्रह 'चाँद के नीचे एक समूह' ने उस काल की कविता पर गहरा प्रभाव डाला।

इस काल के प्रसिद्ध कवियों में ओगिहारा साकुतारो (१८८८ ई०—१९४२ ई०) और मियाजावा केन्जि (१८९६ ई०—१९३३ ई०) के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ओगिहारा साकुतारो ने आधुनिक काव्य को परमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया और इस कारण उसका विशिष्ट स्थान है। उसकी कविता की विशेषता यह है कि बोल-चाल की भाषा को संगीतात्मक तत्त्वों से संयोजित करके जीवन की गहन स्थितियों की व्यंजना की गई है। मियाजावा केन्जि अन्य लेखकों से अलग अपने गाँव में रहकर कविताएँ और बच्चों के लिए कहानियाँ लिखा करता था। उसका दृढ़ विश्वास था कि जब तक संसार सुखी न हो जायगा, तब तक कोई भी व्यक्ति वस्तुतः सुखी नहीं हो सकता। इस स्वस्थ विचार-धारा से पोषित उसकी रचनाओं में पर्याप्त बल है।

यह तो मुक्त छन्द की कविताओं का जिक्र रहा। इसके अतिरिक्त 'वाका' कविताओं के क्षेत्र में भी कुछ प्रतिभाशील कवियों के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। भासाओका शिकि (१८६७ ई०—१९०२ ई०) की आरम्भ की गई यथार्थवादी कविता का काफी प्रचार हुआ, यद्यपि साम्यवादी और अन्य विचार-धाराओं से प्रेरित कविताएँ भी होती रहीं। किन्तु अपेक्षाकृत यथार्थवादी कविता ही सर्वप्रिय रहीं। शियाकि आकाहिको (१८७६ ई०—१९२६ ई०) ने 'स्केच' को एक नये अर्थ में ग्रहण किया और उसे यथार्थवादियों के मूल सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया। उसकी व्याख्या थी कि स्केच बाह्य-विवरण का पर्याय न होकर वस्तुओं एवं दृश्यों के अन्तर्भूत जीवन को पकड़ने का माध्यम है। उसकी कविता का एक उदाहरण देखिए :

मकागायाकु यूयंकेज़ोरानो शितानिशिते
कोरमूतोसुरु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उमिनो शिजुकेसा

"चमचमाते प्रकाश की, सूर्यास्त की लाली के नीचे, पानी जमने जा रहा है। झील में शान्ति !"

एक दूसरे कवि हैं साइतो मोकिचि (१८८२ ई०–१९५३ ई०)। ये भी यथार्थवादी थे। परन्तु स्केच के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण आकाहिको के दृष्टिकोण से थोड़ा भिन्न था।

इनके अतिरिक्त त्सुचिया बुम्मे और हसाई कुनिको के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन यथार्थवादियों के साथ-साथ १९२८ ई० के उपरान्त साम्यवादी कवि भी विशेष रूप से सक्रिय रहे।

'हाइकु' के क्षेत्र में भी यासाओका शिकि का गहरा प्रभाव पड़ा। शिकि के शिष्यों ने, विशेषकर ताकाहामा क्योशि ने, 'होतोतोगिसु' (कोयल) मासिक प्रकाशित करके हाइकु-परम्परा को जीवित रखा।

: ३ :

(२) युद्धकालीन साहित्य (१९३५ ई०—१९४५ ई०)

मंचूरिया-युद्ध के अनन्तर राज्य की दमन-नीति के शिकंजे ने साहित्य को भी जकड़ लिया। साम्यवादी साहित्य दबाया जाने लगा। यही नहीं, धीरे-धीरे उदार मानवतावादी विचार-धारा पर भी नियन्त्रण लग गया। लेखकों के परिषदों को मिलाकर 'जापानी साहित्य देश-सेवा-संघ' की स्थापना हुई और लब्धप्रतिष्ठ प्रतिभावान् लेखकों को युद्ध की रिपोर्टें लिखने के लिए रण-क्षेत्र भेज दिया गया। जो लेखक प्रजातन्त्र विचार-धारा के पोषक थे और जिन्हें युद्ध में सहयोग देना मंजूर नहीं था, उन्हें अपनी पुस्तकें प्रकाशित कराने के अवसर नहीं दिये गए। प्रकाशन-व्यवस्था की सुविधाओं के छिन जाने के कारण साहित्यिक गोष्ठियों की ओर लेखकों का ध्यान गया, किन्तु उनके द्वारा कठिनाई का आंशिक परिहार ही हो सका। यह एक बड़ा सबल कारण था, जिससे उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाओं का सृजन अवरुद्ध हो गया।

उपन्यास

अधिकांश साम्यवादी लेखकों ने अपनी विचार-धाराओं को तिलांजलि दे दी। कुछ साम्यवादी लेखक तो बग़ैर किसी हिचक के राष्ट्र-प्रेमी लेखक बन गए, किन्तु इसके विपरीत कई ऐसे कट्टर साम्यवादी साहित्यकार थे, जिनके लिए अपनी बद्धमूल धारणाओं को उखाड़ फेंकना इतना आसान था। ऐसे लेखकों में शियाकि केन्साकु (१९०६ ई०—) का नाम सबसे पहले आता है। 'जीवन की खोज' (१९३७ ई०) इसका प्रसिद्ध उपन्यास है, जिसका नायक नागरिक जीवन की उमस-घुटन से ऊबकर गाँव में जाकर बस जाता है और पितर लोगों का पेशा काश्त-कारी अपनाता है। किन्तु जब वह बारीकी से ग्रामीण परिस्थितियों का अवलोकन करता है, तो वहाँ के जीवन से भी उसे पूर्ण तुष्टि नहीं मिल पाती। इसके बावजूद वह अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति से कठिनाइयों को सहकर स्वस्थ जीवन व्यतीत करता है।

कुछ ऐसे भी उपन्यास-लेखक थे, जिन्हें सैनिक या सामरिक रिपोर्ट-लेखकों की हैसियत से रण-क्षेत्र में जाना पड़ा था। इनके उपन्यासों की रचना युद्धकालीन वातावरण और परिस्थि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तियों की पीठिका पर हुई है। इस श्रेणी की उपन्यास-रचनाओं में हिनोआशिहेइ का 'गेहूँ और सिपाही', निवाहु मिओ का 'सेनादल: जो वापस न आया', 'समुद्रयुद्ध' और हिशकावा तात्सुजो का 'बुकान का युद्ध' विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। जापानियों ने १६३१ ई० में ही मंचूरिया हड़प लिया था और वे वहाँ की उपज-वृद्धि के लिए भी उद्योगशील थे। इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर भी कई उपन्यासों की रचना हुई, जिनमें 'उपजाऊ ज़मीन' अधिक लोकप्रिय हुआ।

मानवतावादी विचार-धारा को तरजीह देने की गरज़ से भी कुछ उपन्यासों की सृष्टि हुई और कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए।

कविता

१६२८ ई० से ही अतियथार्थवादियों का मासिक-पत्र 'कविता और उसके सिद्धान्त' प्रकाशित हो रहा था। १६३३ के आसपास अतियथार्थवाद और साम्यवाद के विरोध में बुद्धि-वादियों का मासिक-पत्र 'चार ऋतुएँ' प्रकाशित होने लगा। 'कविता और उसके सिद्धान्त' नामक पत्र की विशेषता यह थी कि इसके कवि गद्य में ही कविताएँ लिखते थे। वस्तुस्थिति यह थी कि अतियथार्थवादियों की कविताओं में दुरूहता थी और साम्यवादी रचनाओं में शालीनता का अभाव। 'चार ऋतुएँ' के लेखकों ने उपयुक्त काव्यधाराओं की भर्त्सना की और बुद्धि व अनुभूति को समन्वित करने का प्रयास किया। इन कवियों में हागिवाश साकुतारो, मुरो साइसेइ, होरि तात्सुओ, मियोशितात्सुजि आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

इस काल में 'वाका' कविताओं का प्रणयन और प्रचार अपेक्षाकृत अधिक रहा। मासाओका ने यथार्थवादी कविता के पक्ष में 'वाका' का विरोध किया था, किन्तु किताहारा हाकुशू ने अपना पत्र 'तामा' प्रकाशित किया और नई वाका का प्रारम्भ किया। परम्परा के प्रति श्रद्धा की भावना ने वाका कविताओं के प्रचार में काफी योग दिया, परन्तु फिर भी उत्कृष्ट कोटि की वाकाएँ नहीं लिखी गईं। रण-क्षेत्र के सैनिकों ने भी वाकाओं की रचना की। उनकी वाकाओं में अच्छी रचनाएँ मिलती हैं :

चीन के लोग
खेतों में लगाते हैं धान
यह देखकर वतन की याद आती है
मैं भी हूँ किसान

: ४ :

युद्धोत्तर साहित्यिक काल

युद्ध के दिनों में अनेक ऐसे वृद्ध लेखक थे, जिन्होंने राजनीतिक कारणों से अपनी प्रतिभा का नैसर्गिक स्फुरण न कर सकने की मजबूरी में साहित्य-रचना बन्द कर दी थी। किन्तु युद्ध समाप्त होते ही इनकी सुप्त प्रतिभा एक बार फिर से सजग हो उठी। इन लेखकों के साथ-साथ साम्यवादी लेखक, रण-क्षेत्र के रिपोर्ट-लेखक और बहुतेरे नवयुवक भी साहित्य-क्षेत्र में ज़ोर-शोर के साथ आ गए। इनमें ऐसे लेखक भी थे, जिन्होंने युद्ध के फलस्वरूप जर्जर हो गए समाज पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशी साहित्य के विद्वान् लेखकों और साम्यवादी साहित्यकारों का एक ऐसा वर्ग भी था जिसका विचार यह था कि परम्परावादी वाका-हाइकु रचनाएँ साहित्य के विकास को गतिमान करने के बजाय उसकी प्रगति में अवरोध पैदा करती हैं। अतएव उन्होंने इन दकियानूसी काव्य शैलियों को छोड़ने की सलाह दी और उन्हें प्रथम श्रेणी का साहित्य मानने से इन्कार कर दिया। सौभाग्यवश अब इस पक्षपातपूर्ण धारणा का निराकरण हो गया है और सभी क्षेत्रों में पुनर्विकास के स्वस्थ लक्षण परिलक्षित हो रहे हैं।

उपन्यास

पिछले खेवे के वृद्ध उपन्यास-लेखकों में नागाइ काफू, शिगानाओया, मासामूने हाकुयो, तानिजाकि ज्युन्इचिरो, मुशानोकोजि सानेआत्सु, आदि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

नागाइ काफू (१८७९ ई०—) और तानिजाकि ज्युन्इचिरो सौन्दर्यवादी-काल के लेखक हैं। नागाई की विशेष अभिरुचि एदो-काल के साहित्य में है। उसने अपनी रचनाओं में नागरिक-जीवन और वेश्याओं के कुत्सित जीवन को चित्रित करके आधुनिक समाज की व्यवस्थाओं और रीति-रिवाजों की खिल्ली उड़ाई है। उसकी युद्धकाल की डायरी लोकप्रिय कृति है।

तानिजाकि ज्युन्इचिरो (१८८६—) की कृतियाँ अस्वस्थ ऐन्द्रिक वृत्तियों पर आधारित हैं, इसीलिए उनमें अजीब-सा सम्मोहन है। अपनी रचनाओं की इन्हीं अश्लील प्रवृत्तियों के कारण उसे राक्षसी मनोवृत्तियों वाला लेखक क़रार दिया गया। उसका सर्वप्रथम उपन्यास 'गोदना' है। इसका नायक एक सुप्रसिद्ध गोदना गोदने वाला है जो किसी सुन्दरी के शरीर पर गोदना चित्रित करना चाहता है। लम्बी तलाश के अनन्तर एक मनचाही सुन्दर युवती मिल जाती है, जिसकी पीठ पर वह सहर्ष मकड़े का गोदना चित्रित करता है।

तानिजाकि ने प्राचीन जापानी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है और 'गेनजिमोनो गातारि' का आधुनिक भाषा में अनुवाद किया है। युद्ध के बाद प्रकाशित हुए 'सासामे युकि' और 'शोशो शिगेमोतो नो हाहा' (सेनापति शिगेमोतो की माता) विशेष लोकप्रिय हुए।

शिगा नाओया (१८८३—) मानवतावादी और आदर्शवादी उपन्यास-लेखक व कहानीकार हैं। इन्होंने मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति अटूट श्रद्धा के बावजूद प्रकृति की उपेक्षा नहीं की है और इनकी रचनाओं में कृत्रिमता का अभाव है। महायुद्ध के उपरान्त उनकी एक छोटी कहानी 'कबूतर' बेहद पसन्द की गई।

मुशानोकोजि सानेआत्सु (१८८५—) आदर्शवादी उपन्यास-लेखक व नाटककार हैं। उनकी मान्यता है कि व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास ही मनुष्य की सबसे बड़ी आकांक्षा है और इसी विकास के फलस्वरूप आदर्श एवं सुखी जगत् की सृष्टि सम्भव है। युद्ध के बाद लिखे गए 'जिनूरि महाशय' और 'मूर्ख' इनके सफल उपन्यास हैं।

सातोहारुओ (१८९२—) उपन्यासकार के साथ-साथ कवि भी हैं और उनकी रचनाओं में बुद्धि व कल्पना का कलात्मक समन्वय हुआ है। युद्ध के उपरान्त प्रकाशित 'धूप की वर्षा' एक 'फैन्टेसी' है, जिसमें काव्य-तत्त्व भी है और कल्पित आख्यान भी।

वर्तमान युग के अन्य प्रसिद्ध लेखक हैं निवा हुमियो, इशिकावा तात्सुजो, इशिज़ाका मोजिरो, अकावा हिरोयुकि, कावाबाता यासुनारि, ताकेदा ताइजुन और सेरिसावा कोजिरो, साका-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुचि अनूगो, तामुरा ताइजिरो, फुनाबाशि सेइचि, इतो से, यासुमि शिजुए आदि आदि। कुछ लेखक अपनी रचनाओं में सम्भ्रान्त समाज को, अपनी वितृष्णा को परिहासात्मक पद्धति से व्यक्त करते हैं और उस अन्तर्व्यापी असन्तोष से राहत पाने के लिए ही ऐन्द्रिक सौन्दर्य और यौन-तुष्टि की शरण में जाने का समर्थन करते हैं।

इन लेखकों की रचनाओं में से गत वर्ष प्रकाशित कुछ पुस्तकों का परिचय निम्न है।

इशिकावा तात्सुजो का उपन्यास 'पाप का आनन्द' उक्त प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। इस उपन्यास का नायक किसी आफिस का साधारण कर्मचारी है। वह एक विधवा के मकान के एक फ्लैट में अपनी पत्नी और चार महीने के बच्चे के साथ रहता है। पति-पत्नी एक-दूसरे से उकता गए हैं। पति चाहता है कि कोई घटना घटित होकर उसके जीवन की एकस्वरता (monotony) को तोड़ दे। इसी उद्देश्य से वह छोटे-मोटे अनुचित कार्य करना शुरू कर देता है। सबसे पहले अपने दफ्तर की लेडी-क्लर्क से यौन-सम्बन्ध जोड़ता है और जब उसके विवाह का अवसर आता है तो धमकाकर ४०) इस शर्त पर ऐंठ ले जाता है कि रुपये न मिलने पर वह उसके साथ अपने यौन-सम्बन्ध की कलई खोल देगा। मकान मालकिन जब मकान छोड़ने को कहती है तो मकान-मालकिन को रो-धोकर धोखा देता है और फिर उसके साथ भी यौन-सम्बन्ध स्थापित करता है। जब उसकी पुरानी प्रेमिका यासुयो अपने पति के विपत्ति में फँस जाने पर धन की सहायता माँगती है, तो नायक के मन में एक बार उत्कट अभिलाषा जागती है कि किसी तरीके से उसे धन की सहायता देकर फिर अवैध यौन-सम्बन्ध जोड़ा जाय। नायक के मित्रों में वाकि-जाका ही इस काबिल है जो उसे धन की सहायता दे सकता है, किन्तु वह रुपये देने से साफ़ इन्कार कर देता है। असफल होकर नायक उसकी हत्या करता है और पकड़ा जाता है। उसने हत्या रुपये के लोभ से नहीं की थी वरन इसलिए कि वह और भी बड़ा पाप करना चाहता था। वह शीघ्र ही अपना पाप स्वीकार कर लेता है, क्योंकि जिन लोगों को उसने बहुत हानि पहुँचाई थी वही उस पर बहुत सहानुभूति दिखा रहे थे; इस तरह नायक का पाप का आकर्षण खो गया।

अकावा हिरोयुकि ने अपने उपन्यास 'राक्षस का छोड़ा धन' में परमाणु-बम की विभीषिकाओं को उभारकर चित्रित किया है। नायक बम-दुर्घटना के ८ वर्ष बाद रिपोर्ताज लिखने के उद्देश्य से हिरोशिमा जाता है। उसका अनुमान था कि इन ८ वर्षों के दरमियान में हिरोशिमा फिर से बस चुका है; अब बम का असर देखना कठिन होगा, पर परमाणु-बम के अवशिष्ट प्रभावों को देखकर उसका कलेजा काँप उठता है। उसका चचेरा भाई बीमार हो जाता है जिसका कारण अयोद है; सहसा चाची के चेहरे में सूजन आ जाती है और अन्त में उसका प्रिय पुत्र भी बीमार होकर चल बसता है। ताकेदा ताहजुन के 'हवा से बीज फैलाने वाला फूल' नामक उपन्यास में अवैध यौन-सम्बन्धों की एक लम्बी कड़ी मिलती है। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं—नायक, उसकी पत्नी मिस्तुए, मिस्तुए का भाई मामोर, मामोर की प्रेमिका मोमोयो, नायक का मित्र और उसकी पत्नी का पुराना प्रेमी मितामुरा। मोमोयो अपने प्रेमी के अतिरिक्त नायक और मितामुरा से भी काम-सम्बन्ध रखती है और दूसरी ओर नायक की पत्नी भी कभी-कभी चोरी से वेश्या-वृत्ति में लिप्त हो जाती है। इन यौनजन्य विकृतियों की वजह से सारे उपन्यास का वातावरण नैतिक अनाचार से परिव्याप्त है। इस उपन्यास का एक राजनीतिक पहलू भी है। मामोर साम्यवादी है, उसकी प्रेमिका अमरीकी कारखाने में काम करती है। मिता-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुरा अराजकतावादी (terrorist) है और उसका सम्पर्क पूँजीवादी व साम्यवादी दोनों वर्गों से है। नायक स्वयं चीनी संस्कृति के अध्ययन-मण्डल का सदस्य है और उसकी सहानुभूति भी चीन के साथ है, यद्यपि पहले वह चीन पर आक्रमण करने वालों के वर्ग का था। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से इनके पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त उलझे हुए हैं। उपन्यास में अश्लीलता अवश्य है, किन्तु इस झूठी कहानी में वास्तविक परिस्थितियों की टोह मिल सकती है।

मिशिया युकिओ ने अपने उपन्यास 'भेस बदले एक Confession' में शैशवावस्था से यौवनावस्था तक की यौन-विकृतियों का चित्रण किया है। युद्धोत्तरकालीन लेखकों में यह अपेक्षाकृत अधिक आशावादी है। उसका दृष्टिकोण भी अन्य लेखकों से भिन्न है। जब कि दूसरे लेखकों के मस्तिष्क से युद्धजन्य संहार की निराशा अभी पूरे तौर से मिट नहीं पाई है, वह दृढ़ विश्वास के साथ कहता है कि हम नवयुवकों का हृदय ऐसी विभीषिकाओं को सहने का आदी हो गया है; वे हमें डरा-धमका नहीं सकतीं।

अबे त्सुयाको—एक कहानी-लेखिका—का नाम भी उल्लेखनीय है। उसने अपने 'सम्बन्ध' नामक कथा-संग्रह में दाम्पत्य जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है और नारी के सौन्दर्य व उसके स्वभाव की करुणा-ममता को उभारकर इस प्रकार चित्रित किया है जिससे आज की निराशा में लड़खड़ाते इन्सान को जीवन के प्रति आस्था की मजबूत बल्ली मिल सके।

योशिकावा एजि और मुराकामि गेन्जो सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। आज के अधिकांश नये लेखक यथार्थवाद और साम्यवाद के विरोध में एक ऐसी विचार-धारा को जन्म देने में प्रयत्नशील हैं, जो स्वस्थ मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित हो। अभी इस साहित्यिक अभियान में सफलता नहीं मिल सकी है। वैसे कुछ स्त्री लेखिकाएँ भी जर्जर मानवता के पुनरुत्थान और उसके ऊर्ध्वमुखी विकास की उपलब्धि के लिए सक्रिय हैं।

कविता

पुराने कवियों में ताकामुरा मित्सुतारो, सातो हारुओ, मियोशि तात्सुजि, कुसानो शिनपेइ आदि हैं। कातो शिनइचि ने 'सॉनेट' के माध्यम से भी कुछ काव्य-प्रयोग किये हैं और किता-गावा हुयुहिको ने महाकाव्य की भी रचना की है। माबुचि मिएको नाम की एक कवयित्री ने रम्य प्राकृतिक दृश्यों के अत्यन्त सुन्दर चित्र उतारे हैं।

: ५ :

उपर्युक्त विवरण विस्तारपूर्वक अधुनातन जापानी साहित्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण नहीं करता, किन्तु उनकी एक झलक अवश्य देता है। हमारा आलोच्यकाल (१९२५-१९५५) ऐसा है जिसमें लगभग समस्त एशिया मिलते-जुलते हुए सांस्कृतिक प्रभावों, आन्दोलनों और प्रवृत्तियों से उद्वेलित रहा है। ढूँढ़ने पर हिन्दी, जापानी, चीनी और अन्य आधुनिक एशियायी साहित्यों में समकालीन और समान प्रवृत्तियाँ मिल जायँगी और हो सकता है कि यूरोपीय साहित्य की तरह आधुनिक एशियायी साहित्य भी एक दिन एक ऐसे इतिहास का विषय बने जो उसकी समरूपता और एकसूत्रता सामने रख सके। इस दृष्टि से लेखक को आधुनिक हिन्दी और जापानी साहित्य में कई समानताएँ मिली हैं, पर उनका विवेचन इस निबन्ध की परिधि में नहीं आता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

विचारार्थ प्रस्तुत आलेख[1]

साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व

रचनात्मक दृष्टि और स्वतन्त्र मानस से सम्पन्न कोई भी कलाकार यह नहीं मान सकता कि साहित्य-रचना उद्देश्यहीन या निरर्थक सृष्टि है। ऐसे कलाकार के लिए वह अनिवार्यतया एक गम्भीर दायित्व से समन्वित प्रक्रिया है। यह दायित्व वस्तु और शिल्प दोनों स्तरों पर साहित्य को मर्यादित करता है। वह मर्यादा कलाकार की आत्मा के बाहर किसी धर्मसत्ता, राजसत्ता या अर्थसत्ता से उद्भूत या निश्चित होती है, ऐसा हम नहीं मानते। हमारा दृढ़ विश्वास है कि वह मर्यादा कलाकार के संयम और स्वातन्त्र्य से नियोजित होती है और उसका केन्द्र-बिन्दु सम्पूर्ण मानव है। मानव की पूर्णता की रागात्मक और क्रमशः गाढ़तर होती हुई उपलब्धि और उसका सम्प्रेषण ही साहित्य का वास्तविक दायित्व है।

इस दायित्व का निर्वाह सरल कभी नहीं रहा है। और ऐसे युग में, जब कि वैज्ञानिक आविष्कार की प्रगति इतनी तीव्र हुई है कि उसके साथ जो आन्तरिक आत्मिक उन्मेष होना चाहिए—उससे मिलने वाली शक्ति को स्वायत्त करने के लिए जो नैतिक सामाजिक विकास होना चाहिए—वह पिछड़ा रह गया है, कलाकार के लिए इसका निर्वहन और भी कठिन हो गया है। इस स्थिति को हम एक चुनौती समझते हैं और उसके सम्मुख विचलित होना या संकीर्णता का आश्रय लेना अपनी मानववादी आस्था का अपमान समझते हैं। हम मानव की प्रतिष्ठा और मर्यादा को अनाहत और अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। हम स्पष्ट घोषित करना चाहते हैं कि जो भी राजनीतिक मतवाद, साहित्यिक सम्प्रदाय या जीवन-

१. पिछले मास प्रयाग में नई और पुरानी पीढ़ी के तथा सभी विचार-धाराओं के कवियों, कथाकारों, समीक्षकों तथा चिन्तकों के एक वृहत् सम्मेलन में आयोजित (जो परिमल, प्रयाग द्वारा था) यह आलेख विचारार्थ प्रस्तुत किया गया था और जो उपस्थित न हो सके थे, उनकी लिखित सम्मतियाँ मँगाई गई थीं। लगभग ६० सम्मतियों में से चुनकर विभिन्न दृष्टियों को प्रस्तुत करने वाली कुछ सम्मतियाँ, आयोजकों के सौजन्य से, हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टियाँ मनुष्य को इतिहास का निर्माता या नियन्ता न मानकर उनकी नियति को पूर्व-निर्धारित या पूर्वादिष्ट मानती हैं वे निहित स्वार्थ या कायरता के कारण मनुष्य के प्रति विश्वासघात करती हैं, उसकी आस्था का क्षरण करती हैं।

मनुष्य का मौलिक विवेक निरन्तर नये मानवीय प्रतिमानों को विकसित करता हुआ इतिहास को मनोवांछित दिशा में मोड़ता आया है। मानववादी कलाकार होने के नाते हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर उसके इस विवेक की स्वतन्त्र और अपरिक्रान्त सत्ता बनाये रखने के लिए कृतसंकल्प हैं।

हम मानते हैं कि मानव-अस्तित्व का बुनियादी प्रतिमान और अन्य प्रतिमानों का स्रोत उसका स्वातन्त्र्य है। जिस अनुपात में मनुष्य सीमाओं और विवशताओं से बँधा रहता है, उसी अनुपात में वह अपूर्ण रहता है। जीव-विकास की परम्परा में मनुष्य पहला स्वाधीन प्राणी है। जैविक स्तर पर यह स्वतन्त्रता अपने को परिस्थिति के अनुकूल न ढाल-कर, परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने की स्वाधीनता है। नैतिक स्तर पर वह इस प्रचेष्टा को कुछ बुनियादी प्रतिमानों द्वारा नियमित और संयमित करने की सतर्कता है। आध्यात्मिक स्तर पर यह स्वयं अपने प्रति अर्थात् संघर्ष के, संघर्ष के उद्देश्य के और संघर्ष को मर्यादित करने वाले प्रतिमानों के प्रति, जागरूकता और उत्तरदायित्व का बोध है।

प्राक् मानव-समाज अथवा वनौकसयूथ एक प्रारम्भिक जैविक आर्थिक संगठन था। यूथ सभ्यता से बढ़कर समाज सभ्यता तक आना स्वाधीनता का एक बहुत बड़ा सोपान पार कर आना था। मानव के विकास की सम्भावनाएँ असीम हैं यह मानना अनिवार्य है।

मानसिक विकास और ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ मानव परिस्थितियों के साथ नये और अधिक संगत सम्बन्ध स्थापित करता आया है। सृष्टि के आदिकाल से आज तक उसके इस चैतन्य विकास की परम्परा अक्षुण्ण रही है। प्राक्कालीन धर्म विश्वास आज यथावत् मान्य नहीं हैं, किन्तु अपने समय में वे निराधार अन्ध-विश्वास नहीं थे। वरन् प्रवर्तनकालीन वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित उपपत्तियाँ थे। नया ज्ञान-विज्ञान, इन उपपत्तियों को परिवर्तित, संशोधित या उन्मूलित करता है। ज्ञान-विकास के साथ-साथ धर्म-सुधार इस बात का प्रमाण है कि मानव सर्वदा स्वाधीनता की ओर उन्मुख है और यह उन्मुखता सहज और स्वाभाविक है, यद्यपि देश-काल की मर्यादाओं के कारण इस प्रगति का पथ सदैव सीधा नहीं रहा है और कई प्रयत्न दिग्भ्रष्ट भी होते रहे हैं।

ऐसी भ्रामक प्रवृत्तियाँ आज भी क्रियाशील न हों ऐसा नहीं है। एक ओर ह्रासोन्मुखी पूँजीवादी सत्ताएँ ऐसे दर्शन-सम्प्रदाय और व्यवस्थाएँ विकसित कर रही हैं जो मानव को पशुधर्मी या वस्तुधर्मी बनाने या सिद्ध करने में संलग्न हैं, दूसरी ओर निरे बल पर आधा-रित कुछ राज सत्ताएँ मानव के विवेक-स्वातन्त्र्य को कुण्ठित और पदाक्रान्त कर वापस यूथ सभ्यता की ओर हाँक ले जाने को सन्नद्ध हैं। एक से हम स्पष्ट कहना चाहते हैं कि मनुष्य का श्रम और कौशल पण्य-वस्तु न होकर आत्मोपलब्धि का साधन है। और दूसरे से हम कहना चाहते हैं कि मानवी उद्योग अल्प समय के लिए लक्ष्य-भ्रष्ट या कुछ दूर तक पथ-विमुख हो सकता है, पर विकास का जो सोपान वह पार कर आया है उस पर उसे लौटा नहीं ले जाया जा सकता। मानव की बोधिसत्वता उससे अलग नहीं की जा सकती और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए उसकी सम्भावनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मानवीय स्वाधीनता मौलिक प्रतिमान है, अतः मानवीय नैतिकता का आधार यही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाधीनता चाहता हुआ दूसरों की समान स्वाधीनता की कामना करे।

साहित्य के प्रतिमान मूल मानवीय प्रतिमानों से भिन्न या उनके विरोधी नहीं हो सकते। अतएव स्वाधीनता साहित्य का भी मौलिक प्रतिमान है। साहित्य के द्वारा उस स्वाधीनता को निरन्तर विकसित करते चलना, मानव को स्वाधीनतर बनाते चलना, उसकी असीम सम्भावनाओं को परात्पर उपलब्ध कराते चलना साहित्यकार का दायित्व है। यह दायित्व उसके कर्म में से ही उद्भूत होता है, किसी बाहरी संगठन या सत्ता द्वारा उस पर आरोपित नहीं किया जाता। आस्था से प्रेरित और स्वेच्छा से किया गया कर्म ही स्वाधीनता को आगे बढ़ा सकता है, दूसरे के द्वारा आदिष्ट कर्म नहीं। व्यक्ति का विवेक व्यक्ति का दायित्व है, जिसे किसी दूसरे में न्यस्त नहीं किया जा सकता।

मानव के विकास की सम्भावनाएँ असीम हैं : ऐसा सम्भव है कि देशकाल अथवा परिस्थितिगत कारणों से कुछ ने उन सम्भावनाओं में से अधिक को आत्मसात् कर लिया हो, और कुछ अभी उनकी ओर अग्रसर होने के पथ पर हों। किन्तु मानव-जाति का ऐसा कोई अंग नहीं हो सकता जिसमें विकास की सम्भावनाएँ ही न हों, और ऐसी कोई परिस्थिति नहीं हो सकती जिसमें उसके विवेक को विकसित या पुष्ट करने के स्थान पर उसे किसी बाहर के संगठन या सत्ता में न्यस्त कर देना अनुमोदनीय हो सके। जो आर्थिक या राजनीतिक पद्धतियाँ या संगठन मानव व्यक्ति के विकास की असीम सम्भावनाओं को कुण्ठित करते हैं वे मनुष्य को पूर्णता की उपलब्धि के प्रति अपराधी हैं। साहित्य के क्षेत्र में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और 'जनहित' दो अलग-अलग प्रतिमान नहीं हैं, न हो सकते हैं।

जो अधिनायकवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है वह मनुष्य के विवेक की स्वतन्त्रता से डरता है और मनुष्य के विकास में बाधक होता है। उसी प्रकार जैसे जो पूँजीवादी उसकी सुविधाओं का अपहरण करता है वह मानव-विवेक को कुण्ठित करता है। इन प्रतिक्रियापरक अमानवीय पद्धतियों को रचनात्मक मानववादी कलाकार स्वीकार नहीं कर सकता। इस दृष्टि से जहाँ हम जन की साधारण सुविधाओं की समृद्धि के लिए किये जाने वाले निर्माणात्मक प्रयासों के साथ हैं वहाँ हम यह भी जानते हैं कि सुविधाओं का विस्तार और मानव की कलात्मक तथा सांस्कृतिक प्रतिष्ठा समानार्थी नहीं है। हम यह नहीं मान सकते कि मानव की कलात्मक एवं सांस्कृतिक प्रतिष्ठा किसी काल्पनिक भविष्यत युग में होगी जिसका आरम्भ सुविधापरक प्रयासों की समाप्ति के पश्चात् होगा। हम कलात्मक कृतित्व की सार्थकता एवं जनहित की व्यापक स्थापना का एकमात्र साधन यही मानते हैं कि असुविधाओं के रहते हुए भी सम्प्रति मानव अस्तित्व के मूल प्रतिमान का आग्रह बना रहे और उसकी उपलब्धि का प्रयास सतत होता रहे।

हम मनुष्य की सम्भावनाएँ असीम मानते हैं। वह हमारे कलानिर्माण का केन्द्र-बिन्दु है। वह हमारी आस्था का आधार है। दिग्भ्रम, संकीर्णता, मिथ्या-विश्वास, ध्वंस, निराशा, पूर्वग्रह, मानवद्रोही चिन्तन-पद्धतियों और साहित्यिक सम्प्रदायों के युग में हम निर्भय होकर असीम सम्भावनायुक्त सम्पूर्ण मनुष्य को पुनः प्रतिष्ठित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर्षनारायण

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य : सांस्कृतिक जीवन की पहली शर्त

मनुस्मृति एवं न्यायशास्त्र के अनुसार प्रतिकूलवेदनीयता, बाधना, परवशता अथवा परतन्त्रता ही दुःख तथा अनुकूलवेदनीयता, विमोक्ष, आत्मवशता अथवा स्वतन्त्रता ही सुख है। भारतीय प्रतिभा सदा से स्वतन्त्रताकांक्षिणी रही है; यहाँ तक कि उसकी दृष्टि में मोक्ष अथवा सर्वविधि बन्धनों से आत्यंतिक स्वतन्त्रता ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। यूरोपीय तत्त्वज्ञों का एक विशाल समुदाय भी स्वतन्त्रता को सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया की अन्तिम गति मानने के पक्ष में है। हीगेल के अनुसार इतिहास विश्वात्मा द्वारा स्वतन्त्रता की उत्तरोत्तर उपलब्धि की कहानी है। मार्क्स के 'डास कैपिटल' के तृतीय भाग में स्वतन्त्रता को मनुष्य की सम्पूर्ण श्रम-साधना एवं समस्त भौतिक उत्पादन का चरम ध्येय बतलाते हुए मार्क्स ने लिखा है कि वह (स्वतन्त्रता) स्वयं ही अपना साध्य है।

किन्तु हीगेल एवं भारतीय चिन्तकों को वैयक्तिक स्वतन्त्रता की कोई कल्पना नहीं है। वस्तुतः चेतनाद्वैतवादी परम्पराएँ व्यक्ति का मूल्य समझने में असमर्थ ही दिखाई देती हैं। व्यक्ति को साध्य मानकर चलने की प्रवृत्ति हमें ईसाई परम्परा में देखने को मिलती है। किन्तु वैयक्तिक स्वातन्त्र्यवाद के प्रचार एवं प्रसार का वास्तविक श्रेय यूरोप की उदारवादी (Liberal), मानववादी (Humanist), वैयक्तिकवादी (Personalist), और जनतन्त्रीय (Democratic) परम्पराओं को ही प्राप्त है।

यहाँ वैयक्तिक स्वतन्त्रता-सम्बन्धी मार्क्स के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में दो शब्द कहने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। सामान्यतया प्रचलित धारणा के विपरीत मार्क्स को मैं वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पूरा हिमायती समझता हूँ। उसके अनुसार "मनुष्य ही वस्तुजात का मूल है" (Man is the root of things)। हीगेल के अधिकारशास्त्र (Philosophy of rights) पर लिखे निबन्ध में वह कहता है कि "मनुष्य-जाति के लिए सर्वोच्च सत्ता मनुष्य ही है" (Man is the supreme being for mankind)। १८४७ ई० में कम्युनिस्ट लीग की मुख-पत्रिका ने, जिसका प्राण मार्क्स था यह घोषणा की थी : "हम उन साम्यवादियों में नहीं हैं जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता का नाश करने के लिए सन्नद्ध हैं, जो संसार को एक भारी बैरक अथवा विशाल कार्यशाला के रूप में ढाल देना चाहते हैं.....हमें 'स्वतन्त्रता' की 'समानता' से अदला-बदली की कोई इच्छा नहीं है।" एक स्थान पर मार्क्स लिखता है; "सर्वहारा .....अपने साहस, आत्मविश्वास, स्वतन्त्रता और वैयक्तिक गौरव की भावना को अपने दैनिक भोजन से भी अधिक आवश्यक मानता है।" 'होली फैमिली' में मार्क्स और एंगेल्स ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य का चरम ध्येय 'स्वतन्त्र व्यक्तियों के संघ' की स्थापना कहा है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विरोधियों ने 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' और 'जन-हित' के दो अलग-अलग ही नहीं अपितु परस्पर-विरोधी प्रतिमानों का हौवा खड़ा कर रखा है। मार्क्स उनकी भर्त्सना करते हुए कहता है : "सबसे बढ़कर, 'समाज' की वैकल्पिक सत्ता को व्यक्ति के विरोध में खड़ा करने से बचे रहना चाहिए। व्यक्ति ही सामाजिक सत्ता है, अतः उसका जीवन सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति एवं प्रमाण है। छिछले समीक्षक एवं प्रायः तथाकथित मार्क्सवादी भी, मार्क्स और एंगेल्स को अधिनायकवादी ही समझते हैं, किन्तु ऊपर दिये हुए उद्धरण इस धारणा को भ्रान्त प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं। बीसियों अन्य उद्धरण भी दिये जा सकते हैं। हम यहाँ केवल एक और उद्धरण देकर बस करेंगे। ब्लैंकी के अधिनायकवादी एवं आतंकवादी दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए एंगेल्स लिखता है, "ब्लैंकी की इस धारणा से, कि मुट्ठी-भर क्रान्तिकारियों के विस्फोट से कोई भी क्रान्ति सम्पन्न हो सकती है, उस पराक्रम की सफलता के बाद एक अधिनायकता की आवश्यकता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। निस्सन्देह, यह अधिनायकता सम्पूर्ण क्रान्तिकारी वर्ग, 'सर्वहारा', की नहीं, बल्कि उन मुट्ठी-भर व्यक्तियों की होती है जिन्होंने क्रान्ति की है और जो स्वयं पहले से ही एक अथवा अनेक व्यक्तियों की अधिनायकता में संगठित होते हैं। तब हम देखते हैं कि ब्लैंकी पिछली पीढ़ी का क्रान्तिकारी है (अथवा उसका अधिनायकतामूलक क्रान्तिवाद पुराना पड़ चुका है—"आउट ऑफ डेट" हो चुका है। ह० ना०)" (देखिये, " The programme of the Blanquist fugitives from Paris commune") वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स अधिनायकताप्रेमी जर्मन विचारकों की नहीं, अपितु वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं जनतन्त्र के उपासक ब्रिटेन और फ्रांस के नेताओं की परम्परा के उन्नायक हैं। मार्क्स स्वयं कहता है, "समाजवाद और साम्यवाद का सूत्रपात जर्मनी में नहीं बल्कि इंग्लैण्ड, फ्रांस, और उत्तरी अमेरिका में हुआ।" (देखिये, Moralizing criticism and critical faculty.)"

'होली फेमिली' में मार्क्स और एंगेल्स ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि मनुष्य में दो (आपाततः विरोधी) प्रवृत्तियों का पता चलता है : एक ओर तो उसमें स्वतन्त्रता की भूख है और दूसरी ओर वह सार्वभौमिकता की प्राप्ति के लिए सचेष्ट दिखाई देता है। बर्ट्रेंड रसल 'स्वतन्त्रता' और 'सार्वभौमिकता' के बदले 'स्वतन्त्रता' और 'संघबद्धता' शब्दों का प्रयोग करता है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन दोनों प्रवृत्तियों में सामंजस्य-स्थापन ही इस युग की सबसे बड़ी समस्या है। पूँजीवाद पर आधारित उच्छृंखल, असंघबद्ध व्यक्तिवाद (Laissez Faire) का सारा जोर स्वतन्त्रता पर है—यहाँ तक कि वह शोषण की स्वतन्त्रता का भी पूरा हिमायती है— जब कि अधिनायकवाद का सार्वभौमिकता अथवा संघबद्धता पर। मार्क्स के लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थिति इन दोनों से निराली है।

मानव-व्यक्तित्व के विकास के तीन सोपान देखने को मिलते हैं। आदिम-युगीन वनौकस यूथ की अवस्था में मानव-व्यक्तित्व अपृथक्कृत, निर्विशेष (Undifferentiated, indeterminate) था। उस समय जाति में व्यक्तित्वमूलक पृथक्करण (Individualization) की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हुई थी। कहना चाहिए कि व्यक्ति में एक स्वतन्त्र आत्मा विकसित ही नहीं हुई थी। व्यक्तियों के सारे कार्य एक विकीर्ण सूत्रात्मा अथवा सामुदायिक आत्मा (Group soul) द्वारा परिचालित होते थे। स्पष्ट ही, उस समय व्यक्ति स्व-तन्त्र होकर सर्वथा यूथ-तन्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा जाति-तन्त्र था। व्यक्तित्व की चेतना के अभाव में वह सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से पशु ही था—पशु ही के समान चेतना के बदले सहज प्रवृत्तियों (Instincts) द्वारा परिचालित होता था। यह मानव-व्यक्तित्व के विकास का प्रथम सोपान है।

इसके बाद व्यक्तित्व के पृथक्करण व्यक्तित्व-चेतना के विकास का युग आता है। चन्द लोग व्यक्तित्व सम्पन्न हो अपने यूथ के शासक बन बैठे। वे अन्य निर्बल यूथों के सदस्यों को पकड़कर दास बनाने लगे। तब दासता-युग का श्रीगणेश हुआ। खेती-बाड़ी के विकास के साथ-साथ अनेक स्थलों पर दासता-प्रथा का स्थान क्रमशः खेतिहर-चाकर-प्रथा ने ले लिया। फिर सामन्तों का उत्कर्ष हुआ। दासता-युग से लेकर सामन्त-युग तक केवल पुरोहित एवं राजन्य-वर्ग में ही व्यक्तित्व-चेतना का थोड़ा-बहुत विकास देखने को मिलता है। विशाल जनसमूह तो इनकी आज्ञाकारिता को ही अपनी इतिकर्तव्यता समझ बैठा था—जैसे उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही न हो। व्यक्तित्व-चेतना की न्यूनता के दर्शन हमें तत्कालीन साहित्य में भी होते हैं। आदिम अवस्था के आसपास के जादू-मन्त्र की जाति का जो कुछ साहित्य उपलब्ध हो सका है उसे देखने पर पता चलता है कि उसमें लौकिक व्यक्तियों के विवरण का सर्वथा अभाव है। हम काल के साथ-साथ जितना ही आगे बढ़ते हैं हमें साहित्य में व्यक्तित्व-चेतना का उतना ही अधिक विकास देखने को मिलता है। दासता-युग से लेकर सामन्त-युग के आरम्भ तक का साहित्यकार प्रायः इतना कम व्यक्तित्व-चेतन है कि वह बहुधा स्वतन्त्र ग्रन्थ-प्रणयन की चिन्ता न करके परम्पराप्राप्त साहित्य-सामग्री के संशोधन एवं परिवर्द्धन में ही अपनी सारी प्रतिभा व्यय कर देता है। उस समय एक रचयिता द्वारा रचित कोई सम्पूर्ण ग्रन्थ कम ही देखने को मिलता है। वेद, महाभारत, पुराण जैसे ग्रन्थों में से प्रत्येक एक लम्बी कवि-परम्परा द्वारा प्रणीत ग्रन्थ है। प्राचीन साहित्यकारों का अपनी रचनाओं के साथ बहुधा नाम सम्बद्ध न करना भी व्यक्तित्व-चेतना की कमी को ही प्रकट करता है। जब साहित्यकारों की व्यक्तित्व-चेतना का यह हाल है तो साधारण मर्त्यों की क्या गति होगी? अच्छा, पूँजीवाद ने पुरोहितएवं राजन्य-वर्ग का आधिपत्य समाप्त कर अव्यवस्थित, उच्छृंखल और असंघबद्ध व्यक्तिवाद (Laissez Ffaire) का नारा बुलन्द किया। इसने समाज से सामन्तों के जन्म-सिद्ध शोषणाधिकार का सदा के लिए अन्त करके प्रत्येक व्यक्ति को पूंजी-प्राप्ति द्वारा शोषण-शक्ति की प्राप्ति की होड़ में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया। व्यक्ति व्यक्ति में व्यक्तित्व-चेतना जागी। आरम्भ में सामन्तों को निर्बल करने के हेतु ही लोकतन्त्र का प्रवर्तन हुआ था। अब साधन-सम्पन्नों द्वारा साधन-हीनों का 'सुव्यवस्थित' शासन एवं शोषण आरम्भ हुआ, क्योंकि पूँजीवादी लोकतन्त्र अधिकांशतः राजनीति तक ही सीमित है, अर्थ-नीति पर अभी तक वह काफी हद तक हावी नहीं हो सका है। यह वस्तुतः व्यक्तित्व-चेतना-शून्य वनौकसयूथ-युग के पूर्ण प्रतियोगी अव्यवस्थित, उच्छृंखल, अ-संघबद्ध व्यक्तिवाद का युग है। हम देखते हैं कि वैयक्तिक पृथक्करण, व्यक्तित्व-चेतना, दासता-युग में उद्भूत होकर इस पूँजीवादी युग में पराकाष्ठा को प्राप्त हो गई है। यह है मानव-व्यक्तित्व के विकास का दूसरा सोपान।

अब इस उच्छृङ्खल व्यक्तिवाद से आक्रान्त मानवता अपने लिए नया मार्ग ढूँढ रही है। उसके सामने दो मार्ग खुले दीख रहे हैं। एक तो वह है जिसका प्रतिपादन जेम्स बर्नहम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Managerial Revolution' में किया है—व्यवस्थापकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा व्यवस्थापकशासित समाज (Managerial Society) का आदर्श जो हमें पुनः दासता-युग की ओर ले जाना चाहता है। बर्नहम की भविष्यवाणी है कि मानव समाज अब इस व्यवस्था की ओर संक्रमण करने को बाध्य है। इसमें समाज की सम्पूर्ण शक्ति व्यवस्थापकों (Managers) के हाथ में होगी और शेष जनता भेड़-बकरी बनकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करेगी। विज्ञान के नित नये आविष्कारों से व्यवस्थापकों के हाथ उत्तरोत्तर मज़बूत ही होते जायँगे। यह व्यवस्था वस्तुतः मानवता के सिर पर एक जोखम है, जिसका हमें डटकर मुक़ाबिला करना है। मेरी अत्यन्त सुचिन्तित धारणा है कि आज हमें पूँजीवाद से कहीं अधिक ख़तरा इस व्यवस्थापकीय समाज-रचना से है, जो कभी नाज़ीवाद के रूप में तो कभी फ़ासिस्टवाद के रूप में, कभी किसी रूप में तो कभी किसी रूप में, प्रकट होती देखी जाती है। आज के मनुष्य के सामने दूसरा मार्ग है लोकतन्त्रीय-समाजवादी (Democratic Socialistic) समाज-रचना का। इस समाज-रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें व्यक्तित्व खोये बिना मानव संघबद्ध हो जाता है, जिससे व्यक्ति-हित और जनहित का द्वैध सदा के लिए समाप्त हो जाता है। मार्क्स लिखता है कि पूँजीवादी अधिकार-शास्त्र को प्रश्रय देकर प्रत्येक व्यक्ति अन्यों में अपनी स्वतन्त्रता की सिद्धि नहीं बल्कि सीमा का अनुभव करने लगा। लेकिन लोकतन्त्रीय-समाजवादी समाज-रचना में प्रत्येक व्यक्ति अन्यों में अपनी स्वतन्त्रता की सिद्धि का ही अनुभव करेगा। इस समाज में 'प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास सभी के स्वतन्त्र विकास' की शर्त होगा। (कम्युनिस्ट मेनीफ़ेस्टो) इस प्रकार अपृथक्कृत, निर्विशेष व्यक्तित्व से पृथक्कृत, सविशेष किन्तु दायित्वहीन व्यक्तित्व के मार्ग से होते हुए सार्वभौम व्यक्तित्व की ओर संक्रमण ही मानव-व्यक्तित्व के विकास का क्रम सिद्ध हुआ। इस सार्वभौम व्यक्तित्व का ही दूसरा नाम मार्क्स ने दिया है 'समष्टिपरक व्यक्ति-सत्ता' (Individual collective being)।

मैं इस समष्टिपरक व्यक्तिवाद एवं उस पर आधारित वैयक्तिक स्वतन्त्रता को मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का निश्चित प्रतिमान मानता हूँ। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का परिसीमन अन्य व्यक्तियों की समान वैयक्तिक स्वतन्त्रता ही कर सकती है; अन्यथा, वह असीम, अमर्यादित, अखण्ड, एवं निरपेक्ष ही होनी चाहिए। इसी में व्यक्ति एवं व्यक्ति-व्यक्ति से निर्मित समाज दोनों का कल्याण है।

मैं प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व को अनन्त सम्भावनाओं का भण्डार मानता हूँ और ये सम्भावनाएँ वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अभाव में फल-फूल नहीं सकतीं, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। इसी कारण मैं वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सांस्कृतिक जीवन की पहली शर्त मानने के पक्ष में हूँ। वैयक्तिक स्वतन्त्रता की खोज को मैं मनुष्य की सबसे बड़ी सांस्कृतिक खोज समझता हूँ। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के आग्रह को मानव की प्रगतिशीलता का सबसे बड़ा प्रमाण मानने में मुझे कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

साहित्य को, एक सांस्कृतिक प्रयास होने के नाते, सामाजिक जीवन के सर्वोच्च मूल्य स्वतन्त्रता को प्रतिमान मानकर ही चलना होगा। साहित्य हमारे जीवन-प्रवाह से विच्छिन्न होकर कभी पनप नहीं सकता। डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने अपनी 'इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन आर्ट' नामक पुस्तिका में कला के जीवन-केन्द्रित होने की ज़ोरदार सिफ़ारिश करते हुए कहा है कि साहित्य ही नहीं प्रत्युत "समस्त भारतीय कला सदैव किसी माँग के उत्तर में उद्भूत हुई है।.....महती कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की उद्भावना करने वाली जाति अपने कला-प्रेम द्वारा नहीं अपितु जीवन-प्रेम द्वारा ही ऐसा कर पाती है।" वस्तुतः जीवन, सामाजिक जीवन, उसके मूल्य, उसके आदर्श ही साहित्य एवं कला को प्रेरणा दे सकते हैं; इस प्रेरणा से शून्य साहित्य निर्जीव एवं निष्प्राण साहित्य है और वह साहित्य किस काम का जो सांस्कृतिक जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि स्वतन्त्रता की चेतना का विस्तार करने में सक्षम न सिद्ध हो। और आज तो हम उस युग से गुजर रहे हैं जिसमें मानवात्मा की स्वतन्त्रता के सत्यानाश का ही भय उपस्थित हो गया है। ऐसी अवस्था में साहित्यकार का निर्लिप्त भाव से मानव-संस्कृति की इस महत्तम लब्धि को मिटते देखना मानवता के प्रति विश्वासघात नहीं तो और क्या होगा ?

प्रभाकर माचवे

भारतीय साहित्यकार की स्वातन्त्र्य धारणा का मूल उत्स

आज के भारतीय साहित्यकार के, और विशेष रूप से हिन्दी साहित्यकार के सामने जो मुख्य समस्याएँ हैं, उनमें जो राजनीतिक समस्या दुनिया के दो गुटों में बँट जाने और हमारे किसी भी एक गुट के पिछलगुआ न बनने की बात को तो आपके पत्रक ने बहुत ही स्पष्ट घोषित किया है। मैं उसका पूर्ण समर्थन करता हूँ। हम लेखक अपनी मेधा और परिश्रम को किसी भी कीमत पर ऐसा पण्य नहीं बनाना चाहते कि डालर-गर्वी या रूबल-गर्वी अथवा येन-गर्वी आदि या कोई भी हमें अपनी जड़ों से अपनी भीति से उखाड़ सके। गांधीजी का वह वाक्य बहुत सार्थक है कि "मैं अपने देश की संस्कृति की इमारत की खिड़कियों में से खुला प्रकाश, खुली हवा, सभी दिशाओं से आने दूँगा। पर मैं उन हवाओं में इस इमारत का समूल उखड़कर बहते जाना कभी नहीं चाहूँगा।" आपने ठीक ही कहा है कि अधिनायकवाद और पूँजीवाद के खतरे व्यापक जीवन के खतरे हैं, और कोई भी सच्ची क्रियमाण शक्ति, कोई भी सृजनेच्छा, कोई भी रचनैषणा उनके साथ चलकर आत्म-हत्या के वारंट पर स्वयं हस्ताक्षर मात्र करेगी।

पर यहाँ केवल जोर निषेध पर नहीं है। हम नहीं हैं अमुक वाद या वादी के साथ, इतना ही कहना काफी नहीं है। हम जब वैयक्तिक स्वतन्त्रता की पाजीटिव बात कहते हैं तब उसका खास मखौल उड़ाया जाता है क्योंकि वे हमारी बातों के आलोचक इस स्वतन्त्रता की पूर्वपीठिका और इस आस्था का आधार ध्यान में नहीं लेते। शॉ ने कहा था कि मनुष्य प्रकृति से मुक्त नहीं है। हम प्रकृति-बाह्य नहीं होना चाहते, बल्कि अधिक प्रकृत बनकर उस सहज मानवीयता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुप्रतिष्ठित करना चाहते हैं। कहा जाता है कि चुम्बकीय सामाजिकता की परिधि से बचकर मानव-संकल्प या मानव-विचार का कोई लौहकण कहीं जा नहीं सकता। उस प्राकृतिक परिवेश को हम स्वीकार अवश्य करते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि मनुष्य केवल अर्थ-दास है या काम-दास है। धर्म और मोक्ष में आज हमें चाहे पुरुषार्थ न जान पड़े फिर भी मानवी-प्रज्ञा, मानवी विवेक और मानवी नीति में यदि हमारा दृढ़ विश्वास नहीं है तो हमारा 'प्रगति' शब्द का यन्त्रवत पुनरुच्चार खोखला है। हम उस दशा में केवल एक धार्मिक अंध-निर्माता के हाथों से छूटकर दूसरी 'ऐतिहासिक भौतिकवादी' अंध-निर्माता के हाथों के कठपुतली बनते हैं। हम लेखक इस संकल्प का पुनरुच्चार करते हैं कि हम किसी पक्ष, संगठन या न्यस्त स्वार्थ की 'चकफेरी' के सूत्र-बंधे, हिज मास्टर्स वायस नहीं हैं। हम अपने स्वयं के स्वामी हैं। हम परिस्थितियों के गर्त में पड़े, प्रवाह-पतित, बहते हुए तिनके या फूल नहीं, अपितु परिस्थितियों की प्रबल चुनौती को झेलने वाले अपने ही पैरों पर खड़े स्वायत्त, स्वावलम्बी, स्वतन्त्र आत्म-शिल्पी हैं। जो आत्म-शिल्पी हैं वे ही अंततः समाज-शिल्पी हो सकते हैं।

इस आलेख में एक कमी जो मुझको लगी उसको स्पष्ट करना चाहता हूँ और वह है इस आत्मस्थ स्वाधीनता के मूल उत्स की बात। क्या हो हमारा इतिहास के प्रति दृष्टिकोण, क्या हो। भूतकाल के प्रति विचार, क्या हो हमारे निकट श्रेण्य और वरेण्य (Classic) साहित्य की इयत्ता? यह प्रश्न बहुत महत्त्व का है। प्रगतिशील लेखक-संघ के एक खासमखास कर्ता-धर्ता से तीन वर्ष पूर्व दिल्ली में मैंने यह सवाल पूछा था। वे सिटपिटा गए। क्या अजन्ता और एलोरा की गुफाओं को उपयोगिता के बावर्चीखाने या अस्तबल बना दिया जाय? क्या सामन्ती कलाकार कहकर कालिदास को हेय समझें और ध्रुपद धमार के संगीत को एकान्त व्यक्तिवादी कहकर उसे इप्टा के कोरसों के आगे झुठला दिया जाय? आप कहेंगे प्रगतिशील लेखक यह नहीं कहते। पर बहुत-कुछ उसके निकट की बात कहते हैं। उपयोगितावाद उनकी एकमात्र तुला है।

पादायेव ने कहा है कि "वी मस्ट टेक इन्सपिरेशन फ्राम दी पास्ट, लिव इन दी प्रेजेंट, एन्ड बिल्ड दी फ्यूचर।" अब प्रश्न यह है कि भूतकाल से या अतीत काल से जो प्रेरणा हम लेना चाहते हैं क्या वह इस प्रकार की हो कि जैसे सोवियत लेखक अलेक्सी तालस्त्वाय ने युद्धकाल में 'आइवन, दि टेरीबल' के ऊपर तीन ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर ली? या आजकल आवश्यकता पड़ने पर चीन और भारत के बौद्धकालीन परस्पर मैत्री-भाव का भी उल्लेख कर दिया जाता है। भूतकाल हमारी सांस्कृतिक विरासत का भाग है। प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि और विवेक-रचना में उसके कण हैं। वे जैविक भाषा में हमारी चेतना के 'क्रोमोज़ोम्स' 'क्रोमोज' हैं। इस दशा में जब हम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का उद्घोष करते हैं तब वह यूथकालीन समाज की नैतिक मनमानी या अनाचार के अर्थ में नहीं है। इतिहास को काटकर या एकांगी ढंग से हम ले नहीं सकते। वह हमारी मेधा का, कल्पना का, रचना के मूल स्रोतों का एक अविभाज्य अंग या भाग बन चुका है। उसे हम चाहकर भी हटा नहीं सकते। परन्तु इसका अर्थ इतिहास का पुनर्जीवन नहीं है। संकीर्ण नारे 'लौट चलो राम राज्य में' 'लौट चलो अशोक काल में' या 'लौट चलो शिवाजी-प्रताप के जमाने में' उतने ही गलत और क्षणजीवी हैं जितने कि राजनीतिक दलालों के सब्जबाग कि 'चलो अमुक काट की क्रान्ति करें' या अमुक प्रकार के युटोपिया फलाँ-फलाँ देश में हैं। उसकी नकल उतारें!' ये सब नुस्खे अब पिटे-पिटाये हो चुके हैं। साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या कला का जो प्रेरणाशाली, मार्मिक, सच्चा प्रभाव डालने वाला स्थायी पक्ष है वह क्षणिक उत्तेजना देने वाला नशा नहीं, पर मानसिक स्वास्थ्य देने वाला प्राणवायु का निरन्तर ताज़गी से भरा संतृप्ति देने वाला पक्ष है। और वह मेरे मन से मानवी मूल्यों की प्रतिष्ठापना और पुनर्मूल्यांकन करने वाला व्यक्तिनिष्ठता का नियोक्लासिसिज़्म का ही पक्ष हो सकता है। पुरातन हमारे लिए जड़ नहीं है। वह 'नित्य नूतनो इव सनातनः' है। मैं यदि सच्चा भारतीय हूँ तो मेरी नस-नस में शतियों सांस्कृतिक उत्थान-पतन का, अनेकानेक जातियों का और मतों का समाहार और आत्मौपम्य बुद्धि से अपनाव, उदारचेतस्, एकाग्र और समग्र संश्लेषण उपस्थित है। मैं मानता हूँ कि अधिकाधिक मानवीय जो प्रयत्न हमारे सन्तों और चिन्तकों के रहे हैं वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक उत्तरदायित्व के एकात्मबोध (इन्टेग्रेशन) से हुए हैं। और इसी से चातुर्वर्ण्य और आश्रम की मर्यादा को पक्का बनाने वाले तुलसी की अपेक्षा मुझे कबीर अधिक प्रिय हैं। क्योंकि वे 'लीकै लीकै ना चलै' कहकर धुर के भेदी बने। मुझे इसीलिए रीति-कालीन लेखकों की अपेक्षा भारतेन्दु-युग के लेखक अधिक प्राणवान जान पड़ते हैं और प्रसाद की अपेक्षा मैं प्रेमचन्द का दाय श्रेष्ठतर मानता हूँ।

व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का अर्थ है 'मनः पूतं समाचरेत'; व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ है अत्तानो अत्तस्से दीपो। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ है रूढ़ और परम्परित को, बासी और घिसे-पिटे को नकारने का साहस। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ है केवल मुँहदेखी ठकुरसुहाती जनप्रियता से मुँह मोड़कर हिरण्यमय पात्र से ढँके सत्य के मुँह को खोलकर बताना। और नोआखाली में जब हिंसाहत घर-घर में बापू जा रहे थे तब यही गीत तो उनके चरणों में गति भरता रहा—'तबे एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे!' सृजन सदा इसी एकान्त की रचना है। चाहे उसे राजनीतिज्ञों ने अवसर देखकर निवृत्ति, पलायन, कर्तव्य-विमुखता, क्या क्या न कहा हो!

इधर मुझे भारत की अनेक भाषाओं के साहित्य-स्रष्टा कलाकारों से मिलने का सुयोग मिला। मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि उनमें से अधिकांश ऊपर जो मैं कह चुका हूँ उसे मानने वाले हैं। साम्प्रदायिक मतवादों से वे ऊब उठे हैं। मतवादों के कठघरों में उनकी वाणी ने कुण्ठा अनुभव की है। अतः आग्रह है इस अकुण्ठित, निर्द्वन्द्व, अबाध, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, सबकी स्वतन्त्रता का आदर करने वाली अपनी स्वतन्त्रता पर।

(इसी समस्या पर मेरा एक लेख एक साप्ताहिक पत्र के दीपावली अंक में छपा था जिसका उत्तर एक दूसरी पत्रिका में कॉमरेड रमेश सिनहा ने दिया और एक व्यक्तिगत पत्र में चाहा कि मैं उसका उत्तर दूँ। उन्हें जो मैंने पत्र द्वारा उत्तर दिया था उसके शब्द पुनः दुहराता हूँ। "आपका मेरा मतभेद सैद्धान्तिक है। आप चाहे सम्पूर्ण मतैक्य और संघशः-चिन्तन में विश्वास करते हों पर हम मानते हैं कि दो या अधिक व्यक्तियों का मत-वैभिन्य या कि मत-विरोध होने पर भी उनका सह-अस्तित्व सम्भव है। आप मुझसे यहाँ आने पर मिलना चाहते हैं। अवश्य मिलिए। आपमें का और मुझमें का मनुष्य अन्ततः एक ही है।" और फिर मार्च में श्री सिन्हा यहाँ आये। मुझसे मिलना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। जानता हूँ कि ये सब बातें लिखना व्यर्थ है, क्योंकि वह 'पथ' हमारे लिए अजाना या 'नया' नहीं है।)

मैं अब भी जोर देकर कहता हूँ कि अच्छे साहित्यकार या लेखक की पीड़ा की अनुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाह्य उपचारों से निर्णीत नहीं होती। रवीन्द्रनाथ या प्रेमचन्द इसलिए महान् नहीं हैं कि एक ने सर का खिताब छोड़ दिया और दूसरे का 'सोज़े वतन' जब्त हुआ। यह घटनाएँ उनके जीवन में नहीं घटतीं, फिर भी वे महान् लेखक बनते। फिर भी वे 'जन गण मन' या 'गीतांजलि', 'गोदान' और 'ग़बन' सिरजते और हम उनकी महानता उन घटनाओं से नहीं पर इन कृतियों के कारण मानते। मनुष्य के जीवन की राजनीतिक घटनाओं का उसकी सृजन-शक्तियों से कोई कार्य-कारण सम्बन्ध गणित की भांति हो ही, यह आवश्यक नहीं। वरना जेल की हवा खाकर आया हुआ हर तुक्कड़ आज महाकवि न हो जाता? या कारागार में लिखा हुआ हर हिसाब-खाता-पोथन्ना विश्व का अमर साहित्य न हो जाता? पीड़ा की अनुभूति कलाकार की अपनी है। उसकी मारफ़त वह दुनिया की पीड़ा का कारण खोजने बढ़ता है। यही है पथ की खोज, कला का मुख्य बिन्दु वह भुलाकर जितनी भी बाह्योपचारी 'हाय-हाय' और ऊपर की मरहम-पट्टियाँ की जायँ या दिखाई जायँ, वे सब अवांतर हैं। 'हिय का घाव' और है और वह हर सभा में आँख या नाक पोंछकर, "यारो! मैंने ऐसा दर्द देखा!" कहने वाले मंच-अभिनेता और यहाँ देश में मेरीन ड्राइव पर रहकर विदेशों में जाकर घोषित करने वाले कि "हमारे फिल्म-कलाकार भुखमरी से मरे जा रहे हैं", ऐसे प्रगतिशील सितारों में और उनके बनाने वालों में हो, यह जरूरी नहीं है। इधर एक फिल्मस्टार और लेखक किशोर साहू की पुस्तक 'अभिसार' देखने में आई। उसमें एक पृष्ठ पर एक ही सूत्र-वाक्य है। "शर्म की तो हद होती है, पर बेशर्मी की नहीं।" यह वाक्य ऐसे प्रदर्शनकारियों पर खूब घटता है। सो साहित्यिक कला की उत्कटता शोरगुल और प्रदर्शनियों में ही व्यक्त हो, यह आवश्यक नहीं है। कलाकार-व्यक्ति और समाज के बिन्दु-सिन्धु सम्बन्ध में, अन्योन्याश्रय में, गालिब की बात फिर से दुहराना जरूरी नहीं है कि :

इश्रते क़तरा है दरिया में फ़ना हो जाना।
दर्द का हद से गुज़रना है दवा होना॥

यह एंगल्स साहब की 'रिकाग्निशन ऑफ दी नेसेसिटी' नहीं है। यह राजनीतिक सुविधा या अवसरवादिता (एक्सपीडियेन्सी) वाली नहीं, वरन् सच्ची स्वतन्त्रता है। उन राजनीतिक कैचवर्ड्स् के कफस के कैदियों की तो इक़बाल के शब्दों में यह हालत है कि

तेरे आज़ाद बन्दों की न ये दुनिया न वो दुनिया।
यहाँ मरने की पाबन्दी, वहाँ जीने की पाबन्दी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रामअवध द्विवेदी

साहित्य-सृजन की प्रक्रिया और लेखक का व्यक्तित्व

साहित्यकार के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक दायित्व का प्रश्न किसी अंश में कला के स्वभाव और उद्देश्य से सम्बद्ध है। विशुद्ध कलावादियों की मान्यताएँ बहुत कम लोग स्वीकार करते हैं। यह मानना कठिन है कि समाज से विमुख होकर कवि अपने ही द्वारा निर्मित कल्पना और सौन्दर्य के लोक में निवास करता हुआ एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द की प्राप्ति करता है। सामान्य जीवन की अवहेलना करने वाले इस प्रकार के कलाकार की ओर जनता कुछ समय के लिए ही आकृष्ट हो सकती है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के पलायन से व्यक्तित्व का विघटन होता है और फलतः कलाकृतियों का मूल्य भी नष्ट होता है। दूसरे छोर पर कला राजनीतिक और सामाजिक सत्ता से आक्रान्त होकर उच्चतम आदर्श से च्युत होती हुई अपने सहज आकर्षण को खो बैठती है। कहीं राजनीतिक सत्ता, कहीं आर्थिक व्यवस्था और कहीं सामाजिक रूढ़ियों द्वारा साहित्यकार के स्वातन्त्र्य का अपहरण होता है और वह कला के उच्चतम आदर्शों की यथोचित प्रतिष्ठा करने में असमर्थ हो जाता है। आज के संसार में पूंजीवाद, अधिनायक शासन-प्रणाली, साम्यवादी व्यवस्था सभी में साहित्य पर अधिकाधिक शासन तथा आधिपत्य जमाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। साहित्य पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए धन और दण्ड दोनों का ही उपयोग किया जाता है। इस भाँति ये दो आत्यन्तिक अवस्थाएँ हैं, एक छोर पर कलाकार द्वारा समाज का तिरस्कार होता है और दूसरे छोर पर समाज द्वारा कलाकार को अपना अनुचर और सेवक बनाने की चेष्टा दिखाई देती है।

हमें विचार करना है कि इन दोनों अवस्थाओं के बीच साहित्यकार की वास्तविक स्थिति क्या है। वह स्वयं सामाजिक प्राणी है अतः न तो समाज को पूर्णतया भुला सकता है न उसका तिरस्कार ही कर सकता है। ऐसा करने से उसकी और उसकी कला की क्षति अनिवार्य है। हरबर्ट रीड के इस कथन में कि कविता सामाजिक सत्ता के प्रति विद्रोह है, अधिक सार नहीं मिलता, क्योंकि निरन्तर विद्रोह द्वारा किसी क्रियात्मक फल की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार के विद्रोह की सम्भावना सीमित है, क्योंकि अन्ततोगत्वा साहित्यकार शालीनता, सुरुचि आदि के आदर्शों को नहीं छोड़ सकता और ये आदर्श उतने ही सामाजिक भी हैं जितने वैयक्तिक। साथ-ही-साथ साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को सामाजिक शक्तियों द्वारा आप्लावित अथवा दलित नहीं होने दे सकता। साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया का केन्द्रबिन्दु व्यक्ति है। एक क्षण के लिए यदि हम सामाजिक शक्तियों को बिलकुल पृथक् कर दें तब भी कलाकार द्वारा रचना की कल्पना हम कर सकते हैं, किन्तु कलाकार के अभाव में सामाजिक शक्तियाँ स्वतः रचना की क्षमता नहीं रखतीं। साहित्य का प्रधान आग्रह मानव-व्यक्तित्व पर है। सामाजिक अवस्थाओं और परिस्थितियों तथा मानव व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध में साहित्य प्रमुख महत्त्व मानव-व्यक्तित्व को ही देता है, उसी प्रकार जैसे समाज-शास्त्र सामाजिक शक्तियों की प्रधानता पर जोर देता है। साहित्य का यह एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है कि मानव अनेक युगों, परिस्थितियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा कठिनाइयों को पार करते हुए अपने व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने में सफल रहा है। साहित्यकार अपने जीवन में इस वैयक्तिक स्वतन्त्रता को व्यावहारिक रूप में ग्रहण करने का प्रयास करता है तथा अपनी कृतियों में उसकी अभिव्यक्ति के लिए सचेष्ट रहता है। अपने व्यक्तित्व द्वारा ही वह विविध प्रभावों को ग्रहण करता हुआ सौन्दर्य और आलोक विकीर्ण करता है। वह सामाजिक शक्तियों को बिलकुल अस्वीकार नहीं करता किन्तु उनसे त्रस्त अथवा दलित भी नहीं होता है। उनके बीच में रहकर भी वह अपना मस्तक उनसे ऊँचा उठाकर अग्रसर होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्यकार की पहली आवश्यकता है व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और उसका ज्ञान। किन्तु न तो वह समाज के प्रति नितान्त निरपेक्ष है, न विद्रोही। वह सामाजिक शक्तियों की उपयोगिता स्वीकार करता है यद्यपि उनकी सत्ता वह पूर्णतः नहीं मानता। इन शक्तियों को आत्मसात करके वह अपनी कृतियों में उनका उपयोग भी करता है। वह किसी सीमा तक अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को नहीं भुलाता, किन्तु अपने और अपनी कला के प्रति उसका एक उच्चतर उत्तरदायित्व भी है जो उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि वह इस उच्चतर उत्तरदायित्व को सम्भाल लेता है तो बिना प्रयास के ही उसके सामाजिक दायित्व का भी निर्वाह हो जाता है। समन्वय अथवा सामंजस्य के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता, क्योंकि मानव की सामाजिकता के नाते उसके व्यक्तित्व-निर्माण में वैयक्तिक और सामाजिक उपकरणों का सन्निवेश और सूक्ष्म संगठन निरन्तर होता रहता है। अतः साहित्य-सृजन की समस्या प्रधान रूप से वैयक्तिक निर्माण और स्वातन्त्र्य की है और गौण रूप से सामाजिक उत्तरदायित्व की।

टी० एस० इलियट महोदय का यह कथन कि काव्य आत्मप्रकाशन नहीं बल्कि निर्वैयक्तिकरण है अत्यन्त चमत्कारपूर्ण होते हुए भी विवादास्पद तथा भ्रामक है। अतः हम साहित्यकार के व्यक्तित्व को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं।

बालकृष्ण राव

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व की अन्योन्याश्रित स्थिति

साहित्य-रचना उद्देश्यहीन अथवा निरर्थक नहीं, एक 'गम्भीर दायित्व से समन्वित प्रक्रिया' है—यह कथन सम्भवतः सभी को मान्य होगा, यद्यपि बहुतों को 'समन्वित' शब्द अपर्याप्त लगेगा। बहुतों की दृष्टि में साहित्य-रचना एक गम्भीर सामाजिक दायित्व से समन्वित ही नहीं होती, उसकी प्रेरणा की शक्ति ही यह दायित्व है; उसकी सार्थकता इस दायित्व का भार-वहन है।

यह दायित्व क्या है? प्रस्तुत आलेख के शीर्षक में इसे 'सामाजिक दायित्व' कहा गया है, पर आगे चलकर हमें इसका कुछ विस्तृत स्पष्टीकरण भी मिलता है। स्वाधीनता को मौलिक प्रतिमान मानकर और यह कहते हुए कि 'साहित्य के प्रतिमान मूल मानवीय प्रतिमानों से भिन्न या उनके विरोधी नहीं हो सकते,' साहित्यकार का दायित्व बताया गया है 'साहित्य के द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस स्वाधीनता को निरन्तर विकसित करते चलना, मानव को स्वाधीनतर बनाते चलना, उसकी असीम सम्भावनाओं को परात्पर उपलब्ध कराते चलना।' आगे कहा गया है कि यह दायित्व उसके (अर्थात् साहित्यकार के) कर्म से ही उद्भूत होता है, किसी बाहरी संगठन या सत्ता द्वारा उस पर आरोपित नहीं किया जाता।

इस व्याख्या में किसी सामाजिक उद्देश्य की ओर इंगित नहीं है। जिस मौलिक स्वाधीनता का विकास कराना साहित्यकार का दायित्व है, यदि वह समाज के प्रत्येक सदस्य की अपनी वैयक्तिक स्वाधीनता ही है तो साहित्यकार का दायित्व किसके प्रति है? यह कहना पर्याप्त न होगा कि साहित्यकार का दायित्व केवल अपने प्रति है क्योंकि एक तो वह साहित्यकार होते हुए भी समाज का सदस्य है और दूसरे उसकी रचना जिस 'गम्भीर दायित्व से समन्वित प्रक्रिया' को आरम्भ करती है उसकी पूर्ति रचना के श्रोता अथवा पाठक की उपलब्धि की अपेक्षा रखती है। यदि साहित्यकार का दायित्व समाज के सामूहिक अस्तित्व के प्रति न होकर केवल उसके विभिन्न सदस्यों की अपनी वैयक्तिक पृथक्ता के प्रति है तो जिस परिमाण में वह इस पृथक्ता को उकसाता है उसी परिमाण में क्या वह समाज के प्रति अपना दायित्व निभाने में असफल नहीं होता? यदि केवल सामूहिक रूप ही उसके सामने रहता है तो, अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रति जागरूक रहते हुए भी, औरों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अपहरण करने में क्या उसकी साहित्य-साधना सहायक नहीं हो जाती? जिस सम्पूर्ण मनुष्य में हमारी आस्था है, जिसे हम पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, क्या वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की एकान्त आराधना ही उसकी उपलब्धि के लिए पर्याप्त है?

मैं समझता हूँ कि सामाजिक मानव की पूर्णता वैयक्तिक रूप में उसकी आंशिक अपूर्णता पर आधारित है और ऐसे ही पूर्ण मानव के प्रति साहित्यकार का गम्भीर दायित्व है। व्यक्ति का अस्तित्व समाज के अस्तित्व से पृथक्, असम्बद्ध होकर निरर्थक है, यदि इस पृथक्ता अथवा विलक्षणता को ही वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य मान बैठे। बुद्धि के क्षेत्र में हमें पृथक्ता मिलती है तो भावना के क्षेत्र में सादृश्य। वनौकस यूथ में बुद्धि अविकसित थी, इस कारण उसका वैयक्तिक और सामूहिक आचरण एक जैसा था। सभ्य समाज की बुद्धि अपेक्षाकृत अधिक विकसित होने के कारण उसके सदस्यों को वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की अपेक्षा हुई। पर भावना के क्षेत्र में सभ्य समाज भी सादृश्यता से बचा हुआ नहीं है। किसी विद्वत्समाज में जब कोई ऐसा विषय विचाराधीन हो जिस पर मतैक्य न हो रहा हो तब यदि सहसा भूकम्प से सभाभवन हिलने लगे तो सारे तर्क-शिरोमणि एक-सा ही आचरण करेंगे, सभी भवन छोड़कर भाग निकलेंगे। एटम बम के प्रयोग के विषय में कई राय हो सकती हैं, पर एटम बम के गिरने पर सबका आचरण एक जैसा ही होगा। बुद्धि वैयक्तिक विलक्षणता की सुरक्षा चाहती है। भावना अकेली है, स्वतन्त्र है, पर वह सामूहिक एकरूपता की जीवन-धारा है। मनुष्य और उसका साहित्य बुद्धि और भावना, वैयक्तिक विलक्षणता और मानवीय एकरूपता, दोनों को समान रूप से ग्रहण करके ही पूर्णता और सार्थकता प्राप्त कर सकता है, एकांगी होकर नहीं।

जैसा इस आलेख में कहा गया है, अधिनायकवादी समाज मनुष्य के विवेक से भयभीत होने के कारण ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है। साहित्यकार का अपनी आस्था के प्रति और सम्पूर्ण मनुष्य के प्रति यह दायित्व है कि इस परिस्थिति में वह अडिग रहे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्रता की रक्षा करे। पर इसके विपरीत जो कहा गया है उससे मैं सहमत नहीं हूँ। पूँजीवाद 'सुविधाओं का अपहरण करता और मानव-विवेक को कुण्ठित करता है', यह केवल एक रूप है, इससे कहीं अधिक भयावह पूँजीवाद की दूसरी चेष्टा है और वह है सुविधाओं को सुलभ करना। राजसत्ता अथवा अर्थसत्ता साहित्यकार को आतंकित करके ही कर्त्तव्य-विमुख नहीं करती, उसे सम्मानित और विभूषित करके भी करती है, और यह प्रणाली बहुधा अधिक सफल भी होती है। साहित्य की सार्थकता आश्रयदाता के रूप में है, आश्रित के रूप में नहीं। तथाकथित लोकप्रिय शासन-प्रणाली में इसकी सम्भावना बहुत अधिक हो जाती है कि साहित्यकार को सम्पूर्ण मानव के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए, समाज के प्रति कर्तव्य-पालन के लिए, समाजोद्भूत और समाजाश्रित सत्ता से ही संघर्ष करना पड़े, यदि समाजाश्रित सत्ता समाज-परायण नहीं है।

वर्तमान युग-मानव का मानसिक और मास्तिष्किक असन्तुलन विज्ञान की प्रगति और उससे मिली हुई शक्ति का कल्याणकर उपयोग करने की अपनी अक्षमता का परिणाम है। जैसा आलेख में कहा गया है, उस शक्ति को स्वायत्त करने के लिए जो नैतिक, सामाजिक विकास होना चाहिए, वह नहीं हो पाया है। इस परिस्थिति में कलाकार के दायित्व का निर्वाह और भी कठिन हो गया है। पर यह जान या मान लेना कलाकार को इस दायित्व-निर्वहण के लिए तभी समर्थ बना सकेगा जब वह समाज के हित के लिए, समाज के नेत्रोन्मीलन के लिए साहस कर अपनी बदलती हुई मान्यताओं को, बदलते हुए मूल्यों को, प्रतिमानों को ग्राह्य बनाने में प्रयत्नशील हो। यदि समाज अपनी पुरानी मान्यताओं को ही सुरक्षित रखना चाहता है तो चाहे; यदि सत्ता उनकी रक्षा के लिए कटिबद्ध हो तो हो, साहित्यकार झूठे मूल्यों और निष्प्राण मान्यताओं को छोड़ने और नवाविष्कृत सत्य को उद्घोषित करने में अग्रणी होगा। अग्रणी होने में यह निहित है कि वह अनुयायियों का अग्रणी हो, उनके लिए आगे बढ़े—अकेले एवरेस्ट पर पहुँचने की महत्त्वाकांक्षा से नहीं।

मनुष्य को किसी पूर्वनिर्धारित और पूर्वनिर्दिष्ट पथ पर चलने के लिए विवश मानना 'निहित स्वार्थ या कायरता के कारण मनुष्य के प्रति विश्वासघात' करना और उसे इतिहास का निर्माता या नियन्ता मानना उसके साथ न्याय करना, उसके प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करना, उसे समुचित आदर और प्रतिष्ठा देना है। पर यह भी क्या पूर्णतया सत्य है? मनुष्य अपने जन्म का स्थान और समय स्वयं निश्चित नहीं करता। जिस देश और समाज के बीच वह आँखें खोलता है उसका रूप उसके जन्म के पहले ही बन चुका होता है, उसके लक्ष्य निर्धारित हो चुके होते हैं। इन सबके बीच मनुष्य को अपने जीवन की गति-विधि बनानी पड़ती है। यदि वह साहित्यकार है तो भी अन्य व्यक्तियों की तरह वह इसी तरह एक ऐसे देश और काल में अपने-आपको पाता है जिसका चयन उसने स्वयं नहीं किया था। उस समय तक का इतिहास उसने नहीं बनाया था; पर औरों के ए इतिहास के प्रभाव से वह बचा नहीं रहता। मानव-जाति साहित्य से अधिक पुरानी है। साहित्य मनुष्य के सामाजिक जीवन का निर्माण नहीं करता, उसे अधिक परिष्कृत, समृद्ध और प्रबुद्ध करता है। नदी को देखकर हम यह मान बैठते हैं कि उसने अपना मार्ग स्वयं बनाया है; पर क्या यह सत्य नहीं है कि जिधर भूमि का ढाल मिला उसी दिशा में नदी को बहना पड़ा? नदी की गति को तीव्र अथवा मन्द करना, जल के प्रवाह को रोकना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोड़ना या प्रपातों में गिराना देखने में भले ही नदी का अपना काम हो; क्या यह सब भूमितल के ऊँचे-नीचे, ऊबड़-खाबड़ और समतल होने पर निर्भर नहीं है ? साथ ही यह भी भुला देना ठीक न होगा कि नदी का अपना मार्ग बनाने में कोई हाथ नहीं है। जल के प्रवाह की शक्ति और शिलाओं के स्थैर्य में जनवरत, संघर्ष अनिवार्य है; इस संघर्ष के फलस्वरूप या तो बहता हुआ जल शिला के दायें-बायें होकर बह जायगा या शिला को बलपूर्वक सामने से ढकेलकर सीधा बहेगा। यदि भूमितल नीचा होकर नदी को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, तो नदी की धारा भी निरन्तर अपने सबल थपेड़ों से भूमितल को राह देने के लिए विवश भी कर लेती है। किसी एक को दूसरे के पूर्णतया वश में मान लेना वैसी ही भ्रान्ति है जैसे नदी के मार्ग को सदा के लिए निश्चित मान लेना है। नदी प्रगतिशील धारा है, वह अपना मार्ग समय और परिस्थिति की माँग के अनुसार अवश्य ही बदलेगी। इसी प्रकार मनुष्य भी परिस्थिति को मोड़ता, परिस्थिति के कारण स्वयं मुड़ता; निरन्तर नये प्रतिमानों की स्थापना करता और निःसार, पुराने मूल्यों को छोड़ता और बदलता आगे बढ़ता है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य उसे शक्ति और गति देता है, सामूहिक कल्याण में योगदान के योग्य बनाता है। सामूहिक कल्याण की चेष्टा सच्चे और स्वस्थ वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की साधना में अन्तर्निहित है, कहीं बाहर से आरोपित नहीं की जाती। यदि सामूहिक कल्याण की दीपावली में साहित्यकार अपना दीपक सम्मिलित करने से हिचकता है तो वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के रूप में वैयक्तिक पृथक्ता और विलक्षणता की आराधना करता है। जिस अर्थ में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का ही विकसित रूप सामाजिक कल्याण बन जाता है उस अर्थ में, और केवल उसी अर्थ में, वह साहित्यकार का सच्चा दायित्व है—अपने प्रति, अपने कर्म के प्रति और उस परिवेश के प्रति जिसके साथ वह संघर्ष भी करता है और जिससे उसे प्रेरणा भी मिलती है।

उदयशंकर भट्ट

कलाभिव्यक्ति का ध्येय : जीवन की पूर्ण स्वतन्त्रता

यह समस्या सदा से कलाकार के सामने रही है कि साहित्य की निष्पत्ति क्या है, कहाँ तक वह युग-कालीन समस्याओं, वादों और साहित्य के रूपों को ग्रहण करे। फिर भी साहित्यकार का चरम-लक्ष्य 'शिवेतरक्षति' या जीवन के सत्य की उपलब्धि रहा है। आज के युग में जब व्यक्ति और समाज की मान्यताओं का 'अहं' विभिन्न सैद्धान्तिक रूप ग्रहण कर रहा है तथा वादों की दार्शनिक विवेचना ने तर्क की उपपत्तियों और प्रतिपत्तियों को अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दिशाओं में मोड़ दिया है, इस प्रश्न की गरिमा सर्वाधिक है।

किन्तु इस प्रश्न के साथ और भी अंगभूत प्रश्न हैं जिन पर हमें विचार करना होगा। वे प्रश्न यह हैं : लेखक स्वयं क्या है ? क्या वह व्यक्ति है जो अपने सुख-दुःख की उपलब्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अनुभूत प्रेरणा द्वारा दूसरों को रसलुब्ध करता है, अपने आत्मसंकेत, चिन्तन और प्राप्ति-सामर्थ्य का उदात्तीकरण साहित्य को देता है अथवा वह समष्टि का प्रतिनिधि है जिसमें व्यक्ति नहीं समाज का जीवन वाणी पाकर उद्भूत होता है ?

मैं समझता हूँ मनुष्य में साधारणतया तीन प्रकार की चेतना काम करती है। (१) अपने अस्तित्व के प्रति अनुराग, (२) अपनी आकांक्षाओं की तुष्टि का प्रयत्न और (३) समाज-विधान के प्रति दायित्व की चेष्टा। पहली और दूसरी प्रवृत्तियाँ व्यक्ति से स्वयं सम्बन्ध रखती हैं। तीसरी ही समाज-सुधारक, धर्म-प्रवर्तक, नेता, कलाकार को उत्पन्न करती है। यह एक प्रकार की ग्रिगेरियस अर्ज' है जो स्वाभाविक न होते हुए भी मनुष्य के चेतना तन्तुओं में उसके ज्ञान-प्रवाह को उद्वेलित करती है। यही वह प्रेरणा है जिसे प्रारम्भ में मनुष्य ने अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए, अपने पूर्ण सुख की कल्पना में ग्रहण किया था। मालूम होता है दया, क्षमा, स्नेह, क्रोध, ईर्ष्या का जो विकास मनुष्य में हुआ उसमें इसी सामाजिकता की दृष्टि का योगदान है, क्योंकि ये सब कुछ अंशों में अपने लिए होते हुए भी दूसरों के लिए ही अधिक हैं। फिर वाणी का वरदान जो मनुष्य को मिला वह तो निश्चय ही व्यक्तिगत न होकर समाजगत है।

उस दशा में वाङ्मय का प्रयोजन व्यक्तिनिष्ठ नहीं रहता। इसीसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कलाकार या स्रष्टा की अभिव्यक्ति आत्मेतर है, तथाकथित 'स्वान्तःसुख' नहीं। 'स्वान्तःसुखाय' रचना से तात्पर्य केवल इतना ही है कि मूल में वह लेखक को आनन्द देती है, उसे लिखने को प्रेरित करती है जिसमें वह स्वयं रस पाता है। 'स्वान्तःसुख' का 'स्व' वैसे व्यक्तिनिष्ठ या कलाकारनिष्ठ नहीं है। वहाँ 'स्व' आत्मा का अर्थविभु होने के कारण व्यापक हो गया है। यदि केवल 'स्वान्तःसुख' का यहाँ अभिधात्मक वाच्यार्थ ही होता तो वाङ्मय के लिए पाठक की आवश्यकता न होती। तुलसी ही नहीं व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपियर की रचनाएँ उनके प्रणयन के बाद समाप्त हो जातीं या फिर केवल कलाकार की कल्पना में समाप्त हो जातीं।

तब, यह मानना पड़ेगा कि कलाकार या स्रष्टा व्यक्ति न होकर एक समष्टि है। वह जन-जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपनी सृजन की भूख को सन्तुष्ट करने के लिए जो कुछ कहता है उसमें सुख, दुःख, आसक्ति, विरक्ति, अनुराग, द्वेष उसके अपने नहीं हैं, समाज के हैं, या युग के हैं, क्योंकि वह व्यक्ति नहीं है।

मैं लेखक को नेता, अवतार या सुधारक की श्रेणी में भी नहीं रख सकता। उनमें कठोर विधि-निषेध की मर्यादाएँ होती हैं। स्वयं उनका जीवन संयम आदर्श की चरम व्यवस्था होती है, किन्तु कलाकार मानव-समाज के बीच का ही प्राणी है। उसमें आदर्श है तो यथार्थ भी है। स्वर्ग है तो नरक के प्रति उसमें ममता भी है। एक तरह से यों कहना चाहिए कि वह स्रष्टा हमारे सुख-दुःख का साक्षी है; वकील है। वह काँटों की बाड़ से फूलों की रक्षा करता है। यही कारण है जब कि दूसरी जगह अपराधी के प्रति दण्ड की व्यवस्था है तो स्रष्टा के विधान में उसके प्रति ममता। फिर साहित्य का अर्थ यदि जीवन के सौन्दर्य की व्याख्या है, शिव की चरितार्थता है, सत्य का प्रकाश है तो अनादिकाल से निगड़ित मानव-जीवन की सर्वाङ्ग शक्तियों के विकास की प्रेरणा भी है। **जीवन की पूर्ण स्वतन्त्रता उसकी अभिव्यक्ति का एकमात्र ध्येय है।** व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं समाज स्वातन्त्र्य। यही केवल एक दायित्व है जिसे कलाकार वहन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। विभिन्न 'वादों' की सीमाओं में वह अपने को आबद्ध नहीं कर सकता। यह उसे प्राकृतिक निष्ठा के रूप में मिला है जो नदियों ने अबाधित बहकर, मेघ ने बिना किसी अपेक्षा के बरस कर, सूर्य और चन्द्रमा ने सर्वत्र आलोकित होकर उसे दी है। लेखक की स्वयं संयमित और विवेकपुष्ट प्रवृत्तियाँ ही उसका 'सर्व जन हिताय', मार्ग निर्माण करती हैं। वाद वे अंग हैं जो पीछे के लोग स्रष्टा के साहित्य से खोजकर निकालते हैं। यह निश्चय है कि तुलसीदास ने किसी वाद से प्रेरित होकर 'रामचरित मानस' की रचना न की होगी। व्यास ने 'महाभारत' और वाल्मीकि ने 'रामायण' का प्रणयन करते हुए यह न सोचा होगा कि वे किस वाद से प्रेरित होकर लिखें। वाद का साहित्य उसके समाप्त होते ही निर्मूल्य हो जाता है, क्योंकि वे स्वयं अपनी सीमाओं में बँधकर चलते हैं। वाद नश्वर है जबकि साहित्य अनश्वर।

प्रश्न उठता है कि फिर साहित्यकार की मर्यादाएँ क्या हैं। मेरे मत में जन संबुद्ध, विवेकपुष्ट आत्माभिव्यक्ति ही उसकी मर्यादा है। उन्हीं को समेटकर वह जीवन की व्याख्या करता है। 'स्वतः प्रेरणा', जो उसने बाह्य जीवन और अन्तर्दर्शन में आलोड़ित करके अनुभूति के रूप में प्राप्त की है, उसके साहित्य की प्रकाश-स्तम्भ है। उसका साहित्य जीवन की अभौतिक सरिता है जो मानव जाति के साथ-साथ चलता है; भौतिक संघर्षों से उलझती, प्राकृतिक परिस्थितियों से टकराकर विजय प्राप्त करती, अँधेरी गुफाओं में विवेक का प्रकाश फैलाती हुई बहती है। इसीलिए साहित्य यदि युगधाराओं को प्रतिबिम्बित करता है तो वह उन शाश्वत सत्यों की व्याख्या भी करता चलता है जो युग युगान्त से मानव को आलोकित करते रहे हैं। इसीलिए न वह 'ऑन आर्डर' (On order) लिखता है न केवल लिखने के लिए लिखता है। वह जीवन की समस्याओं की कठोर अभिव्यक्ति को जब रोक नहीं पाता तब लिखता है। वह उसकी पीड़ा है, उसके उल्लास का उद्रेक है जो निर्झर की तरह स्वतः प्रवाहित होता है। अतः साहित्य न बाहर का खाकर वाणी के द्वारा उगलना भर है, न पचा जाना ही। वह उस गर्भ की तरह है जो लेखक के मस्तिष्क में चिरकाल तक पनपकर उसे पीड़ित करता हुआ वाणी का शरीर ग्रहण करता है। मैं मानता हूँ कि कलाकार स्वयं नियोजित प्राणी है और स्वयंमुक्त। जीवन की व्याख्या उसकी वाणी है और सत्य की पावन उपलब्धि उसका ध्येय। दर्शन, विज्ञान, धर्म, अर्थशास्त्रों से वह जीवन के उपयोगी सत्य खोजकर मानव का शृंगार करता है। वह मानव की स्वतन्त्रता के लिए ही जीता है और उसी स्वतन्त्रता की खोज में वह समाप्त भी हो जाता है। वह निर्द्वन्द्व है; मुक्त है और प्राण-सायुज्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनेन्द्र कुमार

स्वातन्त्र्य बनाम शहादत

साहित्यकार, स्पष्ट है, कोई अलग या खास आदमी नहीं है। जो उसके बारे में सही है, वही हर के बारे में सही होना चाहिए।

साहित्यकार होने के नाते हम उसकी ओर से बात करें, यह ठीक नहीं, पर वह मानव के पक्ष की बात है।

स्वातन्त्र्य मेरे निकट एक मूल्य है। उपयोग से अलग उसका विचार अवास्तव हो सकता है। यानी स्वतन्त्रता मानव का अधिकार है, इसे कहने में से मुझे विशेष आशय नहीं प्राप्त होता।

उपयोग से हम स्वतन्त्रता का निर्माण करते हैं। दुरुपयोग उसे सीमित करता है और बन्धन डालता है। समीचीन उपयोग उसे फैलाता और व्यक्ति को व्याप्ति देकर उत्तरोत्तर स्वतन्त्र और मुक्त करता है।

दायित्व व्यक्ति का असल में वैयक्तिक और आत्मिक है। यानी वह जीवन में गर्भित है। यहाँ तक कि वह दायित्व के रूप में अनुभव में नहीं आता, स्वभाव-सा लगता है। सच्चे दायित्व का रूप यही है। वह आनन्दमय है। वह स्वतन्त्रता से अभिन्न है। वह सृजनात्मक है। उसका नियम अपने में है। समाज में उसका परिणाम है, प्रतिफल है। आनन्द का उत्स भीतर है, इसी से अनिवार्य है कि उसका प्रवाह बाहर को हो।

दायित्व को सामाजिक कहना परिणाम की ओर से उसे देखना है। उसकी अतिरिक्त-चेतना स्वयं समाज के हित में इष्ट नहीं है।

प्रेम दायित्व नहीं है। किन्तु वही है जो एक को अनेक से जोड़ता है। सम्बन्ध सब वहीं से उगते हैं। उस प्रेम की अनिवार्यता को लेकर जीवन सृष्ट होता है। कह सकते हैं कि जीव का जीवन प्रेम है। इस तरह सामाजिकता व्यक्ति पर आच्छादन नहीं है, उसका सहज विकास और प्रकाश है।

दायित्व कुछ ओढ़ी-सी चीज है। वह वह कर्तव्य है जिसमें रस नहीं भी है। ऐसा दायित्व भीतर कुछ दमित भी छोड़ जा सकता है। उससे व्यक्तित्व विभक्त बनता है। द्वन्द्व उससे निब-टता तो नहीं, उलटे कुण्ठा बनकर गहरे जाता है। स्पष्ट ही इससे समाज में विषमता उपजती है जो समाज के स्वास्थ्य को पनपने नहीं देती।

इस तरह समाज की पृथक् चिन्ता एक असामाजिक कर्म है। उस पद्धति से ऐसा नेता और उद्धारक पैदा होता है, जो समाज पर कब्जा चाहता है, स्वयं उसमें किसी तरह हल नहीं हो पाता। वह एक ऐसा आदर्शवादी पुरुष है, जो मूल में केवल ट्रेजिक है। अर्थात् ओढ़ी हुई समाज-चिन्ता एक गहरा रोग है और रक्त में रमी स्व-रति का चिह्न है। व्यक्ति इस पद्धति से समाज में मुक्त नहीं हो पाता बल्कि उलटे वहाँ गाँठ के मानिन्द होकर अटक बनता है।

समाज के प्रति, यानी अन्य व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति, आन्तरिक विवशता अधिक होनी चाहिए, राजकीय अथवा सामाजिक दायित्व कम। प्रेम धर्म है और उससे बड़ा कोई दायित्व और कर्तव्य नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज का वहीं से आरम्भ है जहाँ व्यक्ति की सीमा है। सीमा पर दोनों का एक-दूसरे के प्रति दबाव है। सीमा सख्त नहीं रहनी चाहिए और जहाँ वह लगभग नहीं है वही स्थिति मोक्ष है। बाहर से चेतना पर पड़ने वाला दबाव जड़ात्मक और हिंसात्मक कहा जा सकता है। भीतर से बाहर की ओर जाने वाला उसका उत्स चिन्मय और अहिंसात्मक होकर ही विकास-साधक हो सकता है।

इन दो जड़ और चेतन शक्तियों के ज्वलन्त संघर्ष में से शहीद सम्पन्न होता है। शहीद जो स्वेच्छा से मरता और अपने ऊपर दूसरे को पूरी, याने मारने तक की स्वतन्त्रता देता है।

अर्थात् स्वतन्त्रता का सही उपयोग सदा उसका देना है। हमारी स्वतन्त्रता—वैयक्तिक, मानवीय और सामाजिक स्वतन्त्रता—इसमें है कि हम गाली न दें। दूसरे शब्दों में यह कि जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम हर किसी को स्वतन्त्र मानें कि वह हमें गाली दे सके।

शहीद जीवन की गति को, उसके नियम को प्रकाशित करता है।

ईसा असंभव हो जाय, अगर समाज का व्यक्ति को समाप्त करने का अधिकार अनधिकृत ठहरा दिया जाय।

वह अधिकार अत्यन्त प्रकृत है। शेर का अपने शिकार पर अधिकार तब तक रहेगा जब तक वह शेर है। इसलिए हिंसा के अधिकार का प्रश्न नहीं है। वह प्रकृति में ही गर्भित है और सदा रहेगा। असल में हिंसा अधिकार ही अधिकार है। और अधिकार की कोई चेतना सर्वथा हिंसा से शून्य नहीं है।

किन्तु यह तो प्रकृति हुई। इस भूमिका से तो संस्कृति का मात्र आरम्भ है। प्रश्न यहाँ से शुरू होता है। और संस्कृति की ओर से देखने पर स्वतन्त्रता वह अधिकार हो जाता है, जो हम सबको देते हैं। यानी हमारे लिए वह अधिकार से अधिक है, अर्थात् कर्तव्य है।

व्यक्ति का अधिकार शहादत है। सच में यज्ञ ही धर्म है। इसमें से जीवन का परम नियम सत्याग्रह प्राप्त होता है।

सत्याग्रह व्यक्ति की ओर से विनम्र ही हो सकता है। यानी दूसरी ओर से वह हत्याग्रह और हठाग्रह के अधिकार को इस रूप में स्वीकार करता है, कि स्वयं उसे नहीं अपनाता।

सत्याग्रह के स्वीकार में व्यक्ति को समाज से प्रथमता मिल जाती है। यह प्रथमता समाज की गति और विकास के लिए परम् मूल्यवान वस्तु है। असामाजिक तो यह है ही नहीं, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि समाज-मंगल के अर्थ में यह और भी अभीष्ट मूल्य है।

समाज के त्राता वे ही समझे गए हैं, और समझे जायँगे, जो अपने प्रेम को इन्कार नहीं कर सके हैं, यहाँ तक कि समाज ने चाहे अपने हाथों उन्हें उसके लिए मृत्यु ही दी। यह मृत्यु जीवन का प्रतीक बनकर इतिहास को प्रकाश देती रही है।

इस प्रथमता का स्पष्ट आकार यह है कि समाज अन्त में एक परिमाण है, अन्तःकरण उसमें नहीं है, है तो वह व्यक्ति ही है।

सामाजिक दायित्व—यह संज्ञा स्वयं व्यक्ति ही उत्पन्न कर सकता है। समाज की ओर से पड़ने वाले दबाव को दायित्व के रूप में लेने की सम्भावना अन्त में व्यक्ति के ऊपर ही टिकती है। अन्दर उसके प्रेम है, तभी वह उसे अत्याचार न कहकर दायित्व कहता है। अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज की ओर से उसका रूप केवल दबाव का है। व्यक्ति अपनी आन्तरिक क्षमता से उस दबाव को उठाता ही नहीं, बल्कि स्वेच्छापूर्वक उसे अपनाता है। इसमें स्वयं व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की स्वीकृति है।

समाज धारणात्मक संज्ञा है। आजकल उसका रूप राष्ट्रीय है, क्योंकि मानव-जाति की व्यवस्था राष्ट्र-राज्य की परिभाषा में चलती है। स्पष्ट यह ऐसी सीमित धारणा है कि व्यक्ति अपनी समस्त अनुभूति और संवेदना को लेकर उसमें बन्द नहीं हो सकता। उसकी बाह्य इन्द्रियाँ तक उसे अखिल के सम्पर्क में लाती हैं। सूरज वह देखता है, चाँद तारे देखता है, और आकाश देखता है जो अगाध है और सदा पूर्ण है। उसका विज्ञान ब्रह्माण्ड को उसके निकट सतत खोलता और अनन्त बनाता जाता है। इस सबसे कटकर अमुक समाज में बँधकर वह रहना चाहे भी, तो यह उसके बस का काम नहीं है। अखिल के प्रति उसका सम्बन्ध सबसे प्राथमिक रहने ही वाला है। प्रसन्न स्वीकृति का सम्बन्ध आस्तिकता से है, रुष्ट स्पर्द्धा का होने पर वही नास्तिकता है। पर दोनों सामाजिकता की दृष्टि से एक-से उत्तीर्ण (Transcendental) हैं। और दोनों ही अनन्य रूप में प्राथमिक हैं।

शहीद इस प्राथमिक के सम्मान में गौण सापेक्ष को किनारा दे रहता है, तो यह सापेक्ष की अप्रतिष्ठा नहीं है, बल्कि किंचित् उसकी सेवा ही है।

शहादत को मैं अन्तिम मूल्य मानता हूँ। इसीसे कहता हूँ कि स्वतन्त्रता मेरे निकट मूल्य ही है। यानी उसको अपनाकर, अपने को उसमें देकर, हमें उसे परिपूर्ण ही करते जाना है। जिससे समाज बलिदान पाए तो कुंठित और दमित व्यक्तियों का नहीं, वरन् उसे प्रसन्न आत्म-दान मिले, आहुत व्यक्तित्वों का। ऐसे वह उत्तरोत्तर भरपूर और निश्वासन होता जाय।

भगवतीचरण वर्मा

बौद्धिक स्वातन्त्र्य, बौद्धिक अराजकता नहीं !

जो प्रश्न इस परिपत्र में उठाया गया है, उसे उठाने की इस समय कोई विशेष आवश्यकता न थी, ऐसा मेरा मत है। फिर भी जब आपने यह प्रश्न उठाकर इस पर मेरा मत माँगा है, मैं अपना दृष्टिकोण आप लोगों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

साहित्य का कुछ उद्देश्य है या नहीं, यह प्रश्न अनादि काल से साहित्यिकों के सामने रहा है। 'स्वान्तःसुखाय' अपनी महान् कलाकृति का उद्देश्य प्रकट कर तुलसीदास ने कवि की स्वतन्त्र-सत्ता को घोषित किया है—ऐसी स्वतन्त्र-सत्ता को जो न बिकने को तैयार है और न प्रशासित होने को तैयार है।

लेकिन अर्थ का साहित्य में ही नहीं, हमारे जीवन के प्रत्येक अंग में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। तुलसी आदि सन्त कवियों को छोड़कर सामन्त युग के जितने कवि थे वे सब राज्याश्रय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में थे। उन्होंने अपने साहित्य को लिखते समय इस बात का ध्यान रखा कि जिससे उनको आश्रय मिलता है, उसको वे सन्तुष्ट रखें।

जहाँ अर्थ-व्यवस्था को हमें स्वीकार करना है वहाँ कला के सृजन का एक गौण उद्देश्य अर्थ का उपार्जन होगा ही। किसी राजा की स्तुति गाकर यह अर्थ उपार्जित किया जाता है या जनता की कुछ प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करके जनता में अपनी कृतियों के प्रति मोह पैदा करके यह अर्थ उपार्जित किया जाता है, यह एक ही बात है।

फिर साहित्यकार को यह स्वतन्त्रता तो रहती ही है कि वह जिस प्रकार का साहित्य चाहे लिखे। 'स्वान्तःसुखाय' ध्येय मानकर साहित्य की रचना की जा सकती है और वास्तविक प्रतिभावान साहित्यिक के हाथ में जनता का भावनात्मक नेतृत्व रहता ही है। आज जो राजसत्ताएँ साहित्य की धाराओं पर अपना पूर्णाधिकार चाहती हैं तथा साहित्यिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अपहरण करना चाहती हैं, वह प्रवृत्ति ही गलत है, क्योंकि वे राजसत्ताएँ साहित्यकार से क्षमता का भावनात्मक नेतृत्व छीनकर साहित्यकार को अपना साधन बनाना चाहती हैं।

मैंने सदा से इस वृत्ति का विरोध किया है और इसके लिए मैं लांछित भी किया गया हूँ। पर मैं समझता हूँ कि वह प्रवृत्ति नष्ट हो चुकी है और उस पर कुछ कहना-सुनना बेकार है। मानव-विकास मनुष्य की बौद्धिक स्वतन्त्रता पर ही निर्भर है, बौद्धिक स्वतन्त्रता को अपहरण करने का सिद्धान्त मानव-विकास के सिद्धान्त के विरुद्ध है, इसलिए यह सिद्धान्त खड़ा ही नहीं रह सकता।

इस स्थान पर एक बात की ओर मैं और संकेत करना चाहूँगा। बौद्धिक स्वतन्त्रता और बौद्धिक-अराजकता में कुछ अन्तर है। यह 'स्वान्तःसुखाय' समाज-विरोधी न हो जाय इस पर हमें ध्यान रखना पड़ेगा। बौद्धिक अराजकता मानव-विकास में उतनी ही हानिप्रद है जितनी यह बौद्धिक गुलामी है।

सम्मतियाँ

मन्मथनाथ गुप्त

मैं विश्वास करता हूँ कि लेखक के लिए स्वतन्त्रता उतनी ही आवश्यक है जितना जीवित शरीर के लिए आक्सिजन। इस सम्बन्ध में दो रायें नहीं हो सकतीं। लेखक कोई आटोमैटन नहीं है, जिसको नचाने का सूत्र किसी गिरोह के हाथ में हो। पर दुःख तो यह है कि स्वतन्त्रता शब्द की व्याख्या निरपेक्ष रूप से (absolute terms में) नहीं हो सकती। उसकी व्याख्या तुलनात्मक रूप से ही हो सकती है। उदाहरणस्वरूप मेरी स्वतन्त्रता की व्याख्या मेरे पड़ोसियों-परिजनों, अन्य लेखकों, कलाकारों, जिस समाज में मैं रहता हूँ, इन सबके साथ मिलाकर तुलनात्मक रूप से ही हो सकती है और चूँकि किसी की स्वतन्त्रता की व्याख्या तुलनात्मक रूप से की जा सकती है, इस कारण उसकी स्वतन्त्रता उस हद तक सीमित भी हो जाती है। केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पागल को ही निरवच्छिन्न स्वतन्त्रता मिल सकती है, पर नहीं, उसे भी नहीं मिल सकती, क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता चिल्लाने, रोने, ऊधम मचाने में अपने शरीर की सामर्थ्य तथा अन्य बातों से सीमित होती है। मैं साहित्यकार के व्यक्तिगत तथा विचारगत स्वातन्त्र्य के पक्ष में हूँ। पर मैं इस स्वतन्त्रता की सीमाओं से परिचित हूँ तथा उनको मानता हूँ। टालस्टाय ने 'क्रायटसेर सोनाटा' नामक रचना के एक पात्र से यह कहलवाया था कि संगीत ऐसी सूक्ष्म कला का भी उपयोग वैयक्तिक खाम ख्याली पर छोड़ना खतरे से खाली नहीं, फिर लेखन-कला को ही निरवच्छिन्न रूप से स्वतन्त्र कैसे होने दिया जा सकता है। यह तो मैं पहले ही दिखा चुका, निरपेक्ष स्वतन्त्रता पागल को भी नहीं मिल सकती, फिर अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा स्वार्थों और संस्कारों से शासित अतएव सीमित, समाज में रहने वाले प्राणी लेखक को ही निरपेक्ष स्वतन्त्रता कैसे मिल सकती है।

इस विषय पर मैं बहुत अधिक लिख चुका हूँ और मेरे एतत्सम्बन्धी लेख 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' तथा 'साहित्य कला समीक्षा' में प्रकाशित हैं। १९५३ में 'कल्पना' में इस विषय पर मेरा एक वादविवाद भी चला था। मैं यहाँ आलेख की आलोचना नहीं करूँगा। उसमें बहुत-सी बातें ग्राह्य हैं, बहुत-सी त्याज्य। संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि यह आलेख परस्पर-विरोधी मान्यताओं, अस्पष्ट चिन्तन तथा आत्मगम्भीरतापूर्ण कथनों का एक शिथिल संकलन है। उस आलेख के लेखक बराबर ऐसे शब्द प्रयुक्त करते हैं, जिनकी पग-पग पर व्याख्या की जरूरत है। मुझे तो आश्चर्य है कि विद्वानों ने इसे इस योग्य क्यों समझा कि उसे आधार मानकर विचार प्रकट किये जायँ।

यशपाल

इस गहन और विवादास्पद विषय पर सन्तोषजनक ढंग से पूरी बात एक ही दिन में लिख सकना मेरे लिए सम्भव नहीं। मैं साहित्यकार के व्यक्तिगत और विचारगत स्वातन्त्र्य के पक्ष में अवश्य हूँ। मैं इस स्वतन्त्रता को लेखक के सामाजिक दायित्व का अनिवार्यतः विरोधी भी नहीं मानता। परन्तु इस प्रकार सूत्र रूप से कही गई बातों की व्याख्याएँ प्रायः ही विवादास्पद हो जाती हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक दायित्व स्वतः पूर्ण वस्तुएँ नहीं हैं। वे सापेक्ष हैं और अन्य सभी सामाजिक समस्याओं से उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

लेख में मौलिक मान्यताओं के रूप में जो बातें रखी गई हैं, अधिकांश में मुझे ठीक ही जान पड़ती हैं। परन्तु उनके निष्कर्षों में कहीं-कहीं अन्तर्विरोध की भी झलक मिलती है।

विजयशंकर मल्ल

१. प्रस्तुत आलेख का सामयिक महत्त्व इस बात में है कि उसने एक अतिवादी विचार पर दूसरे सीमान्त से आक्रमण किया है। इससे सन्तुलित दृष्टिकोण के लिए एक वातावरण उपस्थित हो सकता है।

२. पूरे आलेख में लेखक के निर्बन्ध 'स्वातन्त्र्य' और उसके 'मौलिक विवेक' की जिस रूप में चर्चा की गई है वह 'अराजकता' की सीमा तक पहुँच गई है।

३. साहित्य-रचना (सामाजिक या आर्थिक क्षेत्र की बात नहीं) के क्षेत्र में 'व्यक्ति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वातन्त्र्य' का दो-टूक विवेचन अत्यन्त कठिन है। उसका अनुभव या कल्पना अधिक सुगम है, कोई भी लेखक या 'व्यक्ति' न तो पूर्णतः स्वतन्त्र हुआ है न होगा। पर साहित्य के क्षेत्र में सम्प्रति सीधे-सादे मनुष्य की जगह 'राजनीतिक मनुष्य', 'सामाजिक मनुष्य', 'मनोवैज्ञानिक मनुष्य' दिखलाई देते हैं। सामाजिक या राजनीतिक मनुष्य = ०। मनोवैज्ञानिक मनुष्य = ०। ऐसी स्थिति में बाह्य शृङ्खलाओं (प्रभावों से नहीं) से रचनाकार या व्यक्ति की मुक्ति या स्वतन्त्रता अवश्य ईप्सित है।

४. मानव के विकास की असीम सम्भावनाओं के विषय में जो बातें कही गई हैं वे विशेष रूप से समर्थनीय हैं।

५. साहित्य का मौलिक प्रतिमान 'स्वाधीनता ?' कि मानव-प्रेम ?

६. उपर्युक्त विषयों और प्रसंगों के अतिरिक्त (आलेख में व्यक्त) अन्य विचारों से मैं अपने को सहमत पाता हूँ।

डॉ० नगेन्द्र

कवि कलाकार के व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के विषय में मेरे विचार सर्वविदित हैं। कला का मूल उद्गम है मानव-मूल्यों में गहन आस्था। और मानव-मूल्यों का विश्वासी सच्चा कलाकार किसी भी स्थिति में असामाजिक प्रवृत्ति का शिकार नहीं हो सकता। हाँ उसे समझने के लिए गहरी जीवन-दृष्टि होनी चाहिए; स्थूल उपयोगितावादी मानदण्डों से उसका मूल्यांकन नहीं होगा।

नलिन विलोचन शर्मा

परिमल की यह उद्बाहु घोषणा विपर्यस्त साहित्यिक वातावरण के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी। साहित्य के क्षेत्र में राज्य ठूँठ बने, इसकी अगवानी के लिए अस्थायी अधिनायकवाद, वह किसी पार्श्व या रंग का हो, नितान्त अनावश्यक है। हमें अराजकता को अपना वह सहज प्राप्य लक्ष्य बनाना उचित है जिसका स्वप्न ही राजनीतिक क्षेत्र में देखा गया है।

एक महत्त्वपूर्ण बात और है कि जिस पर आपने विशेष बल नहीं दिया है। साहित्यकार को अपनी स्वतन्त्रता का मूल्य स्वयं समझना आवश्यक है। बहुधा साहित्यकार ही माँग करता पाया जा रहा है कि अमुक प्रकार के साहित्य पर सरकार प्रतिबन्ध लगाए। सरकार ने साहित्य में, दुर्भाग्य से, कहीं सचमुच इस प्रकार की दिलचस्पी दिखाई तो साहित्य के बुरे दिन आए ही समझिए। बुढ़िया का मरना बुरा हो या नहीं, लेकिन मौत घर न देखे, इसी में कल्याण है।

राजनीतिक विचार-धाराओं की वागुरा और राजकीय प्रतिबन्धों की सुरक्षा, दोनों से ही खतरा है। प्रसन्नता की बात है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करने का आयोजन हो रहा है।

सुमित्रानन्दन पंत

मैं आलेख में प्रस्तुत स्थापना से पूर्णतः सहमत हूँ। एक जाग्रत तथा आत्म-चेतन कलाकार के लिए उसका वैयक्तिक स्वातन्त्र्य तथा उसका सामाजिक दायित्व आत्मा तथा मन की तरह सम्पृक्त तथा अभिन्न है। प्रस्तुत स्थापना आज के युग की पृष्ठभूमि को अतिक्रम कर एक स्थायी सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर संकेत करती है। मानव-जीवन का सत्य विकासशील है। व्यक्ति और समाज दोनों ही उसके अविच्छिन्न अंग हैं। इनको दो अन्योन्याश्रित सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार करने से ही हम उन पर न्याय कर सकते हैं। व्यक्ति और समाज का युगपत् एवं अभ्युदय विकास ही उन्हें सार्थकता प्रदान कर सकता है। जिस प्रकार गुणात्मक सत्य का मूल्यांकन व्यक्तित्व के रूप में होना ही सम्भव है इसी प्रकार उसका राद्यात्मक संयोजन समाज के ही रूप में कृतार्थता पाता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत स्थापना अथवा प्रस्तावना में जिस असीम संभावनाओं युक्त सम्पूर्ण मनुष्य की ओर इंगित किया गया है उसे साहित्य की सृजनशील भूमि में अवतरित एवं प्रतिष्ठित करने के लिए प्रबुद्ध कलाकार का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य तथा उसका सोद्देश्य सामाजिक दायित्व का संबोध दोनों ही अनिवार्यतः आवश्यक मौलिक मूल्य हैं, जिनके सर्वांगीण संरक्षण एवं परिपूर्ण समन्वय पर ही मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना की प्रगति निर्भर है।

विनयमोहन शर्मा

साहित्यकार की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा का मैं घोर समर्थक हूँ। साहित्यकार युग से ही निर्मित नहीं होता वह युग-निर्माता भी होता है। वह किसी भी सत्ता का अनुगामी नहीं होता। जब-जब उस पर नियन्त्रण लगाए जाते हैं, उसमें विद्रोह जागृत होता है और वह मुक्त वातावरण में साँस लेने के लिए छटपटा उठता है। उसका साध्य मानव की पूर्णता का दर्शन कराना है अतएव वह अपने साधन (साहित्य) में उन सब उपकरणों का स्वागत करता है जो उसे साध्य तक पहुँचा सकें। वह सामयिक नारों में विश्वास नहीं करता।

मानवता का विकास उसकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति को उचित गति देता है। मानव-विकास की चिन्तना ही उसकी नैतिकता और आध्यात्मिकता है। उसके पूर्ण विकास में ही व्यष्टि और समष्टि का अभ्युत्थान निहित है। इसी शिवत्व की भावना को लेकर उसकी साधना अग्रसर होनी चाहिए।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

आलेख के विषय को यदि मैं ठीक से समझ सका हूँ तो उसका केन्द्रीय भाव यह है कि राजसत्ताओं के नियन्त्रण से कलाकार किस प्रकार मुक्त हो जिससे वह अंतरंग संयम और स्वातन्त्र्य से प्रेरित होकर मानववादी कला का सृजन कर सके। यह समस्या वास्तविक है।

इस समय प्रत्येक प्रकार की राजसत्ताएँ ज्ञान, साहित्य और कला का उपयोग अपनी शक्ति बढ़ाने में करना चाह रही हैं। वैज्ञानिक राजसत्ताओं के लिए खोज कर रहे हैं। साहित्यिकों को अनेक प्रकार के पुरस्कार वितरित करके राजसत्ताएँ अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखना चाह रही हैं। शिक्षा के केन्द्रों को राजसत्ताएँ सीधे अपने नियन्त्रण में ले लेना चाहती हैं। प्राचीन शब्दावली के प्रयोग को यदि क्षमा किया जाय तो राजन्य-वर्ग ब्राह्मण से शासित न होकर उस पर शासन करना चाहता है। यह स्थिति मानव के लिए सदा भयावह रही है।

मेरी समझ में इस स्थिति को सँभालने का एकमात्र उपाय स्वयं कलाकार का अंतरंग संयम और स्वातन्त्र्य है। यदि कलाकार अपने स्वार्थों से ऊपर उठ सके तो राजसत्ता का नियन्त्रण उस पर नहीं चल सकता है। यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि राजसत्ता के हाथ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक प्रकार के आलोभन देने के उपाय रहते हैं—धन का प्रलोभन, यश का प्रलोभन, शक्ति का प्रलोभन, मान का प्रलोभन इत्यादि। जिस समय कलाकार इन प्रलोभनों की माया से अपने को मुक्त कर सकेगा उसी समय वह राजसत्ताओं से नियन्त्रित न होकर अनजाने राजसत्ताओं का नियन्त्रण करने में समर्थ हो जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

रघुवंश

हिन्दी-साहित्य के नये यात्री

आधुनिक युग में संस्मरण-साहित्य का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। अनेक राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक तथा साहित्यिक क्षेत्र के प्रसिद्ध व्यक्तियों ने अपनी जीवनियाँ तथा संस्मरण लिखे हैं। इन माध्यमों से इन्होंने अपने युग, उसकी परिस्थितियाँ तथा समस्याओं को अपने व्यक्तित्व को केन्द्र में रखकर छुआ है। विभिन्न कोटि का यात्रा-साहित्य संस्मरण-साहित्य का अंग ही है, परन्तु उसकी अपनी विशेषताएँ भी हैं जो उसको साधारण संस्मरण-साहित्य से अलग करती हैं। संस्मरणों में लेखक जिन घटनाओं, परिस्थितियों और चरित्रों को प्रस्तुत करता है, उनको वह अपेक्षाकृत अधिक व्यापक सीमाओं में ग्रहण करता है और उनसे उसका प्रगाढ़ परिचय होता है, जबकि यात्रा-साहित्य के अन्तर्गत आने वाले चरित्र और परिस्थितियाँ अपनी हल्की रेखाओं में ही उभरती हैं। यात्रा की गति में, जीवन के चित्रों में, आन्तरिक संवेदना तथा अन्तर्दृष्टि तो सम्भव है, पर परिचय की प्रगाढ़ता के लिए गुंजाइश कम है। साथ ही यदि यात्री का प्रधान उद्देश्य यात्रा न रहकर विवरण प्रस्तुत करना मात्र रह जाय तो उसके साहित्य को यात्रा-साहित्य कहना व्यंग-मात्र है। यात्रा-साहित्य में गीतकार कवि का भावावेश होता है और साथ ही निबन्धकार की स्वच्छन्द मस्ती भी आवश्यक है। 'यात्रा को जो आकर्षण मानकर नहीं चलता, मस्ती के साथ निश्चिन्त होकर जो यायावर नहीं बनता, जिसे आगे की सीमाएँ, क्रमशः आगे की ही ओर बरबस खींचती नहीं रहतीं, वह यात्रा करके भी यात्री कहलाने का अधिकारी नहीं।'[1]

साहित्यिक यायावर देश-काल की सीमाओं में, जीवन और प्रकृति के अन्दर बैठकर गहरी अनुभूति प्राप्त करता है और उसको असम्पक्त तथा निःसंग भाव से व्यक्त करता है। वह अपने चतुर्दिक फैले हुए जीवन को छूता हुआ अग्रसर होता है, उससे प्रतिक्रियाएँ ग्रहण करता है, संवेदित होता है, पर बँधता नहीं। मोहन 'राकेश' की यात्रा-पुस्तक (आखिरी चट्टान तक) और राजवल्लभ ओझा की 'बदलते दृश्य' में साहित्यिक अभिरुचि और शैली का सफलता-पूर्वक प्रयोग हुआ है, यद्यपि दोनों का भेद भी स्पष्ट है। मोहन 'राकेश' ने कहानीकार की

१. लेखक का 'हिन्दी यात्रा-साहित्य' नामक लेख द्रष्टव्य (आलोचना १२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदनीयता और अन्तर्दृष्टि से जीवन को ग्रहण किया है, जबकि राजवल्लभ ओझा ने पत्रकार की प्रभावोत्पादक शैली में जीवन की स्थितियों-परिस्थितियों पर विचार किया है। राकेश जी का स्वर समान रूप से साहित्यिक यायावर का रहा है, इसी कारण उनके चित्रों में स्थानों के विवरणों का आग्रह बिलकुल नहीं है। उन्होंने केवल जीवन को ग्रहण किया है, वह जीवन चाहे प्रकृति का हो, वातावरण का हो, अथवा विभिन्न चरित्रों का हो। परन्तु ओझाजी का प्रयत्न स्वाभाविक रूप से यह रहा है कि वे देश का व्यापक और विस्तृत परिचय दे सकें, स्थानों का विवरण प्रस्तुत कर सकें, और व्यापक जीवन का स्वरूप यथार्थ रूप में चित्रित कर सकें। चरित्रों को वे भले ही उभार न सके हों, किसी स्थिति को भले ही वे अधिक संवेदित न कर सके हों, पर उन्होंने अपनी यात्रा के देशों तथा नगरों के सामान्य जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण ही नहीं प्रस्तुत किया है, वरन् उनको अनेक बार सजीव कर दिया है। विभिन्न स्थानों, संग्रहालयों तथा पुस्तकालयों के बड़े उपयोगी विवरण इनकी पुस्तक में मिलते हैं। इन दोनों यात्रियों की शैली में एक सामान्य अन्तर यह भी है कि राकेश जी ने संस्मरणात्मक रेखाचित्रों की शैली अपनाई है जबकि ओझाजी ने डायरी शैली में यात्रा के विवरण प्रस्तुत किये हैं।

मोहन 'राकेश' में 'वांडर लस्ट' भावावेश के रूप में है। यह परम पिपासा सभी यात्रियों की सामान्य विशेषता है। वे स्वयं प्रारम्भ में लिखते हैं—"मुझे लगता है (इस प्रकार जो चित्र मन में उभरते हैं) बहुत पहले पढ़ी हुई यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों के किन्हीं अंशों की छाप हैं, जिन्हें मैं वैसे भूल चुका हूँ। ऐसे चित्रों का बार-बार सामने आना मेरे एक मित्र के कथनानुसार वांडर लस्ट का द्योतक है, जो कुछ अस्थिर स्वभाव के मनुष्यों में पाई जाती है। घुमक्कड़शास्त्री को देश-देश का राशि-राशि सौन्दर्य निरन्तर अपनी ओर खींचता रहता है।" हमारे इस यात्री के मन में जीवन के साथ प्रकृति का कम आकर्षण नहीं है। पश्चिमी घाट की प्रकृति के चित्र पूना एक्सप्रेस की खिड़की से निरन्तर गतिशील हैं—"गहराई एक ओर से ऊपर को उठने लगती और पहाड़ी का रूप ले लेती। पहाड़ी का शिखर एक ओर से बैठने लगता और एक घाटी में बदल जाता। मिट्टी पानी को स्थान देकर हट जाती और पानी उभरी हुई चट्टानों के लिए स्थान कर देता।" इसी प्रकार जहाज पर सागर के उभरते हुए रंगों का चित्र लेखक भावुक कल्पना के साथ प्रस्तुत करता है—"संन्ध्या हो चुकी थी; समुद्र के पानी का रंग उस समय सुरमई दिखाई दे रहा था। अँधेरा उतर रहा था। लाइट हाउस से पीछे दिशा का रंग हल्का रुपहला-सा सुरमई हो गया था। उस आकाश की पृष्ठभूमि के आगे उठी हुई उस बत्ती का चमकना और ओझल हो जाना ऐसा लग रहा था जैसे कौंधती हुई बिजली को एक मीनार में बन्द कर दिया गया हो और वह उस मीनार में छटपटा रही हो।" अन्यत्र सागर-तट पर बदलते हुए विभिन्न रंगों के मिश्रण को लेखक ने कोमलता के साथ प्रस्तुत किया है। मलबार तट की सघन हरियाली यात्री को अभिभूत करती है और फेरी यात्रा के प्रसंग में पक्षियों की जल-क्रीड़ा मनोरम है।

लेखक ने विभिन्न स्थानों की विशेषताओं को परिस्थितिजन्य वातावरण के रूप में चित्रित किया है। अपने मित्र के चरित्र के माध्यम से उन्होंने बम्बई के व्यावसायिक जीवन को एक संकेत-मात्र से उभार दिया है—"पूरे दो वर्ष बाद अचानक मुझे सामने देखकर धर्म के चेहरे पर वैसा ही भाव आया जैसे रोज दिखाई देने वाले किसी चेहरे को देखकर आ सकता है। यह उदासीनता भी बम्बई के जीवन की विशेषता है। धर्म ने मुझे बैठाया, बिना पूछे कि मैं पानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिऊँगा या कुछ और, नौकर से चाय लाने के लिए कह दिया और आप सट्टा बाजार के भाव पूछता रहा।' पंजिम के गुजराती लॉज की रात का जो वर्णन लेखक ने अपनी नींद के बीच किया है उससे जीवन के सम्बन्ध में उसकी गहरी अन्तर्दृष्टि मिलती है। स्थल-स्थल पर इस प्रकार के संकेत यात्री देता चलता है जिनसे स्थानीय जीवन का रूप सामने उभर आता है। इस स्थानीय जीवन का सामान्य चित्रण भी यात्री पूरी सहानुभूति के साथ करता है। वह बिखरे हुए जीवन में मानव-तत्त्व को पहचानने का निरन्तर प्रयत्न करता है। पूना स्टेशन पर अपाहिजों को देखकर उसका मन संवेदित हुआ है। (यह विशेष श्रेणी भी हमारे यहाँ मनुष्यों की एक परिचित श्रेणी है। इनकी विशेषताएँ हैं, काली रूखी पड़ी चमड़ी, सूखे-से हाथ पैर, किसी के बड़े-बड़े उलझे हुए बाल और बढ़ी हुई दाढ़ी, किसी के चीथड़े-चीथड़े वस्त्र, किसी के गले हुए अंग, किसी की लाल-लाल आँखों की विक्षिप्त-सी मुद्रा और फिर सबके रोम-रोम में एक ही भावपूर्ण शैथिल्य।) इस प्रदेश की सुकुमारता, सुन्दरता, गरीबी, सुघड़ता आदि ने समान रूप से लेखक के मन को छुआ है। कहीं यात्री के सामने नारी-सौन्दर्य आता है—'प्रकृति मलबार में जिस शरीर-सौन्दर्य की रचना करती है, उसे गठन, तराश और उठान की दृष्टि से आदर्श कहा जा सकता है। पतली त्वचा, सुन्दर आँखें और अजन्ता की मूर्तियों के-से होंठ, ये विशेषताएँ भी यहाँ विशेषताएँ नहीं, शरीर-सौन्दर्य की सामान्यताएँ हैं।' पर इस सौन्दर्य की ओर दृष्टि डालते समय लेखक जीवन के अन्तराल में भी पैठता है—"बहुत से चेहरों पर अभाव की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। यह स्पष्ट लगता है कि प्रकृति के उस सुन्दर निर्माण में कोई मैली चीज हस्तक्षेप कर रही है।" रूप और भाव के साथ यात्री का ध्यान वेश की ओर भी जाता है। कालीकट की स्त्रियों की वेशभूषा का वर्णन वह इस प्रकार करता है—"एक युवती कुछ गौओं को लिये ऊपर सड़क की तरफ आ रही थी। उसका वेश—दूध की तरह सफेद तहमद, चोली और पटका। पटका बाँधने का उनका विशेष ढंग है। गज भर का सफेद कपड़े का टुकड़ा लेकर एक ओर के दोनों सिरों को तो वे सिर पर पीछे की ओर गाँठ दे लेती हैं और दूसरी ओर के सिरे खुले छोड़ देती हैं।"

अपनी रेखा-चित्र-शैली के कारण राकेश जी को सबसे अधिक सफलता चरित्र और व्यक्तित्वों के निर्माण में मिली है। इस यात्रा-प्रसंग के जीवन क्रम में अनेक चरित्र यात्री के सम्पर्क में आये हैं। इन नानाविध चरित्रों से हमारे लेखक ने सबसे अधिक प्रेरणा ग्रहण की है। प्रारम्भ में आकस्मिक रूप से वह भोपाल स्टेशन पर अपने मित्र के साथ उतरकर भोपाल ताल पर नौका में शाम बिताता है और वहाँ उसे अब्दुल जब्बार पठान जैसे सजीव व्यक्ति के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। हमारा यात्री सदा सामान्य, साधारण तथा निरीह को ही महत्त्व देता है, इसी कारण उसके सभी चरित्र सामान्य जीवन के हैं। इस मौजी पठान के लिए—"गुनाह का ताल्लुक इन्सान की रूह के साथ है, जान के साथ नहीं। मैं किसी की आबरू लेता हूँ, किसी को जलील करता हूँ, किसी को लूटता हूँ, तो उसकी रूह को सदमा पहुँचाता हूँ। यह गुनाह है। अगर मैं किसी खबीस की जान लेता हूँ तो एक नापाक रूह को आजाद करता हूँ। यह गुनाह नहीं।" इस प्रकार के इस पठान को सामान्य मानकर भी कौन विशिष्ट नहीं स्वीकार करेगा। रेल-यात्रा के शरणार्थी लड़के के चरित्र में भोलेपन के साथ लेखक ने करुणा की सृष्टि की है। लेखक बहुत हल्के स्ट्रोक्स से चरित्रों को उभारने में अत्यन्त कुशल है। गोआनीज फर्नांडिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिपिकिल नौकरशाही का व्यक्ति है, पर उसके चरित्र को भी इस वाक्य के साथ स्पष्ट कर दिया गया है—'चीपर स्लोगन्स एन्ड हायर प्राइसेज़, दैट इज़ ह्वट ऐन ऐवरज गोआनीज़ विल गेट आऊट आफ दिस मेजर बट आइल वोट फार इण्डिया आल दि सेम।' यह मनोवृत्ति बिलकुल स्वतन्त्रता पूर्व भारतीय नौकरशाही जैसी ही है। पादरी के गुलाम किसान फ्रेड के निश्छल जीवन और मूर्त्तियों के व्यापारी तथा फादर डिसूज़ा के चरित्र से हमारे यात्री ने ईसाई जीवन को प्रस्तुत करने के साथ उनके आर्थिक वैषम्य पर व्यंग्य भी किया है। मूर्त्तियों का धर्मनिष्ठ व्यापारी जब अपने दिन-भर भूखे रहने का कारण गिरजा न जाने का दण्ड कहता है, उस समय यात्री अनायास कह उठता है—"परन्तु मैं उस समय उस मूर्तियों के व्यापारी के विषय में सोच रहा था, जो रात में सर्मन देने गया था, और चाबी अपने साथ लेता गया था।"

अपेक्षाकृत हुसैनी तथा पंजाबी भाई नन्दलाल कपूर के संस्मरण अधिक लम्बे हैं और इन दोनों के चरित्रों को लेखक ने अधिक पूर्णता के साथ उपस्थित किया है। हुसैनी मस्त है पर भावुक भी; उसके माध्यम से लेखक ने निम्न मध्यवर्ग के एक व्यक्ति की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को भी उठाया है। कपूर का व्यक्तित्व कभी मनोरंजक है और आकर्षक शैली में प्रस्तुत भी किया है। इनके अतिरिक्त चाय के बगीचे का मज़दूर गोविन्दन, मातृभक्त श्रीधरन और कलाकार भास्कर कुरूप के सहज चित्र स्वाभाविक रंगों में प्रस्तुत किये गए हैं जिनके साथ कड़वी-तीखी मधुर स्मृतियाँ लगी हुई हैं।

ऐसा नहीं कि अनेक परिस्थितियों से यात्री का मन प्रतिक्रियाशील न हुआ हो। यह ठीक है कि लेखक ने अपने रेखा-चित्रों को अपने आप मुखरित होने का अवसर ही प्रमुखतः दिया है। पर अनेक बार उसने अपने संक्षिप्त तथा तीखे विचार भी प्रकट किये हैं। ऐसे अवसरों पर उसकी वाणी में ओज और व्यंग दोनों परिलक्षित होते हैं। अपाहिज भिखारियों के बारे में वह कहता है—"भीख माँगना कोई जीवन का आराम नहीं है जिसके लिए ये अपने शरीर की कुरबानी करते हैं और न ही उससे ये ईसा मसीह बन जाते हैं। यदि ये ऐसा करते हैं तो इनके जीवन में कितनी हताशा, कितनी पीड़ा और कितनी निरीहता है, उसकी कल्पना की जा सकती है।" अनेक स्थलों पर वह सामाजिक विषमता पर तीखा व्यंग भी करता है। एक युवती के आत्महत्या कर लेने की चर्चा पर लेखक के मन की प्रतिक्रिया इस प्रकार मुखरित हुई है—"मैं सोचने लगा कि वह आत्महत्या करने के लिए वहाँ इतनी दूर से चलकर क्यों आई? माँ बनने के अपराध से मुक्त होने के लिए उसने मातृतीर्थ और कन्याकुमारी के मन्दिर को ही साक्षी रूप में क्यों चुना? क्या यह उसकी भावुकता थी या एक मौन आक्षेप।"

ओझा जी में यात्रा-सम्बन्धी उल्लास कम नहीं है—"सौन्दर्य और प्रेम के मेल में जो मिठास है, वैसी ही मधुरिमा पर्यटन में मुझे प्राप्त होती है।" वरन् उनकी यात्रा की गति तीव्र रही है और क्षेत्र विस्तृत रहा है, इसी के अनुरूप उनका भावावेश भी सदा बना रहा है। इतने कम समय में उनकी दृष्टि ने अपने चतुर्दिक् जीवन को जिस प्रकार ग्रहण किया है, उससे भी यही बात सिद्ध होती है। उनका यह कहना बहुत हद तक ठीक है कि "इसमें पश्चिमी जीवन के विभिन्न पहलुओं की मीठी-कड़वी झलक मिलेगी। 'बदलते दृश्य' पाठकों को आज के यूरोप को समझने में सहायक होगा।" लेखक ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि यथार्थ को दृष्टि-पथ पर रखते हुए भी वह अनेक अवसरों पर भावुक हो उठा है। वस्तुतः जीवन को बिना संवे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दित हुए कोई छू नहीं सकता, इस कारण जीवन को, अपने चारों ओर के प्रवाहित जीवन को कोई भी यात्री बिना भावुक हुए छू सकता नहीं है। देश-देश की प्रकृति ने लेखक के मन को विभोर किया है। हवाई यात्रा में उसका कवि कल्पनाओं से भर जाता है—"नील गगन में श्वेत बादलों के दल तैरते हुए वैसे ही खूबसूरत प्रतीत होते हैं जैसे जलाशय के राजहंस! कभी काले बादलों के दल श्वेत जलद के टुकड़ों को ढक लेते और इनके सम्मिश्रण से ऐसा आकर्षक दृश्य उपस्थित होता, जिसे देखते ही हम ठगे-से रह जाते।" मार्ग में अरब, मिस्र, मध्यसागर आदि के अनेक मनोरम दृश्यों का वर्णन लेखक ने भावुक शैली में किया है। स्काटलैंड, स्विट्जरलैंड, फ्राँस आदि देशों की रमणीय प्रकृति-छटा के हल्के चित्रों के साथ लेखक ने उन स्थलों के विस्तृत भौगोलिक, औद्योगिक, सांस्कृतिक और कभी-कभी ऐतिहासिक परिचय दिये हैं। फिर भी बीच-बीच में प्रकृति के चित्र आकर्षक बन पड़े हैं—"आरे नदी इस झील में आकर जब मिलती है, तो मोतियों की लड़ियों की तरह नजर आती है। आकाश में बादल मँडरा रहे थे और जब बरफीली चोटियों के ऊपर इन्द्रधनुष की शोभा खिल आई, तो झील भी सतरंगी साड़ी पहने नववधू की भाँति मुस्करा उठी।" इन वर्णनों में लेखक ने अनेक स्थलों पर इतिहास को भी प्रतिबिंबित किया है। स्काटलैंड उसके मन को इतिहास की ओर मोड़ देता है—"रहस्यमय कथाओं से भरे प्रदेश से होते हुए हमारी ट्रेन एडिनबरा की ओर जा रही थी।....पाषाण-काल से पूर्व हिम-काल की आदिम सभ्यता का यह प्रदेश रोमनों से पूर्व केल्टिक आदि जातियों का क्रीड़ा-क्षेत्र रहा और रोमनों के बाद विक्ट्स और स्काट्स ने यहाँ प्रवेश किया।"

सबसे अधिक विस्तार लेखक ने लन्दन और उसके जीवन को दिया है। लन्दन के विभिन्न स्थानों के विवरण के साथ यात्री ने वहाँ जीवन को हर पहलू से देखने का प्रयत्न किया है और उसे सशक्त शैली में चित्रित भी किया है। इनमें से प्रधान हैं—डाउनिंग स्ट्रीट, हाइड पार्क, युनिटी थियेटर, डॉक मजदूरों का क्षेत्र, ट्रेफल्ग स्क्वायर, बकिंघम पैलेस, बो स्ट्रीट, ब्रिटिश औद्योगिक मेला, पार्लामेंट आदि। वह सामाजिक जीवन को प्रस्तुत करते समय अपने मन की प्रतिक्रियाओं को तीव्र और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता है। 'हाइड पार्क' के निर्लज्ज व्यापार के प्रति लेखक कहता है—"यह स्वच्छन्द प्रेम का रूप देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। घास के ढके एक विस्तृत मैदान में युवक-युवतियों का प्रगाढ़ आलिंगन और चुम्बन इस क्षेत्र को रति का क्रीड़ा-स्थल बनाये हुए था। हमारी आँखें शर्म से झुक जातीं, मगर उन शोख युवतियों और प्रौढ़ाओं के प्रेम-व्यवहार में कोई अन्तर न आता।" पैरिस के नग्न-प्रदर्शन के प्रति भी ऐसा ही लेखक का भावावेश है—"पेरिस! तुमने ईरान, स्पेन, मिस्र और अपने ही देश के दक्षिणी भाग की हजारों सुन्दरियों को इन रात्रि-क्लबों में जमा करके जो करिश्मा खड़ा किया है, वह तुम्हारे गर्वोन्नत मस्तक पर कलंक का टीका है।" वस्तुतः हमारा लेखक इन देशों के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखता है। वह इंग्लैण्ड (लन्दन) के जीवन के सफ़ेद और काले दोनों ही पक्षों को ईमानदारी के साथ यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है—"सेंटपाल के गिरजाघर का वह उन्नत गुम्बज और उसी के पास ध्वस्त इमारतें, हाइड पार्क कॉर्नर के वक्ताओं और श्रोताओं का हास्यप्रिय जीवन! किन्तु सारे देश के जीवन में अजीब सूनापन—जैसे मौन रहने पर ही विचार छिपे रहेंगे। पारिवारिक जीवन की पवित्रता भी है, पर साथ ही आर्थिक परवशता के कारण हाइड-पार्क और पिकेडिली में निर्लज्जतापूर्वक स्त्रियाँ पुरुषों का पीछा करती हैं।....

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लन्दन की इमारतों की काली दीवारें मनहूस मालूम पड़ती हैं, मगर खिड़कियों पर परदे बड़े खूबसूरत हैं।....अपने सब विरोधाभास के बावजूद शेक्सपियर के देश में प्रेरणा प्राप्त करने की क्षमता है और यही क्या कम है?" इस सन्तुलन का निर्वाह वह प्रत्येक स्थल पर कर सका है।

शिक्षा, अध्ययन तथा सांस्कृतिक केन्द्रों का विवरण यात्री ने पूर्ण मनोयोग से प्रस्तुत किया है। इनमें—ब्रिटिश म्यूज़ियम, विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम, हटन कॉलेज, नेशनल गेलरी, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, कॉमनवेल्थ पुस्तकालय तथा पेरिस का कलामन्दिर लुव आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इन स्थानों का विस्तृत और सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। कलाकृतियों का परिचय लेखक ने संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ व्याख्या करते हुए दिया है। अनेक बार कलाकारों की भव्य कल्पना का रसास्वादन करते हुए लेखक विभोर हो जाता है—"विषयों के चुनाव, रंगों के विन्यास एवं रेखाओं के अद्भुत प्रकार से पन्द्रहवीं सदी के सुप्रसिद्ध जनवादी इतालवी चित्रकार, मूर्तिकार, गणितज्ञ, इंजीनियर, संज़ीतज्ञ और विचारक 'ल्यो-नार्दो-विंशी' ने चित्रकला में जिस टेकनीक को जन्म दिया, उसका दर्शन विश्व-विख्यात (मोनोलिज़ा) की रहस्यमय मुस्कान में पाकर मेरा मन आनन्द से भर गया।"

लेखक के मन को देश के कवि और साहित्यकारों से विशेष प्रेरणा मिली है, यह प्रारम्भ में ही प्रकट हो जाता है—"हवा में तैरते हुए मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे सीमाओं का संकोच समाप्त हो गया है और शेक्सपियर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, शेली, बायरन और कीट्स के गीत हवा के झोंकों के साथ विमान की खिड़की से मेरे कानों में आकर मेरे विचारों को जगा रहे हैं।" यात्रा करते समय भी कवि और लेखकों के स्थानों पर यात्री भावशील हुआ है। शेक्सपियर के घर को देखकर हमारा पर्यटक भाव-विह्वल होकर कह उठता है—"छोटा-सा दुमंजिला खपरैल का मकान, जिसमें लगे लकड़ी के काले-काले तख्ते मध्यकालीन ब्रिटिश वास्तुकला का परिचय दे रहे थे। यही है वह स्थान, जहाँ मानव-जाति का श्रेष्ठरत्न २३ अप्रैल १५६४ को पैदा हुआ था?...खिले फूलों की छटा से उस कलाकार की आत्मा झाँक रही थी।...जब मैं एवन के तट की ओर चला, तो सारा वातावरण शेक्सपियरमय दीख पड़ा।" परन्तु भावावेश के साथ ही वह स्थान का विस्तृत परिचय भी देता है। इसी प्रकार का भावावेश लेखक में उस समय भी दिखाई पड़ता है जब वह कीट्स के स्मारक-भवन के सम्मुख उपस्थित होता है।

यह पहले ही कहा गया है कि ओझाजी सामाजिक जीवन के प्रस्तुत करने में जितनी सफलता प्राप्त कर सके हैं, उतनी सफलता उनको चरित्र प्रस्तुत करने में नहीं मिल सकी। महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से तो लेखक ने जान-बूझकर मिलना उचित नहीं समझा। साधारण जनता में भी वह इतनी शीघ्रता से गुज़रा है कि उसे उनमें से कुछ की रेखाओं को उभारने का अवसर भी न मिल सका। कुछ की अस्पष्ट रेखाएँ अवश्य सामने आई हैं। इस दृष्टि से राकेशजी अधिक सफल हैं। परन्तु इसका स्पष्ट कारण है कि ओझाजी के सामने यात्रा का बिलकुल भिन्न उद्देश्य रहा है।[1]

१. 'आख़िरी चट्टान तक'; मोहन राकेश; प्रकाशक—प्रगति प्रकाशन, दिल्ली। 'बदलते दृश्य'; राजवल्लभ ओझा; प्रकाशक—हिन्दी-भवन, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रजेश्वर वर्मा

तीन लघु उपन्यास

समीक्षक की जिस स्थूल सुविधा ने कथा-साहित्य के अनेकानेक रूपों को उपन्यास और कहानी—इन दो वर्गों में समेटकर काम चलाया है, वही, कदाचित् कृतियों की प्रचुरता और उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता से विवश होकर 'लघु उपन्यास' नाम से कथा के एक नवीन प्रकार को स्वीकृति दिलाने के लिए उत्तरदायी है। यह कहना सरल है कि लघु उपन्यास में कथा का चित्र-फलक अपेक्षाकृत छोटा होता है; कथा की सम्पूर्ण विषयवस्तु—कथानक, पात्र, वातावरण—किसी एक संवेदनामूलक सूत्र में गुँथकर अधिकाधिक सघन हो जाते हैं, कथानक में एकात्मकता और संहिति होती है, चरित्र-चित्रण किसी पात्र अथवा किसी चरित्र-वैशिष्ट्य में केन्द्रीभूत होता है, कथाकार की शैली अधिक आत्माभिव्यंजक, उसकी सहानुभूति अधिक ममत्वपूर्ण तथा उसकी संवेदना अधिक संवेगजन्य होती है; और इन सबका परिणाम अनिवार्य रूप से कृति के आकार को लघुता में सीमित कर देता है। किन्तु इन कथित विशेषताओं के आधार पर उपलब्ध कृतियों को लघु और बृहत् उपन्यासों के वर्गों में रखकर मतैक्य की आशा करना अत्यन्त कठिन है। लघु उपन्यास जीवन का खण्ड-चित्र उपस्थित करता है, इस कथन में शायद किसी को आपत्ति न होगी। किन्तु जीवन का खण्ड-चित्र भी महाकार हो सकता है, उसका फलक भी विचित्र और संकुल बनाया जा सकता है तथा उसमें वे विशेषताएँ भी आ सकती हैं जो उसकी सघनता और एकात्मकता में व्यत्यय उपस्थित कर दें।

समीक्ष्य कृतियों में एक उपन्यास 'बाबा बटेसरनाथ' है जिसमें लेखक जैकिसुन के परदादा के लगाये हुए वटवृक्ष—बाबा बटेसरनाथ—के माध्यम से न केवल जैकिसुन और उसके साथ रुपउली ग्राम की चार पीढ़ियों की कथा पाठक के सामने बिखेर देता है, वरन् अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ से लेकर कम्पनी के कुशासन, जमींदारों के अत्याचार, चंपारन सत्याग्रह, सन् २१, ३०-३२ तथा ४२ के आन्दोलन, कांग्रेस शासन (लेखक के मन्तव्य में कुशासन), जमींदारी उन्मूलन और उसमें भी जमींदारों के साथ सरकार के अनुचित पक्षपात का लम्बा इतिहास सुना जाता है। और, इस प्रकार पाठक की संवेदना बाबा बटेसरनाथ के विलक्षण और प्रतीकात्मक व्यक्तित्व में केन्द्रस्थ न रहकर भारत के दो सौ वर्ष के राजनीतिक इतिहास पर फैल जाती है तथा लेखक उसे अपने पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण के द्वारा धक्का देकर चिन्तन और सन्देहों से भर देता है; वह अत्यन्त तरल और क्षीण हो जाती है। अन्त होते-होते उपन्यास समाचारपत्र के विशेष संवाद—आप कह सकते हैं 'रिपोर्ताज'—का रूप धारण कर लेता है। किन्तु इसकी चर्चा तो बाद में होगी।

दूसरा उपन्यास है 'बहता तिनका' जिसमें सम्पूर्ण कथा 'लता' के अभाग्यपूर्ण व्यक्तित्व में केन्द्रीभूत है तथा जिसकी संवेदना इतनी तीव्र और सघन है कि उपन्यास की घटनाएँ पाठक के समुत्सुक, उत्तेजित और अतिशय संवेदित मन पर बहती हुई चली जाती हैं। अन्यथा, यह उपन्यास इतना घटना-बहुल है कि उसके लिए कहीं बड़े फलक की आवश्यकता थी तथा उसके अनेक पात्र ऐसे हैं जिनके चरित्र के अधिक उभरने की सम्भावना थी। 'बहता तिनका' की अनेक घटनाएँ जो बृहत् उपन्यास का अंग बनकर स्वयं एक-एक प्रासंगिक कथाएँ बन जातीं;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी अधिक काटी-छाँटी और समेटी-सिकोड़ी गई हैं कि उपन्यास सामाजिक होते हुए भी पृष्ठ-भूमि और वातावरण की दृष्टि से लगभग नंगा रह गया है। अन्त में कथाकार ने लता को जिस दयनीय स्थिति में छोड़ दिया है वह लघु उपन्यास की संवेदन-तीव्रता के सिद्धान्त को पूर्ण करने वाली भले ही कही जाय, क्रूर आघातों से उन्मेषित पाठक की सजल कल्पना उसे वहीं नहीं छोड़ देना चाहती, भले ही उपन्यास में पहले उसके लिए कई दारुण सम्भावनाओं का संकेत कर दिया गया हो। वस्तुतः उन सम्भावनाओं की दारुणता स्वतः उसे वहीं न छोड़ देने की प्रेरणा देती है।

तीसरे उपन्यास 'बाहर-भीतर' की भाभी का करुण व्यक्तित्व भी 'लता' की भाँति ही पाठक की समस्त मानसिक और भावनात्मक सत्ता को अभिभूत कर लेने की क्षमता रखता है, किन्तु लेखक ने भाग्य के निर्मम व्यंग्य का शिकार बनाकर उसे जिस परिणति पर पहुँचाया है, पाठक को वही एक परिस्थिति जान पड़ती है जो मानो नियति ने उसके लिए निर्धारित कर रखी हो। 'बाहर-भीतर' की समाप्ति न केवल संवेदना की तीव्रता में लघु उपन्यास के अनुरूप है, वरन् वह किसी भी कथा-कृति की एक ऐसी कलात्मक परिणति है जिससे कला की आवश्यकताओं की तो पूर्ति होती ही है, पाठक की जिज्ञासा की भी परितृप्ति हो जाती है। इस उपन्यास के लेखक ने 'भाभी' के खण्डित जीवन के खण्डचित्र के लिए उतने ही पात्रों और घटनाओं को चुना है जितने उसके सीमित फलक पर उतरकर वांछनीय स्थान ग्रहण कर सकते हैं। न तो घटनाएँ इतनी संकुल हैं कि हमारा कल्पना-पट 'ट्रेलर' का दृश्य बन जाय और न पात्रों की बहुलता है जिससे हमारी संवेदना के भटक जाने अथवा अटक जाने का भय हो। पाठक की दृष्टि भाभी की उन 'तेजस्वी किन्तु तरल' आँखों से हट नहीं पाती 'जो अब तेजहीन और भावहीन बन गई हैं'—उस समय भी नहीं हटती जब उपन्यास का 'प्रथम पुरुष' अख्तर और कान्ता के आकर्षणों में भटक रहा है या हजरतगंज की चकाचौंध में खो जाना चाहता है। कथा की संवेदना अत्यन्त तीव्र है। उसने कथा के समस्त उपकरणों को घनीभूत करके कलात्मक एकता प्रदान कर दी है तथा साथ ही पाठक की भावना को द्रवित होने के लिए यथेष्ट अवकाश छोड़ दिया है। हमारा मन कथा के 'प्रथम पुरुष' की भाँति तल्लीन होकर भी तर्क करने योग्य तथा खोया जाकर भी पकड़ में आने योग्य रह जाता है। हो सकता है कि इस लघु उपन्यास में भी किसी को लगे कि वातावरण बहुत कम उभरा है जिससे कथा को उसका पहचाना जाने योग्य 'निवास' नहीं मिल पाया। यह कमी किसी हद तक वास्तविक कही जा सकती है। किन्तु मतभेद इस विषय में भी हो सकता है कि 'बाहर-भीतर' की थीम भी बड़े उपन्यास के ही योग्य है। कला-कृतियों के विषय में ऐसे मतभेद चिरजीवी कहे जा सकते हैं, और लघु उपन्यास के भिन्न अस्तित्व पर इसी कारण प्रश्न-चिह्न लगा रह सकता है।

'बाबा बटेसरनाथ,' 'बहता तिनका' और 'बाहर-भीतर' तीनों उपन्यास आकार में लघु हैं, किन्तु 'लघु उपन्यास' की कलात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति वे किस सीमा तक कर सके हैं इस प्रश्न को यहीं छोड़कर हम उन्हें अधिक निकट से परखें तो सम्भव है उनके कथा-रूप के सम्बन्ध में भी अधिक निश्चयात्मक परिणाम निकल सके।

भारतीय नारी की अशेष करुणा ने हमारी भाषाओं के कथा और काव्य-साहित्य को अक्षय विषय प्रदान किये हैं। समय ने पर्याप्त प्रगति की है और नारी की करुणा भी उसी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुरूप करुणा-से-करुणतर होती गई है—कम-से-कम इस अर्थ में कि हमारे नये कलाकार अधिकाधिक संख्या में शरत् और प्रेमचन्द के द्वारा उठाई गई समस्याओं को नई अनुभूति और नई-नई अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करते जा रहे हैं। हिन्दी कथा-साहित्य के उस रूप में जिसे लघु उपन्यास कहा गया है सबसे पहले जैनेन्द्र आते हैं जिन्होंने नारी के युग-युग से प्रताड़ित अपनी वेदना में एकरस जीवन को व्यक्तित्व प्रदान किया था। शरत् की करुण कथाएँ उनके सामने थीं और शरत् का कथारूप भी लघु उपन्यास नहीं तो और क्या था? जैनेन्द्र के उपन्यासों में 'त्यागपत्र' लघुतम है। अपनी संवेदनात्मकता तथा भावात्मक अनुभूति की तीव्रता में वह गीति-काव्य जैसी भाव-संहिति, एकतानता तथा आत्मलीनता लिये हुए है। प्रेमचन्द की 'निर्मला' की अपेक्षा 'त्यागपत्र' की 'बुआ' हमारी संवेदना को कहीं अधिक अभिभूत किये रहती है। 'त्याग-पत्र' में न तो पात्रों की उतनी अधिकता है और न उनके चरित्रों को उभारने की आवश्यकता महसूस हुई है। फलतः उसका चित्र-फलक 'निर्मला' की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित, किन्तु पूर्ण है, यद्यपि 'बुआ' के अभाग्यों के घटना-प्रसंग 'निर्मला' से संख्या और विविधता में कम नहीं शायद अधिक ही होंगे। 'बाहर-भीतर' इसी परम्परा में आता है। 'त्यागपत्र' से तो उसमें अद्भुत समता है। दोनों की कथा 'प्रथम पुरुष' में कही जाती है। दोनों का प्रारम्भ कथा के अन्त का सामान्य और उत्सुकता एवं जिज्ञासावर्द्धक पूर्वपरिचय देकर किया जाता है। कथा के 'प्रथम पुरुष' भी दोनों में लगभग एक-से हैं—'त्यागपत्र' में जज और 'बाहर-भीतर' में एक सफल वकील। दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ 'त्यागपत्र' के जज महोदय अपनी बुआ की दारुण करुणा से प्रभावित होकर पद से त्यागपत्र दे देते हैं, वहाँ 'बाहर-भीतर' के वकील साहब अपनी भाभी के 'मुरझे गुलाब जैसे मुखड़े, सुर्ख फूल की पंखुड़ियों जैसे होठों, उनकी उदास मुस-कान-शून्य मुद्रा, अस्तव्यस्त, तेल से अछूत केशों—पाँच वर्ष पूर्व इस न देखने योग्य क्लिष्ट-करुण रूप' को देखते हुए भी ऐसा कोई त्याग नहीं करते, यद्यपि वे स्वयं अनुभव करते हैं कि 'वह मूर्ति मानो अनवरत मेरा उलाहना करती है—भयंकर उपालंभ। जैसे इस सबका दायित्व मेरे ही ऊपर हो···।' अभाग्य के चक्र में दायित्व का अनुपात-विभाजन समीक्षक के बूते का नहीं है; इस बाल-जिज्ञासा की पूर्ति करना उसका कार्य भी नहीं है। किन्तु 'बाहर-भीतर के वकील साहब त्याग न करके भी जिस व्यंग्यमय आत्मालोचन में प्रवृत्त हैं वही उनकी स्थिति में अधिक स्वाभाविक है और भाभी की करुणा की ओर अधिक करुण करने वाला। 'बाहर-भीतर' के अन्त में 'त्यागपत्र' के अन्त को अधिक कलापूर्ण और प्रभावोत्पादक रूप देने की चेष्टा की गई है और लेखक इसमें सफल हुआ है। 'बाहर-भीतर' की रचना के क्रम में ही नहीं, उसकी प्रेरणा में भी लेखक की अन्तश्चेतना में 'त्यागपत्र' निरन्तर विद्यमान जान पड़ता है, मानो उसी कथा को वह एक संशो-धित, कदाचित् अधिक कलात्मक और भाषा-शैली की दृष्टि से अधिक समर्थ और सशक्त, रूप देना चाहता है। काल का व्यवधान ही नहीं, अन्य परिस्थितियाँ भी लेखक के पक्ष में हैं, अतः कुल मिलाकर 'बाहर-भीतर' निश्चय ही उन्नत कहा जा सकता है। जहाँ 'त्यागपत्र' की 'बुआ' अपने 'अहम् के तनाव में ही गिरना क़बूल करती हैं और गिरती ही जाती है, साहस पाकर भी उन्हें उठना मंजूर नहीं है, मानो वे इसी रूप में अपने नाम से, अपने समाज से बदला लेना चाहती हों, वहाँ 'बाहर-भीतर' की भाभी को उठने का अवसर ही नहीं मिलता, उबरने की एक मित्र सम्भावना जो वर्तमान सामाजिक संगठन में साधारणतया कल्पना से भी परे समझी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायगी 'भाभी' का क्षीण संबल बनी रहती है। किन्तु एक ओर जब वे स्वयं उस परिस्थिति में पहुँच जाते हैं, जहाँ उनकी सुखद कल्पना मूर्त बनने की आशा कर सके, तभी उनकी आशा का सहारा पराया हो जाता है और भाभी की अत्यन्त सजीव आँखें पथरा जाती हैं, उनकी मुखर वाणी मूक हो जाती है तथा उनका सजग, चंचल मन काठ बन जाता है।

'बाहर-भीतर' में घटना-प्रसंग बहुत कम हैं, जो भी प्रसंग हैं वे उपन्यास के 'प्रथम पुरुष' से सम्बद्ध हैं जिसके हाथ में भाभी की क्षीण आशा की डोर है। यद्यपि 'प्रथम पुरुष' का चरित्र भी उपन्यास में यथेष्ट उभरता है, वस्तुतः उपन्यास का प्रारम्भ ही चारित्रिक आत्म-विश्लेषण से होता है, फिर भी उससे संबद्ध घटना-प्रसंग और उसका चरित्र—दोनों 'भाभी' के ही पूरक हैं, उन्हीं की करुणा को अनुरंजित करने के साधन। उपन्यास के अन्तिम वाक्यों में बड़ी व्यंग्यात्मक आत्मग्लानिपूर्ण मार्मिकता है।

'भाभी' तो 'त्यागपत्र' की 'बुआ' की भाँति अनमेल विवाह की शिकार हैं, सामाजिक कुप्रथा ने उन्हें खण्डित किया है, किन्तु 'बहता तिनका' की 'लता' तो उगी ही उस जगमगाते हुए अन्धकार में है जिसे बनाए रखने में समाज की सफ़ेदपोशी कायम रहती है। उस घिनौने क्रोड से निकलकर खुली हवा में साँस लेने के लता और उसकी माँ के सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं। लगता है कि खुली हवा जैसी अनमोल वस्तु कहीं है ही नहीं, क्योंकि जिस तरह उस घिनौने प्रदेश में घाघ मौसी और आवारा रतन हैं, उसी तरह बाहर हैं विलासी बैरिस्टर, बेईमान वकील, लोक-परलोक दोनों का सुख लूटने के अभिलाषी दया और वासना के मिश्रण गोस्वामी जी, ऐसे निकम्मे और नालायक बनवारी जो कई बच्चों के बाप होते हुए भी निराश्रित नारी को निगलकर फेंक देने की लोलुपता से बाज नहीं आते तथा नरेश जैसे भावुक नवयुवक जो अपने मन और मस्तिष्क में सन्तुलन न रख सकने के कारण स्वच्छन्द विहार (flirtations) को विवाह तक का रूप दे सकते हैं और अन्त में प्रवंचना, कायरता, गैर-जिम्मेदारी और निम्नतम कोटि की हृदयहीनता का विचित्र मिश्रण बन जाते हैं। और, इन सबकी शिकार बनती हैं लता जैसी अभागी नारियाँ, परिश्रम करके जीवन-यापन करने की जिनकी एकमात्र महत्त्वाकांक्षा को भी पूर्ण होते समाज नहीं देख सकता। इस प्रकार जैसा कि पहले कह चुके हैं 'बहता तिनका' एक घटना-संकुल उपन्यास है। रचना की सफलता इसी में है कि पाठक का ध्यान मुख्य सम्बन्ध से हटने नहीं पाता। किन्तु सौवें पृष्ठ पर जब यह कहा जाता है कि 'इसके बाद का इतिहास संक्षिप्त है' तभी आशंका होने लगती है कि जैसी जल्दी-जल्दी यह कथा जल-प्रवाह की तरह बहती गई है वैसी शीघ्रता से इसका कहीं यकायक अन्त भी न हो जाय और यह आशंका निराधार सिद्ध नहीं होती।

'बाहर-भीतर' की समस्या तो पुरानी है—अनमेल विवाह को लेकर न जाने कितनी कथाएँ रची गई हैं, किन्तु लेखक ने उसे निश्चय ही नया रूप दिया है। वैवाहिक जीवन की निराशा इस वर्तमान वातावरण में जब हम वैवाहिक सम्बन्ध की धार्मिक पवित्रता, समाज की रूढ़ मर्यादा यहाँ तक कि ईश्वर की सत्ता तक में सन्देहशील हो गए हैं कैसा उग्र और अन्त में दयनीय रूप धारण कर सकती है, इसे 'बाहर-भीतर' शक्तिशाली रूप में सामने लाता है। वह किन्हीं नवीन नैतिक मूल्यों की स्थापना नहीं करता, निर्देश अवश्य करता है, किन्तु ध्वंसशील निम्न मध्य वर्ग की मिथ्या सामाजिक प्रतिष्ठा उन्हें अपनाने के साहस को कुंठित करती रहती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। 'बहता तिनका' की समस्या और भी रूढ़ और पिष्टपेषित है। प्रेमचन्द ने इस समस्या के लगभग सभी पहलुओं पर अपने सुधारवादी ढंग से प्रकाश डाला था। प्रस्तुत रचना में इस दृष्टि से कोई नई बात नहीं है। केवल इसमें सुधारवाद का संकेत भी न करके तथा संवेगात्मक वातावरण को निरन्तर तीव्र रूप में बनाए रखकर 'बहता तिनका' की कलात्मकता की रक्षा की गई है। जिन रंगीन पर्दों के भीतर जर्जर जीवन का घिनौनापन छिपा हुआ है वे इतने झीने, छिन्न और जीर्ण हैं कि उन्हें ध्वस्त करना ही श्रेयस्कर है। 'बाहर-भीतर' और 'बहता तिनका' दोनों अपने-अपने ढंग से यही करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उन्हें कुरूपता और नग्नता के प्रति वैसी आसक्ति नहीं है, जैसी कुछ यथार्थवादी (प्रकृतिवादी) और मनोविश्लेषणवादी कहे जाने वाले कथाकारों को होती है। और, साथ ही उनके पास कोई समाधान भी नहीं हैं, क्योंकि न तो वे उस आदर्शवादी की परम्परा में आते हैं जिसकी झोली में समस्याओं के समाधान समस्याओं से भी अधिक संख्या में मौजूद रहते हैं और न वे उस प्रगतिवाद के अनुयायी हैं जो समाज को एक निर्णीत नियति की ओर टेलने की यान्त्रिक क्रिया में अटूट विश्वास रखता है।

और, यहीं पर हम 'बाबा बटेसरनाथ' की चर्चा पुनः उठा सकते हैं। 'बाबा बटेसरनाथ' के पीछे 'रतिनाथ की चाची' और 'नई पौध' की ख्याति है। मिथिला के नर-नारी, बाल-वृद्ध, पशु-पक्षी, तालाब-पोखर, पेड़-पौधे और धरती-आकाश को वाणी देने में लेखक ने जो सफलता पाई है उससे किसी भी कथाकार की ईर्ष्या हो सकती है। एक कहानी के कथानक को फैलाकर लघु उपन्यास का रूप देने की कला का मूलाधार यही वातावरण का सप्राण, सवाक् चित्रांकन है। 'रतिनाथ की चाची' की कथावस्तु में तो पर्याप्त विस्तार, मोड़ और उलझाव हैं और वह उपन्यास के सर्वथा उपयुक्त हैं, किन्तु 'नई पौध' की कथा न केवल विस्तार में लघु है, वरन् उसमें संघर्ष भी न्यून है। कथा की रोचकता केवल स्थानीय संकेतों में है, जो कलात्मक दृष्टि से कहीं-कहीं अनावश्यक अथवा अतिविस्तृत होते हुए भी अपने में काफ़ी रोचक लगते हैं। 'रतिनाथ की चाची' में लेखक ने मनोविश्लेषण का भी सहारा लिया है और जैसा कि इधर प्रायः देखा गया है सेक्स की गुत्थियों को खोलने में उसने ऐसे संकेत भी किये हैं जिनमें अस्वस्थता की गंध आती है। 'नई पौध' में 'रतिनाथ की चाची' की ही तरह वह मैथिल ब्राह्मणों की विवाह-समस्या को उठाकर नई पौध के नवयुवकों के द्वारा उसका एक आदर्श समाधान उपस्थित करके नई पीढ़ी को उसका अनुकरण करने की प्रेरणा देता है। इसकी रचना में लेखक का संयम सचमुच सराहनीय है, क्योंकि उसने माहेश्वर, दिगम्बर और वाचस्पति को जिन्होंने बिसेसरी का साठ वर्ष के बुड्ढे के चंगुल से छुड़ाकर उद्धार किया केवल गाँव की 'बम पार्टी' और 'सोशलिस्ट पार्टी' का कार्यकर्ता बताकर ही सन्तोष कर लिया। 'बाबा बटेसरनाथ' और उसके माध्यम से रुपउली के किसानों के उद्धारक तो स्पष्ट रूप में जनवादी नौजवान-संघ, स्टूडेंट फ़ेडरेशन, किसान सभा और कम्युनिस्ट पार्टी बनते हैं और उपन्यास के अन्तिम ६-७ परिच्छेद इन संस्थाओं के छोटे-से-छोटे विवरणों से भरे पड़े हैं और इसी कारण उनका रूप 'रिपोर्ताज' का रह जाता है। उर्दू के तरक्क़ी पसन्द (!) कथाकार कृष्णचंदर ने जिस प्रकार 'सुबह होती है' में दक्षिण भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव का आलेखन किया है, उसी प्रकार नागार्जुन मिथला का ब्योरा उपस्थित करते हैं और 'बाबा बटेसरनाथ' अपने समस्त सम्पन्न वातावरण और अनुरंजक स्थानीय संकेतों तथा नवीन कथा-प्रयोग के आकर्षण के बावजूद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना राजनीतिक उद्देश्य छिपा नहीं सकता; सच तो यह है कि वह उसे छिपाना भी नहीं चाहता। लेखक के विचारों और पूर्वाग्रहों का भले ही कोई समर्थन करे, उसकी कला की नग्नता का अनुमोदन करना कठिन है, क्योंकि इतने मुखर और अनावृत रूप में राजनीतिक पक्षधरता अपना वांच्छित प्रभाव भी नहीं डाल सकती। प्रगतिशीलता के नाम पर साहित्य को जो प्रोपेगंडा और पैम्फलेट का रूप देने की चेष्टा हुई है हिन्दी का यह प्रतिभावान लेखक भी उसी में ग्रस्त हो गया। अन्यथा 'बाबा बटेसरनाथ' के कथा-प्रयोग का साहस श्लाघ्य है और इसकी भाषा 'नई पौध' के स्थानीय—कभी-कभी अपनी प्रचुरता में अरुचिकर—तकिया कलामों से मुक्त है। नागार्जुन की कला में यदि वे चाहें तो सांस्कृतिक गौरव और कलात्मक महनीयता आ सकती है। किन्तु जो प्रचारवाद से आक्रांत हैं उन्हें संकेत और व्यंजना का महत्त्व क्या बताया जाय?

तीनों समीक्ष्य उपन्यासों में एक यही समानता है कि वे आकार में लगभग बराबर हैं। सबसे अधिक घटना-प्रधान 'बहतातिनका' सबसे छोटा है, यद्यपि इसे कहीं अधिक विस्तार मिलना चाहिए था। फिर भी कमल जोशी में सफल कथाकार बनने की असामान्य सम्भावनाएँ हैं। 'बहता तिनका' की थीम पुरानी होते हुए भी जोशी ने उसे जिस आत्मीयता और संयत भावुकता के साथ उपस्थित किया है, उसमें उनकी भाषा, शैली की समर्थता को भी कम श्रेय नहीं है। कथा में अनेक नाटकीय परिस्थितियाँ हैं, उसके संवाद काफी व्यंजक और उसके वर्णन खूब गठे और सँवारे हुए हैं। प्रवाह की तीव्रता में भी 'बहता तिनका' ही हमारी दृष्टि को बाँधे रहता है, हम उत्ताल तरंगों के भँवर और उठान नहीं देखने लगते, इसका श्रेय विषय की हृदयावर्जकता तथा कला की सुन्दरता को ही है। 'बाबा बटेसरनाथ' का लेखक परिस्थिति के सूक्ष्म विवरणगत चित्रण का धनी है। मिथिला के ग्रामीण जीवन से उसका इतना घनिष्ठ परिचय है कि हम उसके प्रत्येक उपन्यास में एक ऐसा आत्मीय भाव पाते हैं जो बहुत थोड़े कथाकारों को सुलभ हो पाता है। रुपउली ग्राम का बूढ़ा वटवृक्ष जब उसके नीचे सोये हुए जैकिसुन के सामने बड़े-बड़े सफेद बाल, भारी सिर और लम्बी-घनी दाढ़ी के साथ एक विशालकाय मानव के रूप में, गोरैया का चूजा गोद में लिये हुए उपस्थित होता है और अपनी—जैकिसुन के पूर्वजों की, रुपउली ग्राम की, मिथिला प्रदेश की और समूचे देश की—कथा सुनाने लगता है तो पाठक का कुतूहल आकर्ण उसी में बँध जाता है, भले ही बाद में वह बिखरकर भटकने लगे। किन्तु जैकिसुन के स्वप्न की यह कथा जो उपन्यास की मुख्य (प्रस्तुत) कथा की पृष्ठभूमि उपस्थित करती है १४८ पृष्ठों के उपन्यास में पूरे १०१ पृष्ठों तक चलती है। उसके बाद जैकिसुन और जीवनाथ जागकर कर्म-प्रवृत्त होते हैं और कम्युनिस्ट पार्टी की सहायता से कांग्रेस शासन के विरुद्ध विजय प्राप्त करते हैं। ४८ पृष्ठों की यह शेष कथा ही मुख्य है और इसी की समाप्ति 'स्वाधीनता! शांति! और प्रगति!' के नारे के साथ होती है। किन्तु ऐसा होने के लिए भी इस कथा को कहीं अधिक विस्तार और विकास मिलना चाहिए था। उस दशा में कदाचित् इसकी पक्षधर नग्नता भी ढाँकी जा सकती थी। नागार्जुन के परिवेश-पर्यवेक्षण और चित्रांकन की सूक्ष्मता एवं विवरणमूलक कुशलता की हम पर्याप्त सराहना कर चुके हैं। किन्तु एक बात कहना आवश्यक जान पड़ता है कि इस चित्रांकन के प्रति लेखक का मोह कभी-कभी दुराग्रह के साथ प्रकट होकर कला के सौन्दर्य को आघात पहुँचाता है। तीसरा उपन्यास 'बाहर-भीतर'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिल्प-विधि की दृष्टि से निर्दोष है। कथा-विन्यास की कलात्मक काट-छांट, सुगठन, संयम और विवेक लेखक को एक सिद्धहस्त कथाकार प्रमाणित करते हैं। यद्यपि डॉ० देवराज ने इसके पहले केवल एक उपन्यास लिखा है। बाहर-भीतर की शिल्प-विधि में उन्हें आशातीत सफलता मिली है। उसकी भाषा-शैली भी सर्वथा निर्दोषपूर्ण सशक्त, शिष्ट, सुघर और सुसंस्कृत है और उससे उस व्यक्तित्व की झलक मिलती है जो उपन्यास के 'प्रथम पुरुष' में उद्घाटित हुआ है। ऐसी तटस्थ आत्मीयता बड़े उपन्यासकार को जन्म दे सकती है।[1]

प्रभाकर माचवे

कविताएँ : १९५४

यह संग्रह बनाने से पहले श्री अजितकुमार ने मुझसे संग्रह का परामर्शदाता बनने की प्रार्थना की थी। समयाभाव के कारण और साहित्य-अकादेमी की ओर से भारत की चौदहों भाषाओं से १०-१० चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कविताओं का ऐसा ही पहला संग्रह 'भारतीय कविता : १९५३' (मूलपाठ देवनागरी लिपि में हिन्दी अनुवाद सहित) प्रस्तावित है, इस कारण, मैंने अपना नाम इस संकलन पर न देने की बात सम्पादकों को लिख दी थी। साथ ही यह लिखा था कि ऐसे संकलनों के उद्योग बड़े शुभ हैं। अधिकाधिक ऐसी 'ऐंथोलॉजियाँ' निकलें, ऐसा मेरा मत है। 'कविता कौमुदी' के बाद अनेकों वर्षों तक आधुनिक हिन्दी काव्य का कोई संकलन नहीं था—कोर्सबुक छोड़ दीजिए—कि 'कवि-भारती' आई। 'रूप-रेखा-रंग' वगैरह में खड़ी बोली के कवि बँटे हुए, हमारे सामने प्रस्तुत किये गए। उस ग्रन्थ की सम्पादकत्रयी का भी यही दावा है कि हिन्दी का वह एक प्रातिनिधि संग्रह है। कि सहसा कविता-क्षेत्र में सन् '५४ में, हिन्दी में, और भी सामूहिक प्रयत्न हुए : राजधानी के कवि, नयी कविता, 'कविता' के बाद 'काव्यधारा'! और 'जनसाहित्य' और 'हमारी पीढ़ी' के कवितांक विज्ञापित हैं। लगता है कविता के प्रति सहसा कविजन भी और सजग और सचेष्ट हुए हैं। यह सच बहुत अच्छा है। इस दृष्टि से मैं श्री अजितकुमार तथा अवस्थी जी के इस सदुद्योग का हृदय से स्वागत करता हूँ। इस प्रकार के प्रयत्नों के पीछे अपनी भाषा के काव्य-पक्ष का जायज़ा लेने की और उसमें से सजाकर एक अच्छा गुच्छा बनाने की सद्भावना है, जो उत्तम है। 'प्रचार और विज्ञापन' नामक ८ पृष्ठ की भूमिका में सम्पादकों ने कहा है : 'इसमें १९५४ की प्रतिनिधि और श्रेष्ठ हिन्दी कविताएँ संग्रहीत हैं।' (पृ० ३)·····'श्रेष्ठ या प्रतिनिधि को चुनने का जो मानदण्ड हमने माना, उसमें हमारी व्यक्तिगत रुचि के अतिरिक्त स्वयं कवियों की अपनी कविताओं की पसन्द भी शामिल

१. 'बाहर-भीतर'—ले०—डॉ० देवराज; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
'बाबा बटेसरनाथ'—ले०—नागार्जुन; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
'बहता तिनका'—ले०—कमल जोशी; प्रकाशक—नवयुग प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रही।' (पृ० ७) कवि अपनी स्वयम् की रचनाओं का सदा बहुत अच्छा समीक्षक नहीं होता, यह अब इस संग्रह को पढ़कर जान पड़ा।

मैं अब आगे जो अपने मत उपस्थित कर रहा हूँ, उसमें मेरी दो दिक्कतें आप ध्यान में रखें : एक तो मैं केवल हिन्दी (और अंग्रेजी) ही नहीं पढ़ता, मैं अन्य भारतीय भाषाओं में से चार-पाँच पढ़ लेता हूँ और उनकी कविता से और कवियों से सुपरिचित हूँ। सो तुलना में मेरे सामने जब हिन्दी की 'कविताएँ : १९५४' सामने आती हैं, तब मेरी अपेक्षाएँ भी उनसे अधिक हो जाती हैं। दूसरी दिक्कत होती है कि मैं १९५४ वर्ष से आधुनिकता का बोध भी लेता हूँ; यानी 'कल्याण' या 'वेंकटेश्वर समाचार' में अभी भी उन्नीसवीं सदी जैसी या द्विवेदी-युगीन रचनाएँ न छपती हों, ऐसा नहीं है, पर हिन्दी के 'प्रतिनिधि' संकलन में मैं उन्हें नहीं लूँगा। तीसरे, नामों का रौब मुझे नहीं छू पाता : अंग्रेजी के 'निउ पोएम्स :१९५३' में ईलियट, स्पेंडर, आडेन, मैकनीस आदि कविवरेण्यों में से एक की भी रचना नहीं है। परन्तु लगता है कि 'कविताएँ : '५४' के सम्पादकों के अर्द्धचेतन में यह (आकाशवाणी के कवि-सम्मेलनों का-सा) महाकवि-नाम-तर्क जरूर काम करता है; यानी बड़े नाम होंगे, तो बड़ी कविता जरूर उससे कार्य-कारण भाव से निकलेगी ही। प्रस्तुत संकलन में मुझे बड़े नामों में सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, 'निराला', 'बच्चन', मैथिलीशरण गुप्त, विद्यावती कोकिल, शिवमंगलसिंह सुमन, नरेन्द्र शर्मा, सुमित्राकुमारी सिनहा और सोहनलाल द्विवेदी की रचनाएँ 'ऐसी ही' लगीं। यानी अतिसाधारण कोटि की रचनाएँ, जो न तो कवि का ही उचित प्रतिनिधित्व करती हैं, न सन् '५४ की हिन्दी का। बड़े नामों वालों में मुझे सुमित्रानन्दन पन्त का बोधप्रधान वर्णनात्मक पद्यबद्ध दृष्टान्त और महादेवी वर्मा की पुरानी ही लीक की अर्द्ध-कविता (स्यूडो-पोएट्री) सहनीय जान पड़ीं। और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, जानकीवल्लभ, बालकृष्ण राव, गिरिजाकुमार माथुर की रचनाएँ बहुत ही अच्छी लगीं। वैसे कुल ६४ कविताओं में हमें ८-१० ही कविताएँ सर्वोत्तम जान पड़ीं और वे हैं कुँ अरनारायण, मुक्तिबोध, शमशेरबहादुर सिंह (असल में उनकी हिन्दी नहीं, उर्दू रचना है), त्रिलोचन आदि की रचनाएँ। कोशिश करने पर 'निराला'जी का अधिक अच्छा गीत या मैथिलीशरण जी की और कोई पद्य-रचना मिल सकती थी। और भगवतीचरण वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', नलिनविलोचन शर्मा आदि कई प्रमुख अभाव, बड़े नामों वाली जमात में, सहज खटकते हैं।

पर १९५४ में जो हिन्दी कविताएँ पढ़ने बैठा है वह दो पीढ़ी पुराने कवियों की कविताएँ फिर से पढ़ने या बासी कढ़ी का उबाल चाखने नहीं बैठा है। वह जानना चाहता है कि हिन्दी कविता ने द्विवेदी-युगीन यानी मैथिलीशरणजी से सोहनलाल द्विवेदी तक की उपदेशात्मक कविता से, या छायावाद-कालीन यानी निराला-पन्त से रामकुमार-हंसकुमार-केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' तक की कविता से आगे बढ़कर; बच्चन-'अंचल'-दिनकर काल के विद्रोहियों ने और उनसे एक कदम आगे बढ़कर 'सुमन'-केदार-नागार्जुन-शीलादि प्रगतिशीलों ने कौन से तीर मारे या बन्दिश की बन्दूकें दागीं—या उनके बाद हिन्दी कविता के जो दो दल अव्य और पाठ्य; यानी कविसम्मेलनी कवि (नीरज, चिरंजीत, त्यागी, रंग, गोपेश, रमाकान्त, बिसारिया, वीरेन्द्र मिश्र, शम्भूनाथसिंह, सर्वदानन्द आदि) या बच्चन के रंग के कवि या घिसी-पिटी गुनगुनाने-चीखने वाले कविजन एक ओर; और दोनों सप्तकों और उनके बाद के आधुनिक या प्रयोगवादी बौद्धिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहे जाने वाले कवि दूसरी ओर—इनके बीच में विवेकपूर्ण चुनाव करके यह संग्रह प्रस्तुत किया जाता तो और इसकी विशेषता बढ़ जाती।

मैं बुजुर्गों की कविताओं का व्यवच्छेदन यहाँ नहीं करूँगा। वे वैसे ही बुझते-बुझते-से चिराग़ हैं। मैं समकालीनों, समवयस्कों, समानधर्मियों की बात विशेष रूप से और स्पष्ट, पैने शब्दों में करना चाहता हूँ। यहाँ मेरी स्पिरिट को आप कृपया समझें। मैं हिन्दी-कविता के एक रसज्ञ पाठक के नाते कह रहा हूँ। और अपनी रचना को भी मैं इन सब गुण-दोषों से युक्त मानता हूँ, जैसे औरों की। तो अब, 'कविताएँ : '५४ और नज़दीकी से देखें।

सबसे पहले मेरा ध्यान 'गीत' नामधेय १७ रचनाओं की ओर गया। हिन्दी में आम रिवाज है कि रचना गेय हो या न हो, कवि को संगीत का 'स' भी आता हो चाहे न हो, जब कभी शीर्षक न सूझे, ऊपर गीत लिख दीजिए। यह ज़रूरी नहीं है कि कविता में 'लिरिकल' तत्त्व हों, या उसका किसी भी दूर-दराज़ से गायन से कोई सम्बन्ध हो।

तो इन १७ गीतों में से मुझे अधिकांश गीत गीतात्मक न लगे : केदारनाथसिंह, महादेवी, विद्यावती 'कोकिल', वीरेन्द्र मिश्र के गीत अपवाद हैं, उनमें कुछ लय-गीत मधुरिमा है। अन्यथा और गीत तो ऐसे हैं जैसे 'रंग' जी ने ठीक परिभाषा दी है : "अब तो नूतन गीत पुराने से लगते हैं।"

ये सब घिसे-पिटे उपमान-उपमेयों, तुकों की जोड़-तोड़ और लीक-फीक पंक्तियों के रिरियाहट-भरे खीझ पैदा करने वाले शब्दों के अनवरत रहँट मात्र हैं। इनमें से कई तो एकदम बचकाने हैं जैसे रमासिंह या सिद्धेश्वर अवस्थी के तथाकथित 'गीत'। मैं अगर यह संकलन करता तो कई गीत-रचनाएँ इनमें से कभी न चुनता, चाहे वे 'हिन्दी की समस्त समसामयिक कविता का प्रतिनिधित्व करती-सी लगतीं! गीतों के बाद हमें ८ और कविताएँ इस संग्रह में बेहद घिसी-पिटी लगीं और नामों से हिन्दी में लोग बुरा मानते हैं तो कविताओं के अनुक्रम नम्बर देना बेहतर है। वे रचनाएँ हैं सं० २१, २४, २६, ३६, ५२, ५८, ८६, ९१।

और कुछ कविताएँ हैं जिनको मैं 'बच्चनाहट' कहता हूँ, यानी जो व्याख्यात्मक होती हैं। एक ही कल्पना के रेशे-रेशे निकालकर, या दुहरा-दुहराकर समझा-समझाकर वे अपनी बात को 'धुनकर रख देती हैं।' ऐसी एक-दो कविताओं के आंशिक नमूने देखिए। कविनाम मैं जान-बूझकर नहीं दे रहा हूँ, पृष्ठ-संख्या काफी है। इनमें अर्थ से अधिक लाटानुप्रास होता है :

हर नगर झिलमिला हर डगर को खिला
हर बटोही जिला, ज्योतिप्लावन चला···
हर हवा बीन अपना बजाने लगी,
हर कली अंग अपना सजाने लगी,
हर अली आरसी में लजाने लगी,
हर दिशा तक भुजाएँ बढ़ाता हुआ
हर जसद से सँदेसा पठाता हुआ (पृ० ३१)

गान बहुत जीते हैं
प्रान बहुत जीते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दान बहुत जीते हैं····
लेकिन यह पूरब है, नई साँस लेता है;
लेकिन यह सूरज है, बहुत आग देता है
ऐसे में ऊबो क्यों ?
आहों में डूबो क्यों ?
तुमने क्या देखा है
लम्बी सी रेखा है
बहुत-बहुत प्यारी है
आशा सी क्वांरी है····
हावों में
भावों में
इसके फैलावों में। (पृ० ३४)

वह जो पहाड़ पर खड़ा आंधियों को थामे,
वह जो समुन्दरों को बांहों में झुला रहा,
वह जो विधवा चट्टानों की भर रहा माँग,
वह जो रेगिस्तानों को पानी पिला रहा,
वह जो जवानियों पर उबाल बनकर छाया,
वह जो शिशु के हाथों का दही-बतासा है····
वह जो सितार का तार, बहारों की बहार,
वह जो कलियों फूलों का जादू टोना है—
वह जो बगियों का बौर, कौर सबके मुँह का,
वह जो रातों में चाँदी, दिन में सोना है,
वह जो बचपन का बचपन, यौवन का यौवन,
वह जो सिन्दूर-संगीत, गीत है पायल का,
वह जो चुनरी का रंग, उमंगों का उभार,
वह जो नयनों की लाज, स्वप्न है काजल का,
वह जो मुस्करा रहा गेहूँ की बालों में,
वह जो उड़ रहा धुआँ बनकर चिमनी घर से····(पृ० ५५)

और इस 'पैरेफ्रेज़' (पद्यरचना) की शैली के आदिगुरु श्री बच्चन जी की बानगी देखें :

मिट्टी—
कि जो गाती
कि जो रोती
कि जो है जागती-सोती
कि जो है पाप में धँसती
कि जो है पाप को धोती,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि जो पलपल बदलती है
कि जिसमें ज़िन्दगी की गत मचलती है ! (पृ० ६३)

इस शैली के कवियों के विचार में पाठक के लिए कुछ भी संकेत रूप में, या ध्वनिरूप में छोड़ना जरूरी नहीं है। हर बात को ठोक-पीटकर, वक्ताओं की भाँति दुहरा-तिहराकर श्रोता की श्रुतियों से हृत्तल तक उतारने की प्रचण्ड कोशिश का नाम ही कविता है।

कुछ कविताएँ इस संग्रह में वर्णनात्मक हैं—पर वे केवल छः-सात हैं, सो उन पर अलग से विचार क्या करें। ऐसी ही 'इम्प्रेशनिस्ट कविताएँ' शीर्षक से १९३७ की जनवरी के 'विशाल भारत' में 'अज्ञेय' जी ने मेरी दो कविताएँ छापी थीं। इस संग्रह में 'अंचल' का 'वर्षा के बादल', गिरिजाकुमार माथुर की 'ढाकवनी', गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की 'किशनपुर की एक झलक', नामवरसिंह की 'फागुनी शाम', प्रभाकर माचवे की 'फिर से उज्जयिनी देखी' (तीन-चार मुद्रा-दोष उसमें हैं), रायबहादुरसिंह 'मुक्त' का 'वसन्त', रामविलास शर्मा का 'बाँदा में निराला-जन्म-दिवस समारोह' और सुमित्रानन्दन पन्त का 'यह धरती कितना देती है' ऐसी ही रचनाएँ हैं। वर्णनात्मक कविता का युग बीत गया है ऐसा अत्याधुनिक प्रयोगवादी कहते हैं, पर मेरा मन अभी उसी तरह की शब्द-चित्रकारी में रमता है। अपनी-अपनी रुचि है।

इस प्रकार से '५४ की ६४ कविताओं में से कुछ थोड़ी सी उत्तम कविताएँ, कुछ गीत, कुछ 'बच्चन'-शैली की (बचपन भरी) और कुछ वर्णनात्मक कविताएँ देखने पर, बची हुई ३७ कविताओं में से ११ प्रगतिशील हैं और २६ प्रयोगवादी। पहले ही बता दूँ कि दो कविताएँ इस संग्रह में पढ़कर मुझे बहुत भद्दी (वल्गर) लगीं और वे न होतीं तो अच्छा होता, वे हैं पृ० ३८ की २३, जिसमें कवि 'रात' को कहता है—

'खड़े क्या सोचते हो ?
चाक कर दो गर्भ इसका—'

और दूसरी ११६ पृष्ठ की सं० ७६ की कविता जिसमें—'काल वाहन रचते भूदान' आदि शिक्र है। 'जामात्र' शब्द भी ग़लत है। उसी प्रकार से ये रुबाइयाँ नाम की जो रचनाएँ यत्र-तत्र हैं इनमें मुझे कोई रुबाईपन नज़र नहीं आया। मसलन ये चार पंक्तियाँ कैसे रुबाई हुईं ? इनमें तो पढ़ने की लय तक अंतिम पंक्ति में टूटती है—

ज्यों सोम सरोवर में हृदय-हंस का स्नान !
ज्यों चाँदनी लहरों में बाँसुरी की तान !
मुग्धा के मृदुल अधर पै यों साध की बात;
ज्यों ओस-धुले फूल की पावन मुसकान !

और गोपालकृष्ण कौल की खटमल और बैंक वाली रुबाई का भाव डी० एच० लारेंस की एक 'पैंसी' से मिलता-जुलता है, जहाँ उसने कहा है—'दीज बग्ज आर बेटर दैन मैन। दे सक ओन्ली देअर बेलीफुल। दे डू नाट डिपाजिट माई ब्लड इन दि बैंक।' कौल साहब की रुबाई है :

खून से खटमलों के पेट भरते हैं।
ख़ूराक जो ठहरी, नहीं तो मरते हैं।
लेकिन धनदास जी, आदमी का खून

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैंक में हिफ़ाज़त से जमा करते हैं।

मैंने लारेन्स की पंक्तियाँ 'प्रगतिशीलता की दृष्टानिष्टता' नामक साहित्य-सन्देश में प्रथम स्थान पर छपे अपने सन् ४० के लेख में उद्धृत की थीं। हो सकता है कौल साहब की ये मौलिक सूझ हो, और लारेन्स की 'पैन्सीज' उनके देखने में न आई हो। पर है विलक्षण भाव-साम्य!

साम्य से साम्यवाद और वहाँ से प्रगतिशील कवियों की बात याद आई। सर्वश्री रामविलास, गिरिजाकुमार, 'सुमन', नीरज, कौल आदि की रचनाओं का ऊपर जिक्र हो ही चुका है। अब बची हुई प्रगतिवादी रचनाओं के नमूने देखिए। कुमार की 'नई कविता' से शायद उद्धृत है। परन्तु केदार अग्रवाल साहब का 'गीत' मुलाहिजा हो। और पाठक इसमें की गीतात्मकता को परखें और इसमें कवित्व कहाँ है, बताएँ। मैं मूल कविता को अपनी सुविधा से पुनर्मुद्रित कर रहा हूँ :

इसी जन्म में, इस जीवन में, हमको तुमको मान मिलेगा;
गीतों की खेती करने को 'पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा!' (टेक)
क्लेश जहाँ है फूल खिलेगा, हमको तुमको त्रान मिलेगा! फूलों की खेती०—(टेक)
दीप बुझे हैं जिन आँखों के उन आँखों को ज्ञान मिलेगा! विद्या की खेती०—(टेक)
मैं कहता हूँ, फिर कहता हूँ, हमको-तुमको प्रान मिलेगा! मोरों-सा नर्तन करने को(टेक)

आर्यसमाजी जमाने में हारमोनियम पर ऐसे ही गीत हमने सुने थे। 'मैं कहता हूँ, फिर कहता हूँ' या 'इसी जनम में, इसी जीवन में' का यह 'डिक्लेमेटरी' टोन देखिए। कविता न हुई, कचहरी में मुवक्किल के लिए की जाने वाली बहस हुई! दिनकर की 'आशा की वंशी' का स्वर भी ऐसा ही आदेशात्मक है :

'तो लिखो ;.....
'लो, अंधकार में यह बाँसुरी बजा दो!'

वीरेन्द्रकुमार जैन की 'नारंगी छीलते नाखूनों' वाली और मनोहर श्याम जोशी की 'उद्‌जन बम के युग में' प्रगतिशील होने पर भी भाव-भरी ईमानदारी से युक्त अच्छी कविताएँ हैं। रामदरश मिश्र के 'दाग', राममनोहर त्रिपाठी की 'नई पौध', त्यागी का 'गीत', शकुन्त माथुर का 'मध्यवर्ग', महेन्द्र भटनागर की 'वेदना' साधारण कोटि की प्रगतिशील रचनाएँ हैं जिनकी पहली पंक्ति से ही आगे का भाव स्पष्ट है। ये कविताएँ दिखलाती हैं कि प्रगतिवादी कविता भी कैसी भँवर में फँस गई है।

यों सब तरह की छलनियाँ काम में लाने पर बची रह जाती हैं २५-२६ कविताएँ जो आधुनिक अर्थ में नई कविता की कोटि में आती हैं और जिन्हें प्रयोगवादी भी कहा जाता है। सप्तकों में से प्रायः सभी कवि इनमें हैं और शेष शायद तीसरे और चौथे सप्तक वाले हैं : ये कवि हैं, जो कि हिन्दी के '५४ के सार्थक या 'सिग्निफिकंट' रचनाकार हैं : सर्वश्री अज्ञेय, अजितकुमार, अनन्तकुमार 'पाषाण', अनिलकुमार, ओंकारनाथ, कुंवरनारायण, केदारनाथसिंह, केसरीकुमार, मुक्तिबोध, जगदीश गुप्त, देवराज, धर्मवीर भारती, नरेश, नरेश मेहता, प्रयाग नारायण त्रिपाठी, भवानी मिश्र, भारतभूषण अग्रवाल, मदन वात्सायन, लक्ष्मीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, विजयदेवनारायण साही, श्रीकांत वर्मा, सतीशदत्त पांडेय, सर्वेश्वर सक्सेना, सुरेन्द्र दीक्षित हृषीकेश, त्रिलोचन आदि। अब इन सबमें भी सारे प्रयोगशील कवि सफल या मँजे हुए नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इनमें कई अर्द्ध कवि हैं, पौने कवि भी हैं। कइयों के प्रयोग बहुत सफल हैं, कई कुछ कम-जोरियों के, 'कैटेशिज्म' के शिकार हैं। मसलन किसी ने अपनी कविता में 'नया, नूतन, नवीन, नव' का दस बार प्रयोग किया है तो किसी की बात ठीक तरह से उभरकर सामने नहीं आई है। पर कोशिश और कशिश इन सब में एक बात ही साफ है : वे रूढ़ वृत्त-छंद, कथन की घिसी-पिटी लीकें, उच्छिष्ट और अति-चर्वण-चर्वित कल्पनाएँ और भावनाएँ छोड़कर, उनसे विद्रोह कर, उनकी उपेक्षा कर आगे चल रहे हैं—नई चेतना, नया पथ, नई दिशा, नया (पाठक) समाज-जीवन लेकर, नई कविता की नई धारा में। और मेरे इस वाक्य में अगर सात हिन्दी पत्रिकाओं का उल्लेख आ गया हो तो, वह अनजाने ही नहीं है। यह 'नयापन' क्षमा कर दीजिए।

इस नई कविता में भावगत विशेषता है। यहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ध्वनि स्पष्ट है और रूप-शिल्प की दृष्टि से गाँव की शब्दावली से ताज़ी पत्तियाँ तोड़ लाने का और निरलंकरण सादगी का आग्रह प्रधान है। मैं अपनी बात को कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करूँगा। मुझे इन नये कवियों में इतने नये हिन्दी शब्द या फिकरे मिले जो सहसा खड़ी बोली का पिछले खेवे का कवि प्रयुक्त करने का साहस न दिखाता : 'माली के छोकरे', 'लहरिया बहार', 'बोलियाँ', 'लोढ़ लाना', 'अहरे', 'भूभुरमाटी', 'ठोर', 'लोइयाँ', 'अधकचरी पाँखें', 'दिन-आछत ही', 'चिलम पियेंगे खों-खोंकर', 'भई', 'साँय पड़ी', 'कचपचिया', 'कुन्मादी', 'राजगीरों की', 'वेगसुन्दरी', 'हइया छू', 'सहालक', 'जैम', 'कुटांव', 'मरजाद', 'पातर पार धुँवारी भौंहों', 'कुस कांटों में', 'संख-सिवार में', 'कौंखती बज रही बाँसुरी', 'जीवन-कारज' 'तफ़रीह', 'घाला', 'छाँही', 'बढीले', 'दरकी', 'खुब रही', 'भुर-भुर', 'बनढँके अँधेरे का कोई जलधुला किनारा', 'गदोले', 'पफ़जैसे', 'स्वर्ण-सेंवार', 'ज्योति-जूहियों', 'अँगूरी उजास', 'मणियार साँयसी', 'सु-भ्रु', 'बेसडक', 'बभूखा', 'चुडला', 'सुरख', 'बराह', 'कूँथना', 'कूलगाँछ', 'सूर्य-छाँह', 'फेनफूल', 'चुन्नी', 'फूलसाँप', 'चरी', 'औंगन', 'लेज', 'फतोई', 'कठौते', 'गूदड़', 'कटन में', 'ठीकरे सा', 'रूँद', 'टौरियों की', 'गंध-घोड़े', 'पाँख घौरे', 'गसा', 'खाप', 'कठला', 'डांग', 'रेंजर', 'सुआपंखी', झबला', 'बेलों के घनेरे बाल', 'फाहे', 'डहरों के डाफ', 'सिराया', 'ठार हुई', 'गोड', 'ढाँप गई', 'उलीचा', 'अगनसूइयाँ', 'जामिति-रूपा' 'गिल्टी', 'आड़र', 'ठुसे रोआँ', 'बचकानी दीवारें', 'भस्का-बेरा', इत्यादि। इन शब्दों के नये प्रयोगों से स्पष्ट है कि हिन्दी की नई कविता अब केवल कोमल-कोमल, मसृण-मसृण, मधुर-मधुरतर-मधुरतम शब्दावली में सीमित नहीं है; न ही उसे केवल सघोष आक्रोश पसन्द है।

उस हिसाब से छन्दों के प्रयोग कम हैं। मुक्त छन्द कई ऊबड़-खाबड़ हैं। पंक्ति क्यों तोड़ी जाती है, यह कवि के निकट स्पष्ट नहीं है।

विषयों का विस्तार भी कम है, सिवा अनन्तकुमार 'पाषाण' की 'बम्बई में शाम' कविता के, जो सर्वाधिक, अत्याधुनिक है।

इस प्रकार से कुल मिलाकर यह संकलन इस बात का सशक्त संकेत है कि हिन्दी कविता एक नये मोड़ पर खड़ी है। घिसी-पिटी, पुनरावृत्ति करने वाली, बच्चनाइट (या टेसू-तर्ज के) गीत, प्रगतिशीलता के नाम पर जुगाली किये हुए फिकरे दुहराने वाली कविता अब न कवि को सन्तोष देती है न श्रोता को। और यह नयी कविता, सब लोग अच्छी तरह सावधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर सुन लें कि कोई हिन्दी कविता का अपना रोग नहीं है। यह विश्व-भर की सभी सुसंस्कृत भाषाओं की समस्या है। और तेलुगु 'कविता', असमिया 'रामधेनु', गुजराती 'मनीषा', मराठी 'छंद', बँगला 'पूर्वाश', कन्नड 'जीवन', उड़िया 'जयन्ती', तमिल 'लिपि', मलयालम 'मातृ-भूमि' आदि से जिनका परिचय है वे जानते हैं कि भारतीय कविता की समग्र गतिविधि किस दिशा में है? अब इस आक्रोश से काम नहीं चलेगा कि यह नई कविता केवल अँगरेजी की या इलियट की अनुकरणवती है, या कि यह सिर्फ १० साल जीने वाली है; या यह सिर्फ 'अज्ञेय' का गोरखधन्धा है। उगते सूरज से आँख मूँदकर कब तक हम रहेंगे? हिन्दी में वैसे ही हर साहित्यिक आन्दोलन अन्य भाषाओं से सबसे बाद में आता रहा है। जब बंगाल में 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्' का ब्राह्मसमाजी-थियोसाफिस्ट नारा समाप्तप्राय हुआ, तब (रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है) हिन्दी में उसने जोर पकड़ा। वही हाल नई कविता का है। अन्य सब भाषाओं में जब यह आन्दोलन न केवल एक विशिष्ट धारा बनकर प्रतिष्ठित हो चुका, स्वीकृत हो चुका, उस पर वादविवाद होकर वह उठी हुई धूल भी अब जम गई, तब हिन्दी वाले अपने 'लेट लतीफ' पन से साश्चर्य पूछते हैं, काँखते हैं, नटखटपन से मुस्कराकर फिकरे कसते हैं—'अच्छा, यह भी कविता है!' 'अरे साहब, नीग्रो या इस्पाहानी या मेक्सिकन कविता का अनुवाद है?' 'विदेशी है, विदेशी है!' मैं नम्रतापूर्वक इतना ही कहूँ कि ये सब आलोचक मतिमंद हैं, वे कालगति को, युग-दिशा को नहीं पहचानते। वे जर्मन में जिसे 'जाइट जीस्ट' कहते हैं, उस 'टाइप-स्पिरिट' से कोरे हैं। पर जो पढ़ते-लिखते, समझदार और विवेकी पुराने कवि हैं वे इस बात का महत्त्व जानते हैं, पहचानते हैं; उदाहरण के तौर पर 'दिनकर' की नीलकमल की भूमिका पढ़िए। या 'हिन्दुस्तान साप्ताहिक' में आकाशवाणी कवि सम्मेलनों पर प्रबुद्ध पाठकों की चर्चा!

अधिकतर पुराने खेवे के हिन्दी-कवियों से मैंने बातें की हैं और मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ, कि वे दूसरी भाषा और दुनिया-भर की कविता तो दूर, हिन्दी की ही नई कविता भी गौर से नहीं पढ़ते। पढ़ने मात्र से वे नफरत करते हैं। उन्हें आलोचक या आशंसक भी (राम की कृपा से) ऐसे ही मिलते हैं, जो बौद्धिकता को कविता-रस का दुश्मन मानते हैं। और आचार्य विश्वनाथ मम्मट या अधिक-से-अधिक बिहारी मतिराम तक का चटखारे ले-लेकर पारायण करते हैं; परन्तु नये कवि के नारी-वर्णन में अश्लीलता सूँघते हैं। ऐसे 'प्रिगिश' और 'प्रूड' आलोचक-स्नाबों की हिन्दी में कमी नहीं है। यह सब इसलिए चलता है कि हिन्दी का पाठक-समाज अभी दस प्रतिशत साक्षर है—साक्षर यानी कविता के अक्षर समझने वाला। अधिकांश श्रव्य कविता से आनन्द लेते हैं, फिर वह सवैयेबाजी हो, चाहे रेडियो की गीत-नामधारी दुअन्नी-फी-रचना वाली कैसी भी शब्द-रचना। पाठक का, भावक का, सामाजिक का बौद्धिक स्तर जब उठेगा, तभी सही कविता का मूल्यांकन हो सकेगा। नहीं तो तब तक प्रगतिशील समालोचक भी (जैसे 'राजधानी के कवि' की भूमिका में) कवि-सम्मेलनी कविता की 'जन-प्रियता' को कविता की एकमात्र कसौटी मानेंगे। अमरीका में हर टैक्सी-ड्राइवर ऐसी 'जनप्रिय' कविता अपने रेडियो पर सुनता है—हमारे यहाँ भी सिनेमा-गीतों की पुस्तकें कम जनप्रिय नहीं हैं; पर कोई भी गम्भीर पाठक—समालोचक तो और भी कम—उन्हें 'कविता' की चर्चा में ध्यान में भी नहीं लेते। हर चवन्नीवाली व्हीलरस्टालवाली जासूसी या सेक्सी कहानियों की किताब उपन्यास-आख्यायिका साहित्य की कोटि में नहीं आती; और अधिकतर 'कविसम्मेलनी' कविं ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचनाएँ नहीं लिखते जो छापी या पढ़ी जायँ : वे तो एक कान से सुनकर दूसरे से छोड़ दी जा सकती हैं। उनसे हिन्दी-साहित्य का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। उर्दू मुशायरे की बात और है; उसकी साहित्यिक परम्परा है। उसकी भोंडी नकल हिन्दी कवि-सम्मेलन दाद देने और 'वाह-वाह, खूब-खूब, अतिसुन्दर' कहने तक चाहे कर लें, मैंने इतने हिन्दी कवि-सम्मेलन पिछले दस बरस में देखे और सुने हैं, पर एक भी मुझे ऐसा नहीं लगा जिनमें से ५० प्रतिशत कविताएँ भी ज्यों-की-त्यों छाप दी जायँ तो साहित्य की स्थायी वस्तु हो। दस बरस पहले शायद वह जीवित संस्था हो, अब वह नितान्त 'कमर्शियल' और घिसी-पिटी चीज़ बन गई है। उन सबके बाद 'कविताएँ : १९५४' पढ़ने को मिलती है तो ताजे हवा के झोंके जैसा लगता है। मैं इस प्रकार के प्रयत्न का पुनः हार्दिक स्वागत करता हूँ। हिन्दी में यह पहली बार और नया प्रयत्न है (गुजराती की १९५३ की कविताएँ पिछले साल ही छप चुकी हैं); हर साल ऐसे संकलन ज़रूर छपें, पर चुनाव करते समय कुछ दोस्तों की मुरौवत कम रखी जाय, काव्य-विवेक सर्वोपरि हो, नाम-रौब कम। अजित ने हिन्दी पर इस तरह से अमित उपकार किया है। बधाई![1]

अनन्तकुमार पाषाण

हिन्दी कथा-साहित्य

आदरणीय बख्शीजी हिन्दी के आद्यनिर्माताओं में से हैं। नई पीढ़ी को जिन बुज़ुर्गों का आशीर्वाद सहज ही प्राप्त है, उन सहृदयों में से बख्शीजी हैं। 'हिन्दी कथा-साहित्य' उन्हीं की नवीनतम कृति है। बहुत लोगों को उसे पढ़कर शंकाएँ होंगी। नई पीढ़ी के उपन्यासकार को तो यहाँ तक लग सकता है कि अर्वाचीन चेतना के साथ कुछ थोड़ा-बहुत अन्याय ही हुआ है। यहाँ तक कि बख्शीजी ने कई महत्त्वपूर्ण नामों के सम्बन्ध में या तो कुछ कहा ही नहीं है और यदि कहा भी है तो बहुत थोड़ा। दूसरी ओर 'अंचल' जी को प्रगतिशील कथा-साहित्य का प्रतिनिधि उन्होंने मान लिया है। नये लेखकों में दो लोग चुने गए हैं—श्री शोभानन्द जोशी और श्री हरिशङ्कर परसाई। हिन्दी कथा-साहित्य पर इस पुस्तक में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी के सम्बन्ध में कुछ नहीं है। श्री धर्मवीर भारती के दोनों उपन्यास महत्त्वहीन समझकर छोड़ दिये गए हैं, श्री नागार्जुन और अमृतराय भी गायब हैं, श्री कमल जोशी का मीलों तक पता नहीं! पुराने लेखकों में से ही यदि उन नामों की तालिका बनाई जाय जिन्हें पूज्य बख्शीजी ने महत्त्वहीन समझा है तो खासी लम्बी हो। सोचिए, हिन्दी साहित्य के कथाकारों में श्रीमती उषादेवी मित्रा का नाम न हो! बंगला की जिन श्रेष्ठ पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ है, उन पर पूरा एक

१. कविताएँ : १९५४ : संचयन तथा सम्पादन—अजितकुमार, देवीशंकर अवस्थी; परामर्श—गिरिजाकुमार माथुर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'; प्रकाशक—साहित्य निकेतन, कानपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय है। किन्तु उस उतने बड़े अध्याय में श्री त्रिलोचन द्वारा अनुवादित प्रबोधकुमार सान्याल की प्रसिद्ध पुस्तक 'महाप्रस्थान के पथ पर' के सम्बन्ध में एक शब्द नहीं। व्यक्तिगत रुचि वाली बात उचित है, किन्तु उल्लेख थोड़ा-सा कुछ लेखकों का जरूरी हो जाता है।

बख्शीजी जैसे महान् विद्वान् जब साहित्य-प्रणयन के लिए उद्दाम तारुण्य को इतना जरूरी समझ लें कि वृद्धावस्था में रचना-शक्ति का ह्रास एक जरूरी चीज हो जाय तो फिर होमर, व्यास, टॉमस हार्डी, वाल्ट ह्विटमैन, जर्मन कवि रुदोल्फ़ उइकेन, 'वार एण्ड पीस' का जगप्रसिद्ध प्रणेता टॉल्सटॉय और न मालूम कितने ही ऐसे कलाकार जिन्होंने अपनी उत्कृष्टतम रचनाएँ वृद्धावस्था में लिखीं, न मालूम क्या होंगे! बेचारे कोलरिज के सम्बन्ध में लिखा है—"जब वह उद्धत और उद्दण्ड था और जब उसमें दुर्दम्य वासना थी, तब उसने 'कुबलाखाँ' नामक श्रेष्ठ कविता की रचना की। जब वह शान्त और शिष्ट हो गया, तब वह एक भी कविता न लिख सका।" अब इस किताब के छपने के बाद श्रेष्ठ कविता-प्रणयन के आकांक्षी दुर्दम्य वासना जागृत करें और शान्ति व शिष्टता को कान पकड़कर घर से बाहर कर दें!

पुस्तक में सर्वत्र बख्शीजी ने एक ही दृष्टिकोण लिया है, जो स्वयं उन्हीं के शब्दों में यह है—"सच है कि लोकप्रियता साहित्य की कसौटी नहीं है, फिर भी किसी विशेष समय में जब किसी की रचना लोकप्रिय हो जाती है तो वह कीर्ति पा ही जाती है!"

"आधुनिक उपन्यासों के सम्बन्ध में तिरस्कार का भाव आता जा रहा है," यह निर्णय भी बख्शीजी ने कर लिया है, और फिर आगे बताया है—"ज्योंही आधुनिक कलाकारों की प्रवृत्ति जीवन की हीनता को अंकित करने की ओर हुई, त्यों ही उसमें जीवन का उल्लास नष्ट हो गया!" यह नतीजे निकालकर आगे बताया गया है कि मराठी में श्री आप्टे और हिन्दी में श्री प्रेमचन्द सरल, स्वाभाविक, सजीव उपन्यासकार थे। मगर आज "वर्तमान कलाकार आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान आदि से जो प्रेरणा ले रहे हैं, उनके प्रभाव के कारण जीवन में विश्वास, श्रद्धा और आत्मिक परिपूर्ति के स्वर जैसे खो गए हैं।" इसलिए वांछित यही है कि विज्ञान, मनोविज्ञान से प्रेरणा न लेकर पूज्य आप्टे और श्रद्धेय प्रेमचन्द के उपन्यासों को मॉडल बनाकर अध्ययन किया जाय।

श्री आप्टे के उपन्यास तो मराठी में भी अब ऐतिहासिक महत्त्व के अधिक माने जाते हैं। उनकी महत्ता इसी में है कि उन्होंने आगे के लिए पथ प्रशस्त किया। कला के प्रति यह दृष्टिकोण लेना आज शायद इतना ठीक न भी हो। उन उपन्यासों में शुरू में जो अच्छा है, वह आखिर तक अच्छा है, शुरू में जो बुरा है वह आखिर तक बुरा है। श्रद्धेय प्रेमचन्द जी ने भी 'गोदान' जैसी महान् रचना तभी की जब अच्छाई-बुराई की इस तार्किकता को छोड़ा। 'अंचल' जी को हिन्दी का प्रसिद्ध उपन्यासकार बताकर उनकी बानगी दी गई है; प्रेमचन्द जी बाद के हिन्दी के उपन्यास नीरस हो गए हैं।

विदेशी साहित्य के सम्बन्ध में भी बख्शीजी के विचार काफी विवादास्पद हैं। लिखा है—"रूस के साहित्य में औपन्यासिक साहित्य का भव्य रूप गोगोल से प्रारम्भ हुआ और गोर्की में उसका अन्त हो गया!" माइखेल शोलोखोव और इलिया एहरेनबुर्ग, को ही जब बख्शीजी ने गायब कर दिया तो 'रेनबो' की लेखिका वान्दा वेसिलेवस्का का तो नाम लेना भी धृष्टता होगी। ऐसे ही औपन्यासिक साहित्य का 'भव्य रूप' गोगोल से आरम्भ हुआ, यह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई बड़ा विद्वान् ही कह सकता है। अंग्रेजी साहित्य में गॉलसवर्दी, बेनेट और वेल्स के बाद मैदानी खाली! अंग्रेजी साहित्य के कई विद्यार्थियों को यह पढ़कर बहुत ही कष्ट होगा। बख्शीजी क्या जेम्स जॉयस, एलिज़ाबेथ बोवेन, एल० पी० हार्टली, स्टीवी स्मिथ, फ्रॉरेस्ट रीड, किसी को उत्कृष्ट कलाकार नहीं मानते? मैं समझता हूँ, स्वयं अंग्रेजी के प्रतिनिधि आलोचकों का उनसे मतभेद होगा।

मराठी, रूसी और अंग्रेजी, तीन साहित्यों के बारे में बख्शीजी ने एकदम मौलिक राय जाहिर की है। मराठी साहित्य के सर्वोत्कृष्ट आलोचक प्रो० डब्ल्यू० एल० कुलकर्णी ने एक बार प्रस्तुत समीक्षक से कहा था—"आप्टे के बाद मराठी में उपन्यास का ह्रास हो गया। लगता है हिन्दी वाले उन साहित्यों के बारे में अपनी राय प्रकट कर देते हैं, जिनके बारे में वे कुछ नहीं जानते। पहले ही हिन्दी के एक मराठी साहित्यिक ने काफी गलतफ़हमियाँ फैलाई हुई हैं!" मराठी साहित्य में सर्वश्री गंगाधर गाडगिल, अरविन्द गोखले, मोकाशी, य० गो० जोशी, महादेव शास्त्री जोशी, भावे, मरढ़ेकर, आदि ने जीवन का सर्वथा नवीन विश्लेषण और कला का एकदम नवीन शिल्प प्रस्तुत किया है। मरढ़ेकर का उपन्यास "रात्रीचा दिवस' मराठी साहित्य के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

उपन्यास के शिल्प के सम्बन्ध में भी आदरणीय बख्शीजी के विचार आसानी से हज़्म नहीं किये जा सकते। "यदि उपन्यासकार यह चेष्टा करे कि वह अपने पात्र के जीवन के एक-एक दिन की छोटी-बड़ी सभी घटनाओं को बतलाए तो कई हज़ार पृष्ठों में भी उपन्यास समाप्त नहीं होगा और उसमें कौतूहल की कोई सामग्री भी नहीं रहेगी।" अंग्रेजी के युगप्रवर्तक लेखक जेम्स जॉयस के उपन्यास 'यूलीसिस' में एक व्यक्ति के केवल एक दिन की दिनचर्या का वर्णन है और बंगला में भी इस प्रकार के दो उपन्यास हाल ही में प्रकाशित हुए हैं। यदि उनमें कौतूहल की सामग्री नहीं है तो निश्चय ही साहित्य के विद्यार्थी को एक बार नये सिरे से सोचना आरम्भ करना होगा।

ई० एम० फ़ॉर्स्टर की प्रसिद्ध पुस्तक Aspects of the Novel के आधार पर बख्शीजी ने कथा को ही उपन्यास माना है। 'आख्योपन्यास' (आशय शायद अलिफ़-लैला से है) में 'जिस कौशल से शाहजादी ने बादशाह के औत्सुक्य को नष्ट नहीं होने दिया, वही सब उपन्यासकारों के लिए आवश्यक है।' 'अरेबियन नाइट्स' का उदाहरण देकर यह बात फॉर्स्टर ने अवश्य कही है, मगर चार-पाँच पृष्ठ आगे ही वह कहता है—'The life in time is so obviously base and inferior that the question naturally occurs: cannot the novelist abolish it form his work, even as the mystic asserts he has abolished it from his experience'. (Aspects of the Novel, page 41) अर्थात् उपन्यास की कथा में समय का तत्त्व निकाल देने की ओर आज का उपन्यासकार सचेष्ट होना चाहता है। और प्लॉट में घटना-तारतम्य जितना अधिक होगा उपन्यास उतना ही सीमित होगा। यदि अंग्रेजी साहित्य से तोष न हो तो कृपया महाभारत उठा लीजिए। जब दो सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं और लड़ने पर आमादा हैं, शंख बज चुके हैं, कमानें तन गई हैं, तब भगवान् कृष्ण उपदेश देना आरम्भ करते हैं। गीता की अभिव्यक्ति युद्धोद्यत दलों के बीच कैसे हुई? दोनों दल चुप खड़े रहे? महाभारत की कथा की कौतूहल-सामग्री कहाँ गई? कथा का तार तोड़ दिया गया। क्यों? शायद व्यास को उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्व का ज्ञान बिलकुल नहीं था जिसे श्री देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी में पाकर बख्शीजी इतने मुग्ध हैं। इसी तरह रामायण में भी प्रधान कथा के बीच अनेक उपकथाएँ आती हैं और प्रधान कथा का तारतम्य टूट जाता है। वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों को ही कथा कहनी नहीं आती। बख्शीजी के अनुसार हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में जो घटना-प्रधान उपन्यास लिखे गए उनमें कला का कोई सौष्ठव ही नहीं है।—यह कहना भूल होगी। मगर आधुनिक उपन्यासों में कला का सौष्ठव उतना नहीं है और इस बात को 'अंचल' जी जैसे प्रकाण्ड विद्वान् भी मानते हैं।

पृष्ठ ८१वें पर लिखा है—"भारतवर्ष में पूँजीवाद और साम्यवाद के संघर्ष के कारण साहित्य में भी यथार्थवाद के नाम से एक नई कला का प्रचार हो रहा है। उसी के कारण हम लोग पत्रों और पत्रिकाओं में प्रेम, वासना, अत्याचार, देशभक्ति, बलिदान, त्याग, उत्पीड़न और शोषण की कितनी ही कहानियाँ पढ़ा करते हैं। यह भी एक खोज है कि प्रेम और वासना का साहित्य मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रतिफलन न होकर साम्यवाद की देन है। कला के सम्बन्ध में भी बख्शीजी अनुभूति को प्रधान व अभिव्यंजना को गौण समझकर एक विवादास्पद दृष्टि-कोण उपस्थित करते हैं। पृष्ठ १२६वें पर एक ऐसे सैनिक का वर्णन है जो एक पत्र में जीवन का विश्लेषण करता है। "उस पत्र में युद्ध की भीषणता का जो चित्र अंकित हो गया था, वह किसी भी कलाकार के द्वारा अंकित नहीं हुआ था!" निर्णय निकला, वह सैनिक अभूतपूर्व कला का स्वामी था।

आधुनिक कथा-साहित्य में नारी-समस्या का विवेचन करते हुए पूज्य बख्शीजी ने नारी के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। "स्त्री कभी स्वच्छन्दता नहीं चाहती, वह प्रेम का बन्धन चाहती है," उनका मत है। "भारतवर्ष में सती-धर्म का जो गौरव है वह अन्यत्र नहीं है!" आगे फिर, "स्त्री-शिक्षा के नाम से अभी तक जो कुछ किया गया है, उसका फल देखने से यही प्रतीत होता है कि यह शिक्षा स्त्रियों के लिए विशेष लाभप्रद नहीं।" आगे कारण दिया गया है, "किसी भी ग्रामीण के हृदय में इस शिक्षा के लिए सच्ची लालसा नहीं होती।" आप पूछेंगे कि ग्रामीण द्वारा उपेक्षित इस बेहूदा शिक्षा पर वक्तव्य यहाँ ऐसे क्यों? उत्तर यह है—"आजकल आधुनिक साहित्य के उपन्यासों में प्रेम की जो समस्याएँ हैं उनके मूल में भी आधुनिक शिक्षा का प्रभाव काम कर रहा है। अतएव नारी जाति को उनके जीवन के अनुकूल ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे वे रंगभूमि की नायिकाएँ न बनकर सच्ची माताएँ और बहनें बनें!" अभी वे झूठी माताएँ और बहनें बनती हैं। नतीजा? उपन्यासकार को ऐसी नारी का चित्रण करना होगा जो आधुनिक शिक्षा के विषैले प्रभाव से दूर सच्ची माता व बहन है। जो लेखक ग्रेजुएट लड़कियों को अपने उपन्यास की नायिकाएँ बनाना चाहें सावधान हो जायँ!

ऐसी कितनी ही बातें हैं। लिखी जायँ तो काफ़ी हैं। मगर उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है। दो-तीन और ऐसी प्रचण्ड स्थापनाएँ पुस्तक में हैं कि उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। 'जीवन की यथार्थता दुःख और दुराचार में नहीं, सुख और सदाचार में है!' (पृष्ठ २६६) 'मृच्छकटिक' में जीवन का यथार्थ नहीं, 'हैम्लेट' में जीवन का यथार्थ नहीं, फील्डिंग के प्रसिद्ध उपन्यास 'टॉम जोन्स' में जीवन का यथार्थ नहीं, ज़ोला के प्रसिद्ध उपन्यास 'जर्मीनल' में जीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यथार्थ नहीं, महाभारत में तो कभी नहीं। धर्मराज स्वयं द्रौपदी को दाँव पर रखकर हार जाते हैं। फिर दो पृष्ठ आगे ही कहा है—"मुझे लगता है कि ऐसी कहानी जो वास्तविकता का आधार ही नहीं है, अधिक आयु पा सकती है। जो सर्वथा वास्तव पर निर्भर है, उस कहानी को चलते समय के साथ मर जाना चाहिए।" अच्छा होता यदि आदरणीय बख्शीजी वास्तव और यथार्थ का अन्तर स्पष्ट कर देते।

उपन्यास कहानी में बनावट भी कुछ होती है जिसे अंग्रेजी में Structure कहते हैं। उसके सम्बन्ध में 'हिन्दी कथा साहित्य' में एक शब्द भी नहीं है। मानसिक विश्लेषण को जीवन-गौरव के लिए हानिप्रद माना गया है। तिलस्म की कहानियों की कौतूहल-सामग्री उपस्थित की जानी चाहिए, यह आग्रह है। शिक्षित नारी का चित्रण रंगभूमि की नायिका का चित्रण है। असाधारण चरित्रों में जीवन की पूर्ति नहीं है। जनता की रुचि को ऊँचा उठाने के लिए उपन्यासकार को काम करना चाहिए। प्रेम, वासना आदि की आधुनिक कहानियाँ साम्यवाद की देन हैं। वास्तव का चित्रण स्थायी साहित्य नहीं बनता। कहानी में पाठक का कौतूहल बढ़ाते जाना, श्रेष्ठ कलाकार का यही काम है। इतने निष्कर्ष निकले। निवेदन है कि बहुत ही साधारण बुद्धि के भी कई लोग ऐसे मिल जायँगे जो इन्हें कठिनता से ही स्वीकार करेंगे। यह निष्कर्ष आधुनिक कथा-साहित्य को समझने में इतनी सहायता नहीं करते।

पूज्य बख्शीजी का दूसरा निष्कर्ष है कि "हिन्दी की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्यकारों की जितनी ख्याति है, उतनी ख्याति हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकारों की नहीं है। ख्याति गौरव पर निर्भर करती है। जिसमें जितना ही अधिक गौरव रहता है उसकी उतनी ही अधिक ख्याति होती है, अथवा होनी चाहिए।" और "यही बात कविता, नाटक, आलोचना आदि साहित्यिक अंगों पर लागू होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कहानी-प्रतियोगिता में तेलुगु की एक कहानी को पुरस्कार मिला था। 'राष्ट्रभाषा' हिन्दी की किसी कहानी की गिनती ही नहीं हुई।"

आशा है, हिन्दी के कहानीकार भी अगली प्रतियोगिता में इनाम जीतने की कोशिश करेंगे।[1]

डॉ० प्रेमशंकर

प्रेमचन्द : समीक्षकों की दृष्टि में

प्रेमचन्द पर अब तक जो कुछ लिखा गया है, वह प्रायः प्रशंसात्मक है। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द के निधन के अनन्तर साहित्य में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो उनकी ओट में मत-विशेष का प्रचार चाहता था। आवेश के कारण भी उस समय प्रेमचन्द का मूल्यांकन ठीक-ठीक न हो सका। उन्हें गोर्की के पद पर तो पहुँचा दिया गया, किन्तु उनके साहित्य के

१. हिन्दी कथा-साहित्य—ले० : श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी; प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल उपादानों की छान-बीन नहीं की जा सकी। दूसरी ओर एक प्रतिक्रियावादी आलोचकों का वर्ग था, जिसने यदि बहुत परिश्रम किया, तो प्रेमचन्द में उसे नये मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, नारी-चित्रण और कलात्मक परिपक्वता का अभाव दिखाई दिया।

प्रस्तुत पुस्तक प्रेमचन्द पर लिखे गए निबन्धों का संकलन है, जिसका सम्पादन डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने किया है। इस प्रकार के संकलनों की एक योजना यदि पूर्व ही तैयार कर ली जाया करे, तो सम्भवतः वे अधिक उपादेय और वैज्ञानिक हो सकते हैं। कलाकार के विभिन्न पक्षों पर उस विषय के अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लिखे जाने चाहिएँ। निश्चित रूपरेखा के अनुसार निबन्धों के होने से एक ओर यदि पुस्तक अपने में पूर्ण होगी, तो साथ ही उस कृतिकार के विषय में अनेक विद्वानों के मत भी हमें प्राप्त हो सकेंगे। पुस्तक को देखने पर यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार की कोई योजना सम्पादक ने नहीं बनाई थी। इस संकलन का महत्त्व यही है कि प्रेमचन्द पर विभिन्न दृष्टिकोण से लिखे गए निबन्ध अनेक विद्वानों के विचार प्रस्तुत करते हैं। सम्भवतः हंसराज रहबर ने भी इस प्रकार का प्रयास किया था।

पुस्तक का प्रथम निबन्ध डॉ० इन्द्रनाथ मदान का है। लेखक ने इसमें प्रेमचन्द का एक सामाजिक अनुशीलन प्रस्तुत किया है। १९०५ से लेकर १९३६ तक की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने प्रेमचन्द को प्रभावित किया था। १९२०-२२ और १९३०-३२ में होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप आने वाली नई चेतना को 'कर्मभूमि' में देखा जा सकता है। आगे चलकर किसानों की दशा बिगड़ती चली गई और 'वह किसान जो अब तक अपनी ज़मीन का मालिक था, अब महाजन का नौकर बन गया।' हमें यह स्वीकार करने में किसी प्रकार की हिचक न होनी चाहिए कि प्रेमचन्द ने यद्यपि अपने देश और समाज को बहुत निकट से देखा था, फिर भी उसके सम्पूर्ण संघर्ष और ताप को आत्मसात करने में वे सफल न हो सके। क्रान्ति और परिवर्तन को इतिहास और युग की पृष्ठभूमि में रखकर परखने की शक्ति उनमें न थी। डॉ० मदान ने जिस 'आदर्शात्मक काल्पनिक दृष्टिकोण' और 'नैतिक उपदेश' की चर्चा की है, उससे प्रेमचन्द की विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में प्रेमचन्द समाज के प्रश्नों को कुछ-कुछ पुराने ढंग से ही सुलझाना चाहते थे। उनकी भावुकतामिश्रित आदर्शवादिता उस मानवतावादी धारा से अनुप्राणित है, जो सामाजिक सुधार में क्रान्ति की अपेक्षा अधिक विश्वास रखती है। ईमानदारी और सच्चाई के नाम पर प्रेमचन्द पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु कलाकार के कर्तव्य की परिसमाप्ति यहीं नहीं हो जाती। लेखनी के द्वारा अपने साहित्य और समाज को एक नया मोड़ देने का भारी दायित्व भी उसे निभाना पड़ता है। प्रेमचन्द की इन सीमाओं पर सम्पादक ने विचार किया है। कई महत्त्वपूर्ण तथ्य उसने सामने रखे हैं। एक स्थान पर उसने लिखा है—'उन्होंने मध्यवर्ग पर भी लिखा जो प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दोनों था—प्रगतिशील तो इसलिए कि वे अतीत की कटु आलोचना करते थे और प्रतिक्रियावादी इसलिए कि वे क्रूर वर्तमान के विरुद्ध अतीत को आदर्श मानते थे।' एक क्रान्तिकारी लेखक की भाँति वर्ग-संघर्ष का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द सर्वहारा वर्ग की विजय घोषित न करा सके, हाँ, उन्होंने चित्र इतने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है कि पाठक की सहानुभूति सहज ही उसे प्राप्त हो जाती है। पर इतने से ही तो काम नहीं चलता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रंगभूमि' पर नई दृष्टि डालते हुए मन्मथनाथ गुप्त ने कुछ नये-पुराने तथ्य सामने रखे हैं। गांधीवाद से प्रभावित इस उपन्यास में राष्ट्रीय आन्दोलन को अधिक स्पष्ट रूप में पेश किया गया है। शायद इसी कारण इस उपन्यास की प्रशंसा में बहुत-कुछ कहा जा चुका है। मन्मथनाथ गुप्त ने इस दिशा में एक मार्के का प्रश्न यह उठाया है कि 'रंगभूमि' गांधीजी के महान् व्यक्तित्व में इतना अधिक डूबी हुई है कि उसमें यथार्थ की अपेक्षा आदर्श अधिक प्रभावशाली हो गया है। सूरदास की कमजोरियाँ इसीलिए क्षम्य हैं क्योंकि वह गांधीवाद की आदर्शवादिता से निर्मित है। उसमें आत्मबल है। 'सच तो यह है कि···प्रेमचन्द ने सूरदास को एक रक्त-माँस-स्पर्शहीन कल्पना होने से बचा लिया।' वह हमारे आकर्षण का केन्द्र है, किन्तु किसी नये सन्देश का वाहक नहीं। गांधीवाद का मूर्त रूप होने के कारण ही एक ओर यदि वह पूँजीवाद का विरोधी है तो साथ ही वह क्रान्ति का समर्थक नहीं है। पुलिस और जनता में जब मुठभेड़ होती है, तब वह एक बड़ा-सा पत्थर उठाकर कहता है—'अगर तुम लोग अब भी मेरी विनती न सुनोगे, तो इसी दम इस पत्थर से सिर टकराकर जान दे दूँगा। मुझे मर जाना मंजूर है, पर यह अंधेर नहीं देख सकता।' सूरदास की यह प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ गांधीवादी विचारधारा में छिप जाती हैं। विनय और सोफिया की चर्चा करते हुए लेखक ने दोनों को अस्थिर चित्त, स्पष्ट विचारहीन तथा उद्भ्रान्त कहा है। 'इन लोगों ने न तो जग को पहचाना, न अपने को। वे एक ऐसे विचार को उठाकर चले जिसके वे सर्वथा अयोग्य थे।' इस प्रकार के पात्र संवेदना के भागी हो सकते हैं, पर उनसे कोई सशक्त प्रेरणा मिलना असम्भव है। 'रंगभूमि' के पूँजीवाद को शैशवकालीन कहकर मन्मथनाथ गुप्त ने यह स्पष्ट नहीं किया कि यह प्रवृत्ति समाज में थी अथवा प्रेमचन्दजी उसका सफल चित्रण न कर सके।

'गोदान' पर बहुत-कुछ लिखा जा चुका है और यह भी निर्विवाद है कि वह हिन्दी का प्रतिनिधि उपन्यास है। कलात्मकता की दृष्टि से यदि इसका आकार कुछ कम होता, तो अच्छा था। पर सम्भवतः हर बड़े लेखक की तरह इसके माध्यम से प्रेमचन्द अपने सम्पूर्ण अनुभव और चिन्तन को अभिव्यक्ति देना चाहते थे। बाबूराव विष्णु पराड़कर ने प्रेमचन्द की तुलना चार्ल्स डिकेन्स से करते हुए दोनों को ही संकुचित अर्थ में अशिक्षित कहा है। उनके कहने का तात्पर्य यही है कि उनकी बौद्धिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बहुत मजबूत नहीं थी। किन्तु उन्होंने अपनी व्यापक और उदार संवेदना के द्वारा अपने आसपास की मानवता को समझने की कोशिश की। जिन्दगी को निकट से देखकर उन्होंने उसको चित्रित किया। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक करुणा जागृत करने का सम्बन्ध है, ये दोनों ही लेखक सफल हैं। साथ ही यह भी मानना होगा कि प्रेमचन्द में देश और समाज का चित्र अधिक स्पष्ट है। डिकेन्स अपने 'डेविड कापरफील्ड' जैसे उपन्यासों में व्यक्तिगत अनुभवों को प्रभावशाली रीति से प्रस्तुत कर सका है। पर प्रेमचन्द में निर्वैयक्तिकता अधिक है। पराड़करजी ने 'गोदान' में विचारों की परिपक्वता की ओर भी संकेत किया है। उनका कथन है कि 'सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है।' पर यह स्वीकार करना होगा कि मेहता और मालती का व्यक्तित्व गढ़ने में प्रेमचन्द को उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी होरी और धनिया में। शायद उपन्यासकार का उस जीवन से उतना गहरा परिचय नहीं था।

कहानियों के विषय में नन्ददुलारे वाजपेयी का लेख द्रष्टव्य है। लेखक ने तीन सौ में से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिनिधि कहानियों को चुनकर संक्षेप में उनकी कथावस्तु दे दी है। वाजपेयीजी ने कहानी-कला को क्रमिक विकास के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि धीरे-धीरे प्रेमचन्द में कलात्मक परिपक्वता आती गई और उनके विचार भी प्रौढ़ होते गए। इसी अवसर पर लेखक ने यह भी निर्देश किया है कि 'वे सामयिक, सामाजिक आन्दोलनों और राजनीतिक गतिविधियों के बाहर अपनी कहानियों में बहुत कम गए हैं। उनका समस्त क्षेत्र बीस-पचीस वर्षों की भारतीय जीवन-प्रगति में केन्द्रित है।' प्रेमचन्द की ये सीमाएँ ही उन्हें महान् कहानीकारों की ऊँचाई तक नहीं जाने देतीं। मानव-जीवन की अधिक गहराइयों में उतरने की कोशिश उन्होंने नहीं की। वे अपने आस-पास के समाज का रेखाचित्र प्रस्तुत करने में ही उलझे रहे। वाजपेयीजी ने प्रेमचन्द जी की जिन कलात्मक त्रुटियों की ओर इशारा किया है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कहानियों की परीक्षा एक अधिक व्यापक पैमाने पर की गई है। कहानियों को सामाजिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र मानकर लेखक ने प्रेमचन्द जी को प्रत्यक्षवादी कलाकार ठहराया है।

कहानीकार प्रेमचन्द पर लिखते हुए प्रकाशचन्द्र गुप्त ने कहा है कि 'अपने उपन्यास और कहानियों में उन्होंने भारत की आत्मा को सुरक्षित रखा है।' हम प्रेमचन्द जी की साहित्यिक ईमानदारी पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं करते। सम्भवतः वे सबसे अधिक ईमानदार हैं। साथ ही हम यह भी स्वीकार करते हैं कि कलाकार के सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने की भी उन्होंने पूरी चेष्टा की है। किन्तु जब हम विश्व के शीर्ष कहानी-लेखकों की समकक्षता में प्रेमचन्द को रखना चाहते हैं, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनका क्षेत्र सीमित है।

प्रेमचन्द के कलात्मक अभाव के विषय में डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है—'प्रेमचन्द का ध्येय समाज-सुधार था; कला की बातें गौण होकर आती हैं। उनका लक्ष्य पहले उस ध्येय की पुष्टि करना था।' निबन्ध के आरम्भ में ही प्रेमचन्द जी के उद्देश्य को बता देने से लेखक उस पुराने वादविवाद से अपने को बचा ले गया है, जो काफी समय से आलोचना का विषय बना हुआ है। कलात्मकता की दृष्टि से डॉ० रामविलास ने प्रेमचन्द जी में मिलने वाली 'सेटिंग' की पर्याप्त प्रशंसा की है। खुली आँख से अपने आसपास के समाज को देखने वाले कलाकार ही इस कला में निपुण हो सकते हैं। ग्रामीण जीवन को प्रेमचन्द ने बहुत निकट से देखा था। उसके वर्णन में किसी प्रकार की त्रुटि हमें नहीं मिलती। किन्तु मध्यवर्ग का उतना सफल अंकन वे नहीं कर सके हैं, यह भी हमें स्वीकार करना होगा। डॉ० रामविलास ने प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के भारी आकार के औचित्य के लिए 'समाज के बृहत् चित्रों' का सहारा लिया है। उपन्यास का आकार में भारी होना, स्वयं में कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है, क्योंकि विश्व-साहित्य में इस प्रकार की कृतियाँ मिलती हैं। किन्तु घटना और कथानक में एक संग्रथन होना आवश्यक है। ऊपर से जोड़े गए छोटे-छोटे कथानक उपन्यास के प्रभाव को कम कर देते हैं। इस दृष्टि से शरत् के कथानक अधिक सुगठित होते हैं।

हंसराज रहबर ने प्रेमचन्द जी को आध्यात्मिकता और आदर्शवादिता से प्रभावित रचनाकार ठहराया है। 'कायाकल्प' के चक्रधर का दृष्टान्त सामने रखते हुए उन्होंने उसे एक प्रकार का प्रतिक्रियावादी पात्र बताया है। इस प्रतिक्रियावादी भावना को उसकी ईमानदारी और सचाई ढक लेती है। प्रेमचन्द की यह आदर्शवादी विचारधारा प्रश्नों का बौद्धिक हल प्रस्तुत करने में एक बाधा बन गई है। एक चिन्तक और विचारक की भाँति वे समस्याओं का समा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धान न पेश कर सके; यत्र-तत्र केवल भावात्मक संकेत ही मिलते हैं।

प्रेमचन्द का एक सर्वेक्षण करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने उनकी व्यापक सहानुभूति पर अधिक जोर दिया है। कलाकार में संवेदना की जो शक्ति होती है, उसके द्वारा वह दूसरों तक पहुँचने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी का आत्मीय भाव विकसित था। डॉ० नगेन्द्र ने उस बात की भी चर्चा की है, जिसका संकेत मैंने अपने निबन्ध के आरम्भ में ही किया है। वे कहते हैं कि 'प्रगतिवादियों ने अपने मानव मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्ग-चेतना का आरोप किया है। परन्तु वास्तव में वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे।' प्रेमचन्द जी ने अपने व्यक्तित्व का निर्माण अपने ढंग से किया था, और उनका मानवतावादी दृष्टिकोण इस बात का साक्षी है कि वे किसी लकीर-के-फकीर नहीं थे। डॉ० नगेन्द्र ने प्रेमचन्द के विषय में चलने वाले आदर्श और यथार्थ के झगड़े पर भी विचार किया है। उनका कथन है कि प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी-उपन्यासों में कल्पना का प्राधान्य था। यही कारण है कि प्रेमचन्द की कृतियों में जीवन के चित्रों को देखते ही हम उन्हें यथार्थ की संज्ञा दे बैठे। पर उनका यथार्थवाद निश्चित रूप से आदर्शवादी रेखाओं से संचालित है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रेमचन्द के व्यापक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए भी उन्हें द्वितीय श्रेणी का लेखक ठहराया है। उनकी चेतना इतनी विशाल न थी कि वे इतिहास की पृष्ठभूमि में युग और समाज का विश्लेषण कर सकते, इसी कारण देश और काल को ही चित्रित करने में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी।

नई दृष्टि से लिखे गए इन कतिपय निबन्धों में लेखकों ने प्रेमचन्द पर अधिक तटस्थ दृष्टि से विचार किया है। उपलब्धि और अभाव को वे हमारे सामने रख सके हैं। वास्तव में यदि हम हिन्दी-आलोचना के इतिहास और विकास पर एक दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि कभी-कभी अपनी 'संकुचित राष्ट्रीयता' में हम अपने कलाकारों की अधिक प्रशंसा से अपने को गौरवान्वित करने लगते हैं। पर सुधी समालोचक का यह दायित्व हो जाता है कि वह एक व्यापक कसौटी पर कृति और कृतिकार की परीक्षा करे। यदि ऐसा न हो तो साहित्य और आलोचना के मापदण्ड कभी स्थिर नहीं हो सकते। इस दृष्टि से नये दृष्टिकोण और निरपेक्ष भाव से लिखे गए ये निबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं। जहाँ इनके लेखक ये स्वीकार करते हैं कि प्रेमचन्द जी में देश का ग्रामीण समाज बड़ी ईमानदारी से चित्रित हुआ है, वहीं वे यह भी मानते हैं कि एक महान् कलाकार की विशाल चेतना उन्हें प्राप्त नहीं थी। इस विषय में हम यही कहेंगे कि उन्हें कोई बौद्धिक विचारधारा, ऐतिहासिक ज्ञानराशि विरासत में नहीं मिली थी। और यह दुर्भाग्य तो हमारे अनेक हिन्दी-लेखकों का है, केवल प्रेमचन्द जी ही का नहीं।

इन निबन्धों के अतिरिक्त पुस्तक के अन्य निबन्ध प्रेमचन्द जी पर व्याख्यात्मक ढंग से लिखे गए हैं। वे प्रेमचन्द की कला और विचार को सामने लाते हैं। कथाकार के अन्तरंग को समझने में वे जिज्ञासु पाठक की सहायता कर सकते हैं। कुछ निबन्धों में प्रेमचन्द का मूल्यांकन बड़े ही पुराने पैमानों पर किया गया है। आश्चर्य है कि आज भी हिन्दी के जॉन्सन संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के आधार पर नई रचनाओं को परखना चाहते हैं।

अपने मिले-जुले रूप में यह संकलन प्रेमचन्द के आलोचना-साहित्य की निश्चय अभि-वृद्धि करता है। जहाँ नई समीक्षा के द्वारा हम प्रेमचन्द को ठीक-ठीक समझ सकेंगे, वहीं आगे आने वाले कथाकार उन अभावों की पूर्ति करने का भी प्रयत्न कर सकते हैं, जो उन्हें कला की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊँचाई पर जाने से रोक देते हैं। जैसा कह चुका हूँ यदि एक योजना के अनुसार संकलन तैयार कराया गया होता तो अच्छा था। फिर भी सम्पादक ने निबन्धों के चुनने में समझ-बूझ से काम लिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। एक-दो निबन्ध ही ऐसे हैं, जिनके बिना काम चल सकता था।[1]

डॉ० रांगेय राघव

बाजत आवे ढोल

सत्यार्थीजी लोकगीतों पर अनेक लेख और पुस्तकें लिख चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी परम्परा में लिखा गया है। श्री गिरिजाकुमार माथुर ने आमुख लिखा है, जिसमें लोकगीतों के स्रष्टाओं और रचनाओं के तादात्म्य पर प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट है जिसमें "एक विचारमाला प्रस्तुत की गई है। लोक वार्ता परिषद् की स्थापना" के लिए उसमें अनेक पत्र एकत्र कर दिये हैं, जिनके लेखक श्री रामनरेश त्रिपाठी तथा विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधि अथवा मन्त्री हैं। इनके अतिरिक्त श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री रामानन्द चैटर्जी, काका कालेलकर, श्री राकेश, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री कृष्णानन्द गुप्त, श्री वैरियर एलविन, श्री स० ही० वात्स्यायन, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री श्यामाचरण दुबे के पत्र काफ़ी दिलचस्प हैं और उनसे श्री सत्यार्थीजी के महान् परिश्रम और कार्य का इंगित मिलता है। सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, सूर्यकरण पारीक, बलदेव उपाध्याय, श्यामाचरण दुबे, सत्येन्द्र, भगवतीलाल भट्ट आदि के मूल्यांकन में श्री सत्यार्थीजी ने बड़े महत्त्वपूर्ण ढंग से लोकगीतों के लिए साधना करने वालों के प्रति कहे गए वचनों का संग्रह किया है। लोकगीतों के तो सत्यार्थीजी ने और भी अध्ययन लिखे हैं, किन्तु परिशिष्ट का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि उसमें एक सजीव आन्दोलन की प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है। कमी एक रह गई। परिशिष्ट में यदि विदेश के विद्वानों के वचन भी सम्मिलित कर लिए जाते तो संभवतः पुस्तक का मूल्य कहीं अधिक बढ़ जाता, क्योंकि हमारे लोकगीतों की कड़ी फिर विदेशों के लोकगीतों से जा मिलती। अन्ततः जनता तो अविभाज्य ही है और फिर यह भी तो पता चलता कि विदेशी इस विषय में क्या सोचते हैं। जो हो, जितना है, उतना भी अच्छा है।

सत्यार्थीजी ने लोकगीत अध्ययन, कविता, कहानियाँ, निबन्ध, उपन्यास, इन सभी विषयों पर लिखा है और उनकी पुस्तकें अत्यन्त आकर्षक और नयनाभिराम रही हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी उसी दीर्घ शृंखला की एक कड़ी है, जिसमें शीर्षकों का नयापन तो बहुत ही चमत्कृत करता है। श्री वेलूरि राधाकृष्ण के स्केच और लिनोकट, श्री अवनीसेन के रेखाचित्र, श्री नगेन भट्टाचार्य का आवरण चित्र, सबने सोने में सुहागे का काम किया है।

---

१. प्रेमचन्द : चिन्तन और कला; सम्पादक—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकगीतों का काम बड़ा कठिन है। लेखक ने बताया है कि सर्वश्री "टेम्पल, क्रुक, चारलस ई० गावर और ग्रियर्सन जैसे विशेषज्ञों के स्थान पर आधुनिक काल में वेरियर एलविन और डबल्यू० पी० आर्लर सरीखे विद्वानों ने महान् कार्य कर दिखाया है।" गुजरात में स्वर्गीय झवेरचंद मेघाणी, राजस्थान में स्वर्गीय सूर्यकरण पारीख, महाराष्ट्र में स्वर्गीय सानेगुरु जी, कुमारी दुर्गा भागवत, रामनरेश त्रिपाठी, रामइकबालसिंह राकेश, कृष्णदेव उपाध्याय, रामनारायण उपाध्याय, श्याम परमार, श्यामाचरणदुबे, चन्द्रभानु शर्मा, गणेश चौबे, राहुल सांकृत्यायन, मनसूरुद्दीन और जसीमुद्दीन, पद्मधर चलिहा, लक्ष्मीनारायण साहू, नेदनूरि गंगाधर्म, के० वी० जगन्नाथन् तथा अनेक संस्थाओं ने भी इस महान् कार्य को सफल करने की चेष्टा की है।

सत्यार्थीजी ने वैज्ञानिक प्रणाली लेने का निवेदन किया है और अनुवादों में आत्मा को पकड़ने की योजना बनाई है। श्री सत्यार्थी की पुस्तक की आत्मा उनकी भूमिका रूप में बलराम साहनी को समर्पित कविता में आ जाती है, जो स्वयं ही एक लोकगीत है—

मछुए के जाल पर "भूख" की कहानियाँ
मछुआ भी मछली, मछली भी मछुआ,
कौन कहे कौन सुने, कौन रोये कौन हँसे

× ×

मछुआ हो चाहे अभिनेता चलचित्र का
चाहे बनजारा संगीत गीतचित्र का
अभिनय है, अभिनय है!
दर्द वेदना की बात, चाँद चाँदनी की रात
अभिनय है, अभिनय है!

वक्तव्य, समर्पण, आमुख, ५ परिशिष्टों के अतिरिक्त पुस्तक में ७ लेख हैं, परन्तु उनमें वह मर्मस्पर्शी भावना उतनी तीव्र होकर नहीं उभर सकी है, जितनी बाकी के भागों में। उनमें वर्णन है, वैज्ञानिक विवेचन है, और व्यक्तित्व का एक गहरा अभाव है, जो समग्र पुस्तक के देखते हुए बाकी के भागों में तो पूरा हो जाता है, पर अपने-आपमें उतना महीन नहीं बन पाता। सत्यार्थीजी का गद्य लोकगीतों के पद्य की ही भाँति है जिसमें चित्र उठते हैं, गिर जाते हैं और फिर पता नहीं चल पाता कि उसका पहला भाव कब दूसरे भाव में जाकर समा गया। यह शैली सचमुच बड़ी ही सुन्दर है और झंकृत कर देने वाली है।

पुस्तक पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाएगी, खोज करने वालों को लोकगीतों के इतिहास की झलक देगी, साधारण पाठक को इसमें बड़ा आनन्द और मनोरंजन मिलेगा। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सत्यार्थीजी की दाढ़ी की वन्दना की है, और वह भी संस्कृत का कोमलकान्त पदावली वाला श्लोक लिखकर। मुझमें इतनी सामर्थ्य तो नहीं, किन्तु इतनी हृदयग्राही रचना पढ़ने के बाद मैं लेखक को वन्दना का पात्र अवश्य समझता हूँ।[1]

---

१. बाजत आवे ढोल—ले० देवेन्द्र सत्यार्थी; प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रजविलास

अमरबेल

अमरबेल वृन्दावनलाल वर्मा का नवीनतम सामाजिक उपन्यास है जिसमें स्वतन्त्रता-प्राप्ति—विशेष रूप से जमींदारी उन्मूलन—के बाद बुन्देलखण्डी ग्रामीण जीवन में होने वाले परिवर्तन और प्रगति का चित्र उपस्थित किया गया है। किन्तु इसमें गाँवों की वर्तमान स्थिति का उसकी सम्पूर्णता में यथार्थ चित्र उपस्थित करने का प्रयास कम और उसके समुन्नत भविष्य की आदर्श रूप-रेखा प्रस्तुत करने का आग्रह अधिक है। सहकारी कृषि और सहकारिता के विषय को आधार बनाकर पूरा उपन्यास लिखा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को वर्माजी की यह एक महत्त्वपूर्ण देन है। रूसी भाषा में शोलोखोव का 'लाइट इन कूर्डी' इसी विषय को लेकर लिखा गया प्रसिद्ध उपन्यास है। वस्तु तत्त्व, रूप-शिल्प और चरित्र-निर्माण सम्बन्धी गुण-दोषों की दृष्टि से 'लाइट इन कूर्डी' और 'अमरबेल' में बहुत कुछ समानता भी है। विषय से सम्बन्धित विभिन्न विवरणों, घटनाओं और तथ्यों को इतिवृत्तात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के अत्यधिक आग्रह के कारण दोनों ही उपन्यासों का कथानक असन्तुलित, घटना-प्रवाह शिथिल, शुष्क और एकरस है।

अमरबेल का प्रयोग उपन्यासकार ने व्यक्ति और समाज का शोषण करने वाले दुराग्रह, पूर्वग्रह, अन्धविश्वास तथा जमीदारी, साहूकारी और सामाजिक कुप्रथाओं आदि के प्रतीक के रूप में किया है। जिस प्रकार वृक्ष की अमरबेल उसके रस को चूसकर उसे सुखा देती है, उसी प्रकार व्यक्ति और समाज को चूसने वाली अनेक प्रकार की परोपजीवी अमरबेलें आज उन्हें शक्तिहीन बना रही हैं। सहकारी कृषि तथा अन्य सहकारी योजनाओं द्वारा ही इन अमरबेलों को काटकर हमारा गाँव-समाज अपने आदर्श लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, यही इस उपन्यास का प्रतिपाद्य है। ग्राम विकास के मार्ग में बाधक सभी सामाजिक और आर्थिक बुराइयों का हल उपन्यासकार ने सहकारी कृषि तथा अन्य सहकारी कार्यों में ढूँढा है और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए पिछले कुछ वर्षों से इस देश में चलने वाली सरकारी, गैरसरकारी सभी प्रकार की ग्राम-विकास योजनाओं ने अपनी कथावस्तु के लिए सामग्री ली है। 'अमरबेल' नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए 'परिचय' के अतिरिक्त उपन्यास में भी बीच-बीच में पात्रों द्वारा प्रायः याद दिलाया गया है कि 'समाज के वृक्ष को तरह-तरह की अमरबेलें डसे जा रही हैं' या 'मन के भीतर छाई अमरबेल मुश्किल से मुरझाती है, अभय हो जाओ तो कोई बेल कुछ नहीं कर सकती।' साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा 'व्यक्ति और समाज एक-दूसरे की अमरबेल न बन पावें।'

पूरे उपन्यास में घटनाओं के दो वृत्त हैं। एक का केन्द्र, सहकारी कृषि तथा अन्य सहकारी योजनाओं के निर्माण और विकास में योग देने वाली सुहाना वागुर्दन गाँव की सहकारी समिति है और दूसरे का, अफीम के अवैध व्यापार द्वारा अनेक साहसिक कार्यों और कुतूहल-वर्द्धक घटनाओं की सृष्टि में योग देने वाला एक दल—जिसमें गाँव का जमींदार देशराज, उसकी सहपाठिन और प्रेयसी अंजना तथा कुख्यात डाकू कालीसिंह का आश्रयदाता नाहरगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का राजा बाघराज है। दोनों वृत्तों की अपनी अलग परिधि है, जो 'टैंजेन्ट' की तरह दोनों परिधियों में प्रवेश पाने वाले जमींदार देशराज के कारण कभी-कभी एक दूसरे को छू भर देती है। समिति के कार्यों की परिधि अफ़ीम के अवैध व्यापार की अपेक्षा अधिक स्थान घेरे हुए है। पूरे उपन्यास के गठन को देखते हुए ऐसा लगता है कि अफीम के रोजगार की कहानी केवल कुतूहल और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए जोड़ी हुई है। ऐसा लगता है कि उपन्यासकार दो उद्देश्यों के मोह में पड़ गया है। एक ओर तो वह देशराज के माध्यम से आज के जमींदार वर्ग के आर्थिक और नैतिक खोखलेपन तथा आर्थिक क्षति पूर्ति के लिए किये जाने वाले उनके समाज-विरोधी कार्यों की कहानी कहना चाहता है और दूसरी ओर बदली हुई परिस्थिति में किसानों की जागृति और गाँवों के विकास का भी पूर्ण चित्र उपस्थित करना चाहता है। किन्तु इन दोनों कथाओं की दिशा भिन्न होने के कारण उपन्यास के कथानक में इनका सम्यक् संश्लेषण नहीं हो सका है जिससे उसमें अपेक्षित सुसंबद्धता और कार्यान्विति का अभाव दिखलाई पड़ता है। यद्यपि डिकेन्स, टालस्टाय, प्रेमचन्द प्रभृत महान् उपन्यासकारों के श्रेष्ठतम उपन्यासों में भी इस तरह की एकाधिक कथाओं की योजना हुई है किन्तु इन उपन्यासों का समग्र प्रभाव महाकाव्यात्मक है और उनका उद्देश्य युग का समग्र और यथार्थ चित्र उपस्थित करके कोई महान् जीवन-सन्देश देना या किसी बड़े मानवीय सत्य का उद्घाटन करना है, अतः उनमें जीवन के विविध पक्षों के उद्घाटन के लिए एक से अधिक कथाओं का होना स्वाभाविक है। किन्तु 'अमरबेल' में वर्माजी का उद्देश्य समग्र युग-जीवन का चित्र उपस्थित करना नहीं है। उन्होंने तो अपनी अधिकांश शक्ति यह दिखाने में लगाई है कि सरकार द्वारा प्रेरित और सरकारी सहायता द्वारा संचालित ग्राम-विकास योजनाओं द्वारा ही ग्रामीण जनता की उन्नति हो सकती है। इसके लिए उन्होंने बुन्देलखण्ड के एक गाँव को अपनी कथा का प्रधान कार्यक्षेत्र बनाया है। लखनऊ और नाहरगढ़ में घटित कुछ घटनाओं को छोड़कर अन्य सभी घटनाएँ इसी ग्राम में केन्द्रित हैं। इस प्रकार यह एक ऐसा आंचलिक उपन्यास है जिसमें एक छोटे से भू खण्ड को लेकर वहाँ के जीवन के कुछ ही पक्षों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। ऐसे उपन्यास में दो कथाओं को समानान्तर रूप में एक साथ रखने से कथानक में विशृंखलता तो आ ही जाती है, उसका समग्र प्रभाव भी उतना तीव्र और स्थायी नहीं हो पाता। यह तो स्पष्ट है कि वर्मा-जी ने केवल जिज्ञासा-वृत्ति की शान्ति के लिए यह उपन्यास नहीं लिखा है; उनका उद्देश्य बड़ा है, किन्तु क्या उद्देश्य के अनुरूप 'अमरबेल' के कथानक की योजना हो पाई है?

वस्तुतः यह एक वातावरण-प्रधान उपन्यास है। इस प्रकार के उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य किसी देशकाल-विशेष की बाह्य परिस्थितियों और घटनाओं के यथार्थ चित्रण द्वारा उस देशकाल तथा समाज का मूर्त-चित्र उपस्थित करना होता है। अमरबेल में भी उपन्यासकार का यही उद्देश्य दिखलाई पड़ता है क्योंकि इसमें किसान-आन्दोलन, जुलूस, प्रभात-फेरी, राजनीतिक दलबन्दी, गाँव-समिति का निर्माण तथा ग्राम-सुधार सम्बन्धी अन्य योजनाओं जैसे नहर और कुलियों की खुदाई, खेतों की कटाई, ट्रैक्टरों द्वारा कोसों का उत्पाटन, ग्राम-रक्षा-दल और प्रौढ़ पाठशाला की स्थापना, चकबन्दी, गाँव की सफाई आदि के विस्तृत और ब्योरेवार वर्णन में जितनी शक्ति और प्रतिभा उपन्यासकार ने लगाई है उतनी इन परिस्थितियों के बीच जन्म लेने वाले नये सामाजिक मनुष्य के चित्रण में नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब घटनाएँ अपने-आपमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और सामयिकता का तकाजा है कि इनका भी उपयोग उपन्यासों में किसी-न-किसी रूप में किया जाय, किन्तु केवल इस प्रकार की सामयिक घटनाओं को आधार बनाकर इतिवृत्तात्मक ढंग से लिखे जाने वाले उपन्यासों को राल्फ फाक्स के शब्दों में 'प्रथम श्रेणी की पत्रकारिता' ही माना जायगा। शोलोखोव के 'लाइट इन कूर्दी' की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वर्तमान रूसी साहित्य में किसान आन्दोलन, मजदूर हड़ताल या रूसी क्रान्ति आदि को लेकर इस प्रकार के बहुत से उपन्यास लिखे गए हैं। इन्हीं उपन्यासों को ध्यान में रखकर राल्फ फाक्स ने लिखा है कि 'अनेक समाजवादी उपन्यासकार, जिन्होंने अपनी सारी शक्ति और प्रतिभा मजदूर हड़ताल, सामाजिक आन्दोलन, समाजवाद का निर्माण, क्रान्ति अथवा गृहयुद्ध का चित्रण करने में लगाई है, यह बिलकुल भूल गए हैं, कि सामाजिक परिवेश से अधिक महत्त्वपूर्ण है उस परिवेश की पृष्ठभूमि में खड़ा होने वाला सशक्त और जीवन्त (नावेल एण्ड पीपुल; पृ० १०५)। अमरबेल के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। इसमें मनुष्य का परिवेश और उसकी बाह्य क्रियाशीलता ही प्रधान हो गई है और इन परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया से निर्मित मनुष्य का सामाजिक व्यक्तित्व गौण हो गया है।

यही कारण है कि इस उपन्यास में पात्रों के व्यक्तित्व का विकास अथवा उनकी समग्रता का उद्घाटन नहीं हो सका है और अधिकांश पात्र ग्राम-विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के साधन-मात्र बनकर रह गए हैं। 'समूहवादी' अध्यापक टहलराम और 'जहाँ से जो मिल जाय सब संग्रह करने वाले' डॉ० सनेहीलाल के जीवन को तो लेखक ने सहकारी समिति और उसके कार्यों से ऐसा बाँध दिया है कि वे और किसी काम के रह ही नहीं गए हैं। मजबूर होकर बेचारे कठपुतली की तरह लेखक के इशारे पर नाचते रहते हैं। उपन्यास के प्रायः सभी प्रमुख पात्र किसी-न-किसी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में ही रखे गए हैं। जनक, दमरू, छदामी आदि थोड़े से सामान्य चरित्रों को छोड़कर अपना निजी व्यक्तित्व किसी भी चरित्र में नहीं दिखलाई पड़ता। वर्गगत चरित्र के रूप में, अवश्य, इनका बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण हुआ है। इस दृष्टि से 'गाँव के नेता' टहल के रूप में बात-बात में 'सामन्तवाद, पूँजीवाद, पलायनवाद और पुनरुत्थानवाद का नारा लगाने वाले 'टिपिकल' कम्युनिस्ट का बड़ा ही स्वाभाविक और यथार्थ चित्र उपन्यासकार ने उपस्थित किया गया है—'ढीला पैजामा, पाँवचा जरा फटा और मटमैला, अद्धी कमीज, बिखरे लहराते बाल, पैरों में चप्पल।' 'रूढ़ियों के संहार और वर्ग-संघर्ष में विश्वास करने वाला, पुनरुत्थानवादियों का घोर विरोधी' जिसके लिए 'गायन-वादन सब पलायनवाद है।' वर्माजी ने टहल के द्वारा ही यह कहलाकर कि इस उपन्यास में 'वर्ग-संघर्ष, मजदूर-क्रान्ति या विकासोन्मुखता की कहानी होती तो अवश्य पढ़ जाता' वर्ग-विशेष के आलोचकों पर भी गहरा व्यंग किया है। इसी तरह देशराज मुमूर्ष जमींदार-वर्ग का सच्चा प्रतिनिधि चरित्र है। वर्तमान समय में इस वर्ग के लोगों में अवसरवादिता, कपटाचरण, विलासिता तथा लोभवृत्ति आदि जो बुराइयाँ दिखलाई पड़ती हैं, देशराज में वे सभी किसी-न-किसी मात्रा में वर्तमान हैं। डॉ० सनेहीलाल तो त्याग और सेवा के मूर्त्तरूप ही हैं। कुख्यात डाकू कालीसिंह समाचार पत्रों के प्रसिद्ध डाकू मानसिंह की याद दिलाता है (यह कहना कि वही है, खतरे से खाली नहीं)। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि वर्माजी ने देशराज को उपन्यास के नायक के रूप में उपस्थित किया है, किन्तु वह इतना अशक्त चरित्र है और उपन्यास की मुख्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथा से उसका इतना कम सम्बन्ध है कि उसे नायक के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्य चरित्रों में भी कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण चरित्र नहीं है जिसे उपन्यास का नायक कहा जा सके। अतः चरित्र की दृष्टि से भी यह उपन्यास मेरुदण्ड-विहीन मालूम पड़ता है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्माजी ने जितने ही सशक्त चरित्र दिये हैं, अमरबेल में उनके चरित्र उतने ही अशक्त हैं।

उपन्यासों में स्थानीय रंग (Local colour) देने के लिए तो वर्माजी प्रसिद्ध ही हैं। वह इसमें भी है। वैसे अपनी इस विशेषता के लिए प्रसिद्ध अन्य उपन्यासकारों के कुछ उपन्यासों में यह प्रवृत्ति दोष की सीमा तक पहुँच गई है। वर्माजी में यह प्रवृत्ति सन्तुलित रूप में दिखलाई पड़ती है। स्थानीय रंग देकर वातावरण को सजीव और यथार्थ बनाने में वर्माजी सफल हुए हैं और जैसा मैंने पहले कहा, यही उनका उद्देश्य भी है। बुन्देलखण्ड के गाँवों और वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों का संश्लिष्ट चित्र देने के साथ ही, वहाँ के रीतिरिवाज और सामाजिक प्रथाओं का भी कहीं-कहीं स्वाभाविक चित्रण किया गया है। भाषा सजीव और सशक्त है। भाषा में स्थानीय पुट दे देने से उसमें विशेष स्वाभाविकता आ गई है।

यद्यपि इस उपन्यास में मानवीय संवेदनाओं की गहराई और मर्मस्पर्शी स्थलों का अभाव है किन्तु रोमांचक घटनाओं की योजना और आंचलिक जीवन तथा प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण द्वारा इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति हो गई है। सच तो यह है कि यह वर्माजी की ही कुशल लेखनी का परिणाम है कि इतने शुष्क विषय को लेकर भी उन्होंने ऐसी कथा की सृष्टि की है जिसमें कल्पना और यथार्थ का सुन्दर समन्वय हुआ है। गाँवों के नव-निर्माण के महत्त्वपूर्ण और पवित्र उद्देश्य की दृष्टि से आधुनिक उपन्यास-साहित्य में अमरबेल का निश्चित रूप से महत्त्व-पूर्ण स्थान है। यह उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने और व्यक्तिवादी तथा कुण्ठा-ग्रस्त भावनाओं से पीड़ित वर्तमान उपन्यास-साहित्य की धारा को स्वस्थ दिशा में मोड़ने में योग देगा, ऐसा हमारा विश्वास है।[1]

नलिन विलोचन शर्मा

मैला आँचल (१)

'मैला आँचल' फणीश्वरनाथ 'रेणु' का प्रथम उपन्यास है। यह ऐसा सौभाग्यशाली उपन्यास है जो लेखक की प्रथम कृति होने पर भी उसे ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त करा दे कि वह चाहे तो फिर कुछ और न भी लिखे। ऐसी कृति से लेखक को यह कठिनता भी होती है कि वह अपने लिए ऐसा प्रतिमान स्थिर कर देता है जिसकी पुनरावृत्ति कठिन होती है, गरचे, हमें विश्वास है, रेणु 'मैला आँचल' से भी उत्कृष्टतर कृतियाँ प्रस्तुत कर सकेंगे।

'मैला आँचल' गत वर्ष का ही श्रेष्ठ उपन्यास नहीं है, वह हिन्दी के दस श्रेष्ठ

१. अमरबेल; ले०—वृन्दावनलाल वर्मा; प्रकाशक—मयूर प्रकाशन, झाँसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यासों में सहज ही परिगणनीय है। स्वयं मैंने हिन्दी के दस श्रेष्ठ उपन्यासों की जो तालिका प्रकाशित कराई है उसमें उसे सम्मिलित करने में मुझे कठिनाई न होगी। मैं किसी द्विधा के बिना एक उपन्यास को हटाकर इसके लिए जगह बना सकता हूँ। बिना किसी प्रचार या विज्ञापन के ही 'मैला आँचल' हिन्दी के उस विस्तृत क्षेत्र में तत्क्षण प्रसिद्ध हो गया जिसमें अपवाद-स्वरूप ही कोई पुस्तक इतनी शीघ्र ज्ञात होती है। मैंने इसे 'गोदान' के बाद हिन्दी का वैसा दूसरा महान् उपन्यास माना है। मुझे सन्तोष है कि मेरा यह मत दूर-दूर तक प्रतिध्वनित हुआ है।

हिन्दी के एकाधिक उपन्यासकारों ने दो-चार स्त्रियों पुरुषों के—यहाँ तक कि एक ही स्त्री या पुरुष के—जीवन को लेकर खासे अच्छे उपन्यास लिखे हैं। किन्तु जो उपन्यासकार व्यष्टि को नहीं, समष्टि को ही, सिद्धान्त में प्रधानता देते हैं, वे भी अपने आदर्श को उपन्यास का रूप देने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। हिन्दी के ऐसे उपन्यासकारों ने यदि समष्टि का चित्रण किया भी है तो कुछेक पात्रों को ही सामान्य-लक्षण 'टाइप' बनाकर, अर्थात् प्रधानतः व्यक्ति या व्यक्तियों की ही रही है, समूह गौण, प्रासंगिक ही बना रह गया है। यह हिन्दी के उपन्यासों का ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के, किंबहुना अँग्रेजी तक के उपन्यासों का एक अभाव है। पुराने रूसी उपन्यासकारों में टालसटाय 'वार ऐंड पीस' में और नयों में साम्यवादी मान्यताओं को साहित्य में रूपान्तरित करने के प्रयास के फलस्वरूप, एकाधिक लेखकों के बीच शोलोकोव, समष्टि को ही औपन्यासिक पात्रता प्रदान करने वालों में उल्लेख्य हैं। अमरीकी उपन्यासकारों में भी पुराने सिन्क्लेयर लीविस और नये जॉन स्टाइनबेक, इस दृष्टि से उदाहरणीय हैं, यद्यपि इन्होंने किसी राजनीतिक सिद्धान्त की प्रेरणा से अपने उपन्यास नहीं लिखे हैं। भारतीय उपन्यासकारों में प्रेमचन्द अपवादस्वरूप थे क्योंकि उन्होंने, बिना किसी साहित्येतर सिद्धान्त के आग्रह के, 'गोदान' जैसा महान् समष्टिमूलक उपन्यास लिखा, जिसका मुख्य पात्र है तत्कालीन भारतीय जीवन। उनकी इस उपलब्धि की ओर, मुझे इसका सन्तोष है, मैंने सर्वप्रथम हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था, अन्यथा उनकी महिमा गाने से कभी न अघाने वाले आलोचक भी, 'गोदान' के स्थापत्य की असफलता की ही घोषणा करते रहे।

मुझे उपन्यास के इस प्रकार की तनिक विस्तार से चर्चा करनी पड़ी है, क्योंकि 'मैला-आँचल' इसी प्रकार का, 'गोदान' की परम्परा में, भारतीय भाषाओं का दूसरा उपन्यास है।

'गोदान' की तुलना में 'मैला आँचल' की अपनी सीमाएँ हैं। समष्टिमूलक उपन्यास के अनुरूप जैसा महाकाव्योचित स्थापत्य 'गोदान' में है, उसके विपरीत 'मैला आँचल' सुसम्बद्ध स्थापत्य का उपन्यास है। यही कारण है कि दूसरे उपन्यास का पात्र बिहार का एक छोटा-सा अंचल है, पर पहले का पात्र समग्र भारतीय जीवन है। 'मैला आँचल' की यह सीमा है, पर दुर्बलता नहीं, क्योंकि उसके लेखक को भी चित्रणीय जीवन का आत्मीयतापूर्ण ज्ञान है, व्यापक दृष्टि है, परकाय-प्रवेशवाली उपन्यासकारोचित सामर्थ्य है और सर्वोपरि है चित्रांकन के समय ऐकान्तिक तटस्थता और निर्लिप्तता बनाए रखने वाली कलाकारोचित प्रतिभा। 'रेणु' ने अपने हृदय की सारी ममता और करुणा उँडेलकर ही अपने गाँव और वहाँ रहने वालों को जाना होगा, जैसे प्रेमचन्द ने जाना था, किन्तु शरतचन्द्र के-से लगने वाले भी उसके पात्र उनकी वकालत वसूलने में कहीं सफल नहीं होते। अपने उपन्यास की शीर्षकहीन संक्षिप्त भूमिका में, 'रेणु'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ये पंक्तियाँ मुझे इसी आशय के साथ पूर्णतः उचित प्रतीत हुई हैं—"इसमें फूल भी हैं, शूल भी; धूल भी है, गुलाल भी; कीचड़ भी है, चन्दन भी; सुन्दरता भी है, कुरूपता भी—मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।"

मैं यहीं यह भी कह दूँ कि अपनी सम्पूर्णता में काव्य का प्रभाव उत्पन्न करने वाले इस उपन्यास में यही वह अधिक-से-अधिक कवितापन है जिसकी छूट लेखक ने अपने को दी है।

मैंने 'मैला आँचल' को अपने द्वारा उद्भावित वर्ग में रखकर परखने की कोशिश की है। स्वयं लेखक ने इसे एक आंचलिक उपन्यास कहना पसन्द किया है। उसका अपना कथन है—"यह है मैला आँचल, एक आँचलिक उपन्यास। कथांचल है पूर्णिया। पूर्णिया—बिहार राज्य का एक जिला है।....मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को—पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर—इस किताब का कथा-क्षेत्र बनाया है।" बंगला में इसी अंचल पर आधारित उपन्यास 'जागरी' कुछ दिनों पहले प्रसिद्ध हो चुका है। बंगला के अन्य लेखकों के आँचलिक उपन्यासों ने भी समुचित महत्त्व प्राप्त किया है। लेकिन 'मैला आँचल' केवल आँचलिक उपन्यास ही नहीं है। इसके अतिरिक्त उसकी क्या विशेषता है, मैं पहले ही व्यक्त कर चुका हूँ।

हिन्दी में उपन्यास की आलोचना के मानी होते हैं आलोच्य उपन्यास की कहानी संक्षेप में लिख देना। मैं यों ही इसे अनावश्यक मानता हूँ। 'मैला आँचल' की आलोचना में तो यह प्रणाली नितान्त अनावश्यक है, क्योंकि कथा के अनेक आभासों से बुनी गई इस उपन्यास की सम्पूर्ण कथावस्तु का संक्षेपीकरण सम्भव नहीं है, जो वस्तुतः इसका दुर्लभ सामग्रिक वैशिष्ट्य है।

'रेणु' ने प्रेमचन्द की तुलना में 'कथांचल' को सीमित रखा है, किन्तु पात्रों और जीवन के पहलुओं के बीच की खाइयों को उस तरह ही पाट डाला है जिस तरह प्रेमचन्द ने, जिनके चरित्र-चित्रण का विवेचन करते हुए मैंने इसका अन्यत्र विस्तार से विवेचन किया है। अनगिनत गरीब और धनी, अशिक्षित और उच्च-शिक्षित, स्त्री और पुरुष पात्रों से संकुल हुए उपन्यास का चित्रित जीवन किसी स्थल में अविश्वसनीय नहीं होता—वहाँ भी नहीं जहाँ नाटकीय घटनाएँ घट जाती हैं—क्योंकि लेखक ने उस सत्य का चित्रण अपना लक्ष्य रखा है जो कभी-कभी गल्प से भी, सचमुच ही, विचित्रतर होता है।

'मैला आँचल' की भाषा से हिन्दी समृद्ध हुई है। 'रेणु' ने कुशलता से ऐसी शैली का प्रयोग किया है जिसमें आँचलिक भाषा-तत्त्व परिनिष्ठित भाषा में घुलमिल जाते हैं। कोई कारण नहीं था कि वे अपनी शैली के सम्बन्ध में आत्मविश्वास के अभाव का परिचय-सा देते हुए, प्रत्येक अध्याय के बाद पाद-टिप्पणियों के रूप में, प्रयुक्त आंचलिक शब्दों के परिनिष्ठित रूप भी प्रस्तुत करते।

हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में, यदि गत्यवरोध था, तो इस कृति से वह हट गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

मैला आँचल (२)

खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल

लेकिन यह मैला आँचल किसी विपन्न देहाती तरुणी की फटी-छिदी ओढ़नी का मैला आँचल नहीं, बल्कि वह क्षेत्र है जिसे डाक्टर प्रशान्त के साथ मोटर में बैठी हुई ममता देख रही है—लेखक ने जिसका चित्र देते हुए लिखा है "विशाल मैदान—वन्ध्या धरती—यही है वह मशहूर मैदान—नेपाल से शुरू होकर गंगा किनारे तक—वीरान—धूमिल—अंचल"—याने क्षेत्र—! इसी धूमिल क्षेत्र के एक गाँव के धूमिल मटमैले, दाग़दार जीवन का यथातथ्य, हू-ब-हू, लेकिन करुणा की आर्द्रता, संवेदना की ममता, प्रकट देखने वाली आँख की निराशा और प्रकट से पार देखने वाली आँख की अदम्य आशा से भरा हुआ—असुन्दरता में सुन्दरता, कटुता में करुणा, व्यंग्य में वेदना लिये हुए—अद्वितीय चित्र है यह फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास 'मैला आँचल'।

पहली चीज जो उपन्यास में मन को अपनी ओर खींचती है, वह उसकी एकदम नई कला है। रेणु ने उपन्यास को लिखते समय अपने परिच्छेदों को लघु-कथाओं-सा अपने में पूरा और मनोरंजक बना दिया है और उसमें कुछ परिच्छेद तो ऐसे सुन्दर उतरे हैं कि अनायास दाद देने को जी हो उठता है। कालीचरण के अखाड़े पर बजते ढोल की आवाज़ों को व्यक्त करते हुए लेखक ने जो बोल दिये हैं वे अनायास कुश्ती को आँखों के सामने मूर्तिमान कर देते हैं। संथालों की लड़ाई का चित्र भी उनके बाजों के स्वर की पार्श्वभूमि में लेखक ने अपूर्व कौशल से चित्रित किया है। रेणु गायन और वादन-शास्त्र के पण्डित मालूम होते हैं, ढोल हो मृदंग हो या कोई दूसरा साज हो, नृत्य की गति हो या लोकगीत की तान—जहाँ-जहाँ भी उन्होंने उसका वर्णन किया है शब्दों में जान डाल दी है। और-तो-और मोटर और ट्रक के रुकने तक की आवाज़ों को अक्षरों द्वारा सामने ला रखा है। परिच्छेद एक पात्र या किस्से से शुरू होता है और दुनिया-जहान की बात करता हुआ कड़ी-से-कड़ी मिलाता वहीं आ खत्म होता है।

साधारण रोमानी उपन्यास पढ़ने वालों को हो सकता है कि यह शैली पसन्द न आये, लेकिन सुन्दर कला का रस पाने वाले निश्चय ही इस नवीन शैली का स्वागत करेंगे। उपन्यास एक ही बैठक में शायद समाप्त न किया जाय, दो-एक परिच्छेद पढ़कर रख दिया जाय, पर रख देने पर फिर उठाने को मन करता रहेगा और फिर शुरू करने पर और भी अच्छा लगेगा। दूसरों की बात मैं नहीं कह सकता, मेरे साथ ऐसा ही हुआ।

नई टेकनीक और नये कला-प्रयोगों के साथ लेखक ने लोकगीतों को अपनी कथा की रग-रग में समो दिया है। हिन्दी में अकेले देवेन्द्र सत्यार्थी हैं जो लोकगीतों का प्रयोग अपनी कथा-कहानियों या उपन्यासों में करते हैं। रेणु और सत्यार्थी में यह अन्तर है कि जहाँ सत्यार्थी के लोकगीत कथा का अंग नहीं बन पाते, वहाँ रेणु के लोकगीत कथा की नस-नस में जैसे रस-मिस जाते हैं। सत्यार्थी ने लोकगीतों का अध्ययन शायद बाहर वाले की हैसियत से किया है, लेकिन 'मैला आँचल' के लेखक का वे रोज का आहार दिखाई देते हैं, और फिर लोकगीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार बदलते हैं, बनते हैं, दैनिक समस्याओं के बारे में सादालौह देहातियों की भावनाओं को व्यक्त करते हैं, इस सब प्रक्रिया का चित्र रेणु ने अपने उपन्यास में दिया है। लगता है जैसे भट्टी तप रही है और नित नये लोकगीत वहाँ से ढलकर निकल रहे हैं। अजाने में ही यह हो रहा है, ऐसी बात नहीं। इसके पीछे एक सचेत प्रयास है, लोकगीतों के द्वारा तीव्र व्यंग्य उस व्यवस्था के प्रति लेखक ने किया है जहाँ ब्राह्मण चमारिन और भंगन को कुएँ पर तो पानी नहीं पीने देता, पर उसके साथ रात काटने को बुरा नहीं समझता।

बालदेव, बावनदास और कालीचरण का चरित्र-चित्रण अपूर्व उतरा है। डॉ० प्रशान्त का उल्लेख मैं इसलिए नहीं करता कि वैसे डाक्टर की झलक हम कुछ पहले के बंगाली उपन्यासों में देख चुके हैं, यद्यपि लेखक ने उसे नायक का दर्जा प्रदान किया है और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ उसकी सहानुभूति भी प्रदर्शित की है तो भी उसकी अपेक्षा दूसरे पात्र कहीं सजीव होकर उतरे हैं।

बालदेव देश के ऐसे शत-शत कांग्रेसी नेताओं का प्रतिनिधित्व करता है जो अपने जाने महात्मा गांधी का अनुकरण करते हैं, लेकिन वास्तव में उनका मुँह चिढ़ाते हैं। बालदेव की गिरावट भी, जिसका दर्शन हम उपन्यास के अन्त में काल्पनिक मिनिस्ट्री के लोभ में महात्मा गांधी की चिट्ठियों के छिपा लेने के प्रकरण में करते हैं, बिलकुल वैसी है जैसी की आज के अधिकांश कांग्रेसी नेताओं की।

बावनदास को लेखक का बड़ा ममत्व मिला है और उसका चरित्र बड़ा ही दर्द-भरा और सजीव उतरा है। बावनदास महात्मा गांधी का ही प्रतिरूप है—और यह प्रतिरूप है देश के उन कांग्रेसी नेताओं का जो पद के लोभ में नहीं पड़े और महात्मा गाँधी का अनुकरण करते रहे। बावनदास के चरित्र-चित्रण द्वारा ही हम जानते हैं कि महात्मा गांधी जिन सिद्धान्तों के लिये जिये और मरे, उनकी हत्या गोडसे जैसे प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिकों द्वारा ही नहीं हुई, बल्कि उन दूसरे लोगों के द्वारा हुई जिनका कर्तव्य उन सिद्धान्तों की रक्षा करना था। साम्प्रदायिकों, कांग्रेसियों और पुलिसियों—तीनों ने मिलकर महात्मा गांधी की हत्या की। उन सिद्धान्तों की हत्या की जिनके लिए वह जन्म-भर लड़ते रहे।

कालीचरण का चरित्र देश की बढ़ती हुई जागरूक जनता के प्रतिनिधि का चरित्र-चित्रण है जिसे कांग्रेस और पुलिस का आतंक किसी दोष के बिना यातना देता है। गुण्डा और लुटेरा घोषित करता है और अन्त में अनचाहे डाकू बन जाने को बाधित करता है।

बालदेव, बावनदास और कालीचरण इनके चरित्र-चित्रण द्वारा लेखक ने अद्वितीय ढंग से पिछले ७-८ वर्षों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन और उसके खोखलेपन का खाका खींचा है। राजनीतिक क्षेत्र में यदि महात्मा गांधी का बलिदान सदा याद रहेगा तो साहित्य के पन्नों पर बावनदास का बलिदान सदा अमिट रेखाओं में अंकित रहेगा।

उपन्यास में कोई त्रुटि न हो ऐसी बात नहीं। लेकिन उसकी खूबियों के बाहुल्य में त्रुटियाँ छिप जाती हैं। पहली त्रुटि तो उपन्यास का एक ही बैठक में न पढ़ा जा सकना है जो साधारण पाठकों के लिए इसके रसास्वादन में कठिनाई पैदा कर देता है। इसका एक कारण तो उपन्यास की नई कला है और दूसरा स्थानीय शब्दों का बाहुल्य। जहाँ स्थानीय शब्द व्यंग्य को लेकर आये हैं, वहाँ तो वे अनिवार्य हैं जैसे 'इन्कलाब जिन्दाबाद' या 'इन्कलास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्दाबाद' और वह सारे शहरी शब्द जो देहात में जाकर बिगड़ जाते हैं, लेकिन जहाँ ऐसे देहाती शब्दों का प्रयोग किया गया है जो हिन्दी में प्रचलित हैं वहाँ वे कोई अर्थ सिद्ध नहीं करते और उपन्यास के रसास्वादन में बाधा उपस्थित करते हैं।

कहानी का अभाव भी कुछ पाठकों को खटक सकता है हालाँकि बड़े उपन्यास में वैसी कहानी का होना कहाँ तक वांछनीय है यह प्रश्न विवादग्रस्त है। 'मैला आँचल' किसी कहानी को न कहकर उस 'मैले आँचल' की पूरी कहानी कहता है, जिसका उल्लेख शुरू में किया गया है।

ममता को, समझ नहीं आता, लेखक ने किस दृष्टि से रखा है। उपन्यास में तो वह हाथ की छठी अंगुली-सी लगती है जो कोई काम नहीं करती, निरर्थक-सी लटकती रहती है।

स्थानीय शब्दों के अर्थ हर परिच्छेद के अन्त में दिये गए हैं। यदि हर पृष्ठ के शब्द उसी पृष्ठ के नीचे फुटनोट में दिये गए होते तो बहुत अच्छा होता और पढ़ने में आसानी रहती।

कमली के माता-पिता का जो चित्र रेणु ने प्रस्तुत किया है वह अनायास मन को छूता है। उसकी माँ के हृदय की विशालता तो सचमुच हृदय को बाँध लेती है। उसकी लड़की ने उसके समझाने के बावजूद अपना आँचल मैला कर लिया है तो भी माँ की बाँहें उसके और उस जारज शिशु के लिए खुली हैं। अन्त रेणु ने सुखद कर दिया है, पर यदि प्रशान्त न आते, जेल में ही मर जाते और तब भी माँ का स्नेह बना रहता और वह पिता के क्रोध के बावजूद अपनी बेटी को किसी दूसरे से स्नेह करने और शादी करने तक में मदद देती तो मैं समझता हूँ कि आधुनिक नारी की एक प्रमुख समस्या का हल देते। और तब शायद उपन्यास और भी ऊँचा उतरता।

लेकिन इन कुछ त्रुटियों के बावजूद उपन्यास आधुनिक हिन्दी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा, इसकी पूरी आशा है। 'मैला आँचल' एक बड़े विस्तृत लेख की अपेक्षा रखता है। दुर्भाग्य से इस छोटे से लेख में इसके गुणों को अच्छी तरह उजागर नहीं किया जा सकता। उसकी सूक्ष्मताएँ तो इसमें आ ही नहीं सकतीं। लेकिन सूत्र-रूप में इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रेमचन्द ने 'गोदान' में जो परम्परा स्थापित की थी, जिसे नागार्जुन ने अपने आँचलिक उपन्यासों द्वारा आगे बढ़ाया, 'मैला आँचल' निश्चय ही उस परम्परा का अगला कदम है और हिन्दी उपन्यास-साहित्य में मील के पत्थर का स्थान रखता है।[1]

डॉक्टर रामखिलावन पाण्डेय

दिनकर की नई काव्य-कृतियाँ

'नई कविता' कहते समय कवि कुछ ऐसा आश्वस्त रहता है कि पुरानी कसौटी कुछ ऐसी घिस गई है कि उस पर कस कर काव्य के खरेपन की जाँच नहीं हो सकती। वह कवि आत्म-तोष प्राप्त करने की चेष्टा करता है कि आगे आने वाली पीढ़ी उपयुक्त और नई कसौटी का निर्माण

१. 'मैला आँचल'; लेखक—फणीश्वरनाथ 'रेणु'; प्रकाशक—समता प्रकाशन, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर उसकी रचनाओं का मोल कूतेगी तथा भावी कल उसे समाहृत कर अपने को धन्य मानेगा। 'नई कविता' कहते समय आलोचक की धारणा और आस्था रहती है कि इस काव्य-धारा में स्थिरता और गरिमा नहीं आई है, अतः उनके गम्भीर और तात्त्विक विवेचन की वह अधिकारिणी नहीं। पाठक कुछ चमत्कृत, कुछ विस्मय-विमुग्ध और कुछ खोया-सा रह जाता है कि यह सब क्या है, क्या हो रहा है। वर्तमान के प्रति अनास्था की ये दृष्टियाँ काव्य-क्षितिज को धूमिल बनाती हैं। 'नई कविता' के लिए 'नई कसौटी' की माँग नई नहीं और जब तक कोई नई कसौटी बन पाए तब तक वह नई कविता पुरानी हो गई रहती है और नूतनता की माँग पहले से भी अधिक तीव्र। मनुष्य बदलता है, अतः युग बदलता है; रुचि बदलती है, अतः कला-सम्बन्धिनी धारणाएँ बदलती हैं; भौतिक जगत् परिवर्तित होता है इसलिए आध्यात्मिक-मानसिक जगत् बदल जाता है, अतः कला का रूप भी। अन्तर और बाहर दो विच्छिन्न तथा परस्पर असम्बद्ध तत्त्व नहीं, वस्तुतः इन दोनों के तादात्म्यपूर्ण सन्तुलन और समन्वयात्मक अन्विति में कविता की सफलता है; और वही कविता के लिए प्रयोग और आलोचना के लिए सिद्धान्त है।

दिनकर का ज़ीन पॉल सार्त्र के साथ विश्वास है कि 'कला उन लोगों के साथ वार्तालाप का रूप नहीं ले सकती जो या तो मर चुके हैं या अभी पैदा ही नहीं हुए हैं।' वह पूर्णतया वर्तमान का कवि है, अतः वर्तमान के उत्साह-आवेश, आशा-आशंका, स्फूर्ति और वेदना उसकी कविताओं में सन्निहित हैं। वह मानता है कि 'किताबों की असली जिन्दगी यही है, जब वे समाज में हलचल मचा सकती हैं, जब वे अपने लिए दोस्त और दुश्मन पैदा कर सकती हैं।"[1] इस कसौटी पर 'नीम के पत्ते' और 'दिल्ली' दोनों सफल हैं, क्योंकि दोनों में तिक्तता है—वह तिक्तता जो आशानुरूप सफलता के अभाव की परिणति है। राजनीतिक उपलब्धियों से जीवन को जो प्राणमयी स्फूर्ति मिलनी चाहिए थी उसके अभाव में कविता में आवेश और उन्मेष के स्थान में एक प्रकार का अवसाद ही मिल रहा है और दिनकर का कवि इसे विस्मरण नहीं कर पाता। दिनकर राजनीतिक पार्श्वभूमि का कवि है, अतः उसके सामाजिक तत्त्वों में पर्याप्त उभार है और उसे अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता और कौशल भी। दिनकर जिस दिन उदय ले रहा था उस समय 'छायावाद' की विस्मय-विमोहिनी शक्ति ने उसकी कविता में 'अतीत के खण्डहरों' को सजीव किया और आज जब वर्तमान का गीत गा रहा है तो प्रयोगवाद प्रयोगों का अनुवीक्षणात्मक संगठन कर रहा है; किन्तु इतना स्पष्ट है कि दिनकर की नई कविताओं और विशेषकर 'नील कुसुम' में संग्रहीत कविताओं में न तो छायावाद की धूमिल कल्पना की धूपछाँह है और न प्रयोगवादियों के दल की नौसिखुये कूँची का बिखरा हुआ रंग ही। दिनकर की नई कविताएँ कटे-छँटे हीरों की भाँति हैं जो खराद पर चढ़कर अधिक कीमती बन गई हैं।

हिन्दी-आलोचना वक्तव्य विषय को इतना महत्त्व देती रही है कि उसकी अभिव्यक्ति प्रणाली-शैली गौण बन गई, अतः अभिव्यक्ति के प्रति एक प्रकार का पूर्वग्रह ही संघटित होता आया है। काव्य से उपलब्ध आनन्द के आधारों और कारणों पर विचार करते समय यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि विभिन्न रुचि, संस्कार, शिक्षा और परिवेश के कारण विभिन्न पाठकों का आनन्द एकाधिक आधारों का आश्रित है। प्रत्येक पाठक का आनन्द एक ही कारण का

१. रेती के फूल, पृ० ८०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम अथवा फल नहीं। प्रत्येक पाठक की उपलब्धियाँ उसकी ग्राहिका शक्ति और संक्षोभ्य-शीलता की काव्यगत परिणतियाँ हैं; वक्तव्य विषय की केवल महत्ता ही काव्यात्मक गरिमा का साधन नहीं। छायावादी आन्दोलन ने भाषा को चित्ताकर्षिणी मनोरमता, नादात्मक चमत्कार और कौशल, एवं मार्मिक सुकुमारता दी थी, किन्तु उस काव्य-धारा में निर्दिष्टता और सीमा-संकेत का अभाव था। छायावाद को पंकिल 'गुदगुदपने' और अनिर्दिष्ट मूर्त्त-विधान से मुक्त करने का प्रयास किया 'दिनकर' और 'बच्चन' ने; अनुभूतियों के वैविध्य और अनुभव के विस्तार के साथ दिनकर को जो क्रमशः नवीन संस्कार प्राप्त हुए उसकी परिणति केवल काव्य-विषय के विस्तार में ही परिलक्षित नहीं होती बल्कि उसकी अभिव्यक्ति में भी सीमा-निर्देश, निर्दिष्टता, लाक्षणिक सजगता, प्रत्यक्ष प्रभाव और संकोतात्मक स्फूर्ति है। यह चमत्कारिक भाषा-प्रयोग उर्दू कविता की सजीवता और सजगता प्रकट करती है जिसमें उसकी 'नाजुक बयानियों' से भिन्न एक प्रकार का सहज प्रत्यक्ष और आक्रामक प्रभाव है। विषय की नवीनता ने भाषागत नूतन स्फूर्ति की जो माँग रखी थी, उसे संस्पर्शिता और प्रत्यक्ष संवेदनीयता देने में 'दिनकर' सफल हुआ है और उसकी सफलता का दूरी-निर्देशक प्रतीक है 'नील कुसुम'। 'जोश' और 'इकबाल' की चटशाला ने दिनकर की भाषा को ताजगी, स्फूर्ति, नवीन संवेदनशीलता, नव्य आवेगात्मक स्पन्दन और प्रवाहशीलता दी है। 'नील कुसुम' से कवि का एक नूतन अभियान सूचित होता है यद्यपि छायावादी खरडहर भी कुछ रह गए हैं (जैसे पावस-गीत, चन्द्राह्वान)। इसमें न तो 'हाहा-कार' का कोलाहलपूर्ण आक्रोश है और न 'रेणुका' का मोह ही; 'रसवन्ती' की मन्द्र-मधुर, स्निग्धतरल धारा भी नहीं और न कुरुक्षेत्र की चिन्तन-चिन्ता ही।

'विज्ञान' और 'बुद्धिवाद' से आतंकित कवि को कला-कल्याणी की शीतल छाँह क्षण-भर ही विश्राम दे पाई, ऐसा मुझे जान पड़ता है, किन्तु कलाकार यदि कला की प्रतिमा को ही अर्घ्य-दान दे तो विचारों की कसौटी उसे कैसे और क्यों रोके-थामे ? तर्क के प्रति उसकी आश्वस्त शंका से उसकी संगति नष्ट नहीं होगी चाहे मनुष्य अपनी शंकाओं को ही तर्क की कसौटी क्यों न बना ले। सतत-चारियों को रुककर शान्ति का कूल-किनारा खोजने का आदेश उपलब्धि को सहज भाव से ग्रहण करने का जो संकेत उपस्थित करता है, उसमें 'निरी बुद्धि के लिए भावना के दलन' का त्याग नहीं बल्कि गतिशीलता की लयात्मकता के प्रति अविश्वास भी है। भावुक कल्याण-मूलक मानवतावाद की श्रद्धा-विगलित भावधारा में प्रवहमान दिनकर की स्थापना है—

बड़ी कविता कि जो इस भूमि को सुन्दर बनाती है,
बड़ा वह ज्ञान जिससे व्यर्थ की चिन्ता नहीं होती।
बड़ा वह आदमी जो जिन्दगी भर काम करता है,
बड़ी वह रूह जो रोए बिना तन से निकलती है।

हिन्दी कविता का एक दुर्भाग्य यह रहा है कि 'वादों' और 'विवादों' ने इसके मार्ग में रोड़े सदा अटकाए हैं। 'वादों' की अधिक छाप के कारण आधुनिक हिन्दी-कविता को उस पोस्टकार्ड का रूप मिल गया है जिस पर भिन्न-भिन्न डाकखानों की तरह-तरह की बेशुमार मुहरें लगी हैं। किन्तु इसके गन्तव्य स्थान की सूचना दिनकर की रचनाओं में है। दिनकर की खड़ी बोली में जो निखार है, उसमें उस धारणा का निराकरण है कि मूल भाषा-भाषी कवि ही काव्यात्मक महिमा का विस्तार पा सकता है। शैली और अभिव्यक्ति के रूप में नूतन लाक्षणिक संस्कार का उद्घोष, और भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सजीव स्फूर्तिजन्य परिणति को यदि कसौटी माना जाय तो दिनकर आधुनिक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि है और नवीन शैली का अन्यतम कलाकार।[1]

सिद्धनाथ कुमार

नवीना

"'नवीना' का प्रकाशन उद्जन बम के परीक्षण-काल में हो रहा है, इसलिए इसके विषय में कुछ अधिक कहने का अवकाश नहीं है।"—यह श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय के नवीन काव्य-संग्रह 'नवीना' के 'निवेदन' का प्रथम वाक्य है। कवि को अपनी कविताओं के सम्बन्ध में कुछ कहने का अवकाश भले ही न हो, समीक्षक को तो अवकाश निकालकर उसके सम्बन्ध में कुछ अवश्य ही कहना है। पाण्डेयजी ने जिसे उद्जन बम का परीक्षण-काल कहा है, वह उद्जन बम का ही नहीं, मानव-सभ्यता एवं संस्कृति का ही परीक्षण-काल है। आज इन सबके अस्तित्व के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगे हुए हैं, और इनके अस्तित्व की रक्षा करने एवं सार्थकता सिद्ध करने के लिए सभी क्षेत्रों के जागरूक व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्रों में प्रयोग कर रहे हैं। सच कहा जाय, तो यह युग ही प्रयोगों का है। आज हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में भी अनेक प्रयोग हो रहे हैं। पर प्रयोगों की दृष्टि से 'नवीना' हमें सन्तोष नहीं देगी, यद्यपि इसमें दो-चार ऐसी कविताएँ अवश्य हैं, जो इस बात की सूचना देती हैं कि पाण्डेयजी का कवि नवीन उद्भावनाओं की दिशा में उन्मुख है। एक ऐसी ही कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं :

घिर रहीं काली घटाएँ
ज्यों मनुज की भावनाएँ
जो पड़ी बन्दी अभी थीं पा गईं उत्थान।
उमड़ता है जलधि-जल
ज्यों पीड़ितों का अतल कोमल
साँस से ही कर रहा युग-प्रलय का आह्वान।

'नवीना' की अधिकांश कविताओं में नये प्रयोगों का अभाव है, और इस अभाव के आधार पर इनकी आलोचना करना उचित नहीं होगा। साथ ही, कवि-विशेष से विशेष प्रकार की रचना की माँग करने का हमें कोई अधिकार भी नहीं है। लेकिन जब प्रयोगों की चर्चा चली है, तो इतना तो हम कह ही सकते हैं कि नये प्रयोग कवि की शक्ति के परिचायक होते हैं। वह सब छोड़कर नये पथ पर अग्रसर होता है, वह कहाँ तक अपनी उद्भावनाओं के द्वारा अपने तथा अपने युग को अभिव्यक्त कर अपनी वैयक्तिकता स्थापित कर पाता है। महान् कलाकार अपने पूर्वजों एवं अग्रजों के स्वरों को प्रतिध्वनित नहीं करता, नये स्वरों की सृष्टि करता है। उसके

१. 'नील कुसुम', उदयाचल, पटना, १९५४; 'रेती के फूल', श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना, १९५४; 'दिल्ली', उदयाचल, पटना, १९५४; और 'नीम के पत्ते' (निबन्ध-संग्रह), श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना, १९५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में जैसा कि तुर्गनेव ने कहा है, साहित्य की नहीं, जीवन की गन्ध होती है। 'नवीना' की कुछ कविताओं में हमें साहित्य की ही गन्ध मिलती है, उनमें छायावाद-युग की प्रतिध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। कहीं-कहीं तो ये प्रतिध्वनियाँ बड़ी स्पष्ट शब्दावलियों में आई हैं। उदाहरण हैं—'प्रिय पुलक के गान मेरे', 'दीप-सा तन है जला', 'प्राण मेरे दीप से जल', 'दे गई कितनी सजलता अग्निमय पहचान', 'यह सिक्त व्यथा से अंचल है', 'प्राणपिक प्रिय नाम लेकर कर रहा कमनीय कूजन' आदि। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि पाण्डेयजी छायावाद-युग के बहुत निकट रहे हैं; उन्होंने उसका निकट से अध्ययन भी किया है। लगता है, छायावाद-युग की प्रवृत्तियाँ उनके संस्कार में आ गई हैं। युग बदल गया है, पर संस्कार कुछ बदले हैं, कुछ नहीं बदल पाए हैं। इसलिए 'नवीना' के गीतों को पढ़ते समय पाठक के सम्मुख एक विचित्र उलझन की स्थिति आ जाती है। वह समझ नहीं पाता कि किन गीतों की भाव-भूमि आध्यात्मिक (?) है, और किनकी लौकिक। कवि कहीं 'चिर सुन्दर' का उल्लेख करता है, कहीं 'प्रियतम' को सम्बोधित करता है, कहीं 'सुमुखि' को, कहीं 'रानी' को। इन गीतों में कहीं 'चिरविरह' की बातें हैं, कहीं लौकिक जीवन की। जिन गीतों में कवि लौकिक भाव-भूमि पर निश्चित रूप से उतर आया है, उनमें वह अपनी अनुभूतियों की मार्मिक एवं सफल अभिव्यक्ति कर सका है। ऐसी रचनाओं को हम प्रतिकृतियाँ नहीं, नई कृतियाँ कह सकते हैं। 'जब याद कभी तुम आ जातीं' 'मुझसे ही मेरा अलख द्वन्द', 'विश्व चलता जा रहा है', 'एक यों ही रात फिर बरसात की', 'याद है वह रात !' आदि रचनाएँ सचमुच सुन्दर बन पड़ी हैं।

'नवीना' में सब मिलाकर १३० कविताएँ संकलित हैं। जैसा ऊपर कहा गया, संग्रह की रचनाएँ किसी एक पृष्ठभूमि पर नहीं रची गई हैं। उनकी भाव-भूमियाँ अपनी-अपनी हैं, उनके विषय भिन्न-भिन्न हैं, पर उनसे इतना स्पष्ट परिलक्षित होता है कि पाण्डेयजी मूलतः प्रकृति एवं सौन्दर्य के कवि हैं। प्रकृति के सौंदर्य ने उनके अन्तर का स्पर्श किया है और उन्हें अभिव्यक्ति की प्रेरणा दी है। उन्होंने प्रकृति के जिस रूप को देखा है, वह कोमल और मधुर है। 'शरद की सरस वायु बहने लगी है' 'नव वसंत की साँझ सुनहला सुन्दर-सा आकाश', 'फिर से सावन के दिन आए', 'शुभ्र शरद ऋतुओं की रानी', 'बाहु में भर चाँदनी तरु सो गए' आदि रचनाओं में उनकी सौन्दर्य-चेतना की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। प्रकृति के सहज सौंदर्य को कवि ने बड़े ही सहज ढंग से अंकित कर दिया है। इन प्रकृति-चित्रों की सरलता एवं स्वाभाविकता ही इनकी विशेषता है। इनका अपना आकर्षण है, अपना सौन्दर्य। कहीं-कहीं तो नवीन चित्रों के द्वारा कवि ने प्रकृति को बड़े अभिनव रूप में उपस्थित किया है। एक उदाहरण देखिए :

ये भरे बादल,
भरी आँखों में जैसे हो लगा काजल !
झनन झनकारें,
गूँजते हों दूर जैसे पुलक पायल !
और यह शुभ रूप,
जैसे प्राण पोषक धूप जाड़े की !

पाण्डेयजी सब से अधिक सफल अपने प्रकृति-चित्रों में ही दीखते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नवीना' में कुछ विभिन्न विषयक रचनाएँ भी हैं। दीपावली के त्योहार ने, लगता है, जैसे कवि को बहुत प्रभावित किया है। कई कविताएँ दीपावली पर ही लिखी गई हैं, पर इनकी विशेषता यह है कि कवि ने दीपावली को विभिन्न कविताओं में विभिन्न रूपों में देखा है। कुछ कविताओं की प्रथम पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जायगा 'लो स्वर्ग उतर आया भू पर', 'दीपमालाओं का शृङ्गार', 'दीपशिखा की श्री-सुषमा से आज धरा आलोकित', 'आज धरा ने छीनी नभ से जगमग दीपावलियाँ' और 'सचमुच सकुच स्वर्ग बेचारा इस धरती से हारा।' होली पर भी कुछ कविताएँ हैं। भारतेन्दु और 'प्रसाद' पर भी एक-एक रचना संग्रह में दी गई है।

'नवीना' की अनेक कविताओं से यह भी स्पष्ट है कि पाण्डेयजी युग-चेतना के प्रति जागरूक हैं। कवि देख रहा है कि

माया मृग मरीचिका में फँस
भटक रहा जग जीवन,
उमड़ रहा दुख का भव सागर
चिंताकुल त्रिभुवन चेतन!

कवि युग की वैषम्य आदि की समस्याओं से परिचित है; वह युद्धों से संत्रस्त युग-जीवन को शान्ति का सन्देश देना अपना कर्तव्य समझता है। उसने कहा भी है :

अखिल भ्रान्तिकर निखिल क्रान्तिकर शांति पर्व के गाने,
गा न सके यदि भारत का कवि तो सब व्यर्थ तराने।

कवि ने युग की समस्याओं को कई कविताओं में अंकित किया है। यद्यपि 'ऐ नंगे-भूखे कंकालों के प्रतिनिधि कवि तू जाग जाग', 'गाँधी बाबा', 'मानव' आदि में वह इतिवृत्तात्मक ही अधिक रहा है और इनमें कोई विशेषता नहीं झलकती, पर कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं (जैसे, 'मिट्टी की यह माँग', 'नील-नभ-सागर-तरंगों की तुला में', 'मन के हैं कुछ काम', 'मैं दुधारी गाय' आदि) जिन्हें हम सफल कह सकते हैं। जैसा कि कवि ने 'निवेदन' में विश्वास प्रकट किया है, इन कविताओं में हमें विश्वास, आस्था और परस्पर स्नेह-सद्भावना के स्वर मिलते हैं, यद्यपि 'निवेदन' की प्रथम पंक्ति ('नवीना का प्रकाशन उद्जन बम के परीक्षण-काल में हो रहा है; इसलिए इसके विषय में कुछ अधिक कहने का अवकाश नहीं है।') से ज्ञात होता है, जैसे कवि स्वयं ही इस उद्जनयुग से संत्रस्त और आशंकित है।

पाण्डेयजी की भाषा यद्यपि अधिकांश स्थलों पर छायावादयुगीन काव्य से प्रभावित दीखती है, पर जहाँ-जहाँ उसे व्यावहारिक जीवन की भाषा अथवा ग्रामीण प्रयोगों के स्पर्श मिले हैं, वहाँ-वहाँ वह चमक उठी है। एक उदाहरण देखिए :

अदरा के बदरा घहराए
भर भदरा इठलाता,
बिना तुम्हारे मेरा चातक-
चित, पल चैन न पाता।

यदि भाषा-सम्बन्धी एक-दो नित्य प्रयोगों का उल्लेख अनिवार्य हो, तो कहा जा सकता है कि एक ही रचना में 'तेरे' और 'तुम्हारे' का व्यवहार हुआ है, 'समानी' ('तुम्हीं साँस में साधना बन समानी') और 'मुरझानी' ('क्या न प्राण से प्यार प्राण का पंकिलता मुरझानी') जैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछेक शब्दों के प्रयोग हुए हैं।

संक्षेप में, 'नवीना' नवीना ही नहीं, प्राचीन भी है। उसमें अनेक स्वर हैं—नये कम, पुराने अधिक। जहाँ पुराने स्वरों की प्रतिध्वनियाँ ही सुनाई पड़ती हैं, वहाँ इसकी अपनी विशिष्टता नहीं रह जाती, पर जहाँ कवि अपने छायावादी संस्कारों से मुक्त होकर नये स्वरों की सृष्टि कर सका है, वहाँ इसकी अपनी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं।[1]

बद्रीनारायण श्रीवास्तव

कबीर-साहित्य की परख

'कबीर-साहित्य की परख' कबीरदास को समझने का नवीनतम प्रयास कहा जा सकता है। विद्वान् लेखक ने ग्रन्थ के पाँच खण्डों में सन्तकाव्य की परम्परा, कबीर साहब और पूर्ववर्ती कवियों की रचनाएँ, कबीर साहब और विभिन्न दार्शनिक मत, कबीर-साहित्य का अध्ययन, कबीर साहब की रचनाएँ; कबीर साहब : सिद्धान्त और साधना; कबीर-साहब का समन्वयवाद; कबीर साहब का रहस्यवाद, कबीर साहब की सौन्दर्य-भावना; कबीर साहब की प्रतीक-योजना, कबीर साहब की उलटबाँसियाँ, कबीर-साहित्य में काव्य-प्रकार एवं छन्द-योजना; कबीर साहब की भाषा एवं रचना-शैली, कबीर साहब के कुछ परम्परागत पारिभाषिक शब्द आदि शीर्षकों के अन्तर्गत कबीर से सम्बन्धित प्रायः सभी समस्याओं पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। लेखक के मत से सन्त-काव्य की परम्परा का एक अस्पष्ट रूप कबीर साहब के पहले से भी विद्यमान था।....कामदेव, त्रिलोचन और साधना-जैसे सन्त लगभग इसी प्रकार की रचना करते आ रहे थे :....स्वयं गीतगोविन्दकार जयदेव तक ने कुछ ऐसे पद लिखे थे जिनमें से दो 'आदि ग्रन्थ' में संगृहीत हैं, परन्तु उनकी रचनाओं में वह भाव-गाम्भीर्य नहीं आ पाया जो सर्वप्रथम कबीर साहब की बानियों में दीख पड़ा।....'सन्तों की साखियों तथा बानियों के पूर्वरूप हमें नाथ-पंथियों की सबदियों तथा 'जोगेसुरी बानियों' में दीख पड़ते हैं जिनके विषय भी लगभग एक ही ढंग के हैं।' नाथ-पंथियों का मार्ग जैन और बौद्ध-सिद्धों ने प्रशस्त कर दिया था। सन्तों ने इनसे पर्याप्त प्रभाव भी ग्रहण किए। फिर भी लेखक का मत है, 'कबीर साहब इन सिद्धों के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को मानते अवश्य नहीं जान पड़ते और इसी कारण उन्होंने उनकी आलोचना भी की है। किन्तु, जिन साधारण मन्तव्यों के विषय में उनके साथ कोई मतभेद नहीं उनके वर्णन में वे कभी-कभी इनका अनुकरण तक करते जान पड़ते हैं और वे इनके अनेक पारिभाषिक शब्दों को अपनाने तथा उनकी आलोचनात्मक शैली को प्रयोग में लाने की चेष्टा करते हैं।' सिद्धों के अतिरिक्त नाथ-कवियों की रचनाओं का भी प्रभाव कबीर साहब की बानियों में दीख पड़ता है। लेखक के मत से, 'कबीर साहब की रचनाओं के अन्तर्गत कहीं-कहीं ऐसा भी जान पड़ता है कि वहाँ उन्होंने गुरु गोरखनाथ के वाक्यांशों अथवा पंक्तियों को केवल थोड़े ही हेर-फेर के साथ प्रायः ज्यों-का-त्यों अपना लिया है और उन्हें अपनी अभि-

१. 'नवीना'—ले० गंगाप्रसाद पाण्डेय, प्र० रामनारायणलाल, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति का साधन बना डाला है।' कबीर साहब की रचनाओं के कई अंशों का साम्य इसी प्रकार जैन मुनियों की कृतियों के साथ भी प्रदर्शित किया जा सकता है। जैन मुनि रामसिंह, योगिन्दु, सोमप्रभसूरि, आदि के स्पष्ट प्रभाव कबीरदास की रचनाओं पर पाए जाते हैं। 'ढोला मारूरा दूहा' की अनेक पंक्तियों को भी कबीरदास ने ज्यों-का-त्यों अपना लिया है। सन्त जयदेव तथा सन्त नामदेव की उपलब्ध रचनाओं का भी प्रभाव कबीरदास पर देखा जा सकता है। लेखक के मत से 'कबीरदास ने अपनी उपलब्ध सामग्री का सदुपयोग अच्छे ढंग से किया है।'

लेखक का यह निश्चित मत है कि 'कबीर के सहज धर्म वा साधारण धर्म के अन्तर्गत ···जन्मान्तर और कर्मवाद तथा भक्तिवाद के अतिरिक्त नाथ-पंथियों के योगवाद, जैनियों के अहिंसावाद, सहजयानियों के सहजवाद व मुसलमानों के एकेश्वरवाद तथा सूफ़ियों के रहस्यवाद आदि अनेक मतों के प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं।····कबीर साहब की रचनाओं से प्रकट होता है कि इस विषय में उन्होंने सत्य के वास्तविक रूप को समझने और समझाने की चेष्टा की थी और उन्हें विश्वास था कि इसके द्वारा वे सारे धार्मिक मतभेदों को सरलता से दूर कर सकेंगे।'

'कबीर-साहित्य का अध्ययन' शीर्षक के अन्तर्गत लेखक ने कबीरदास के जीवन एवं काव्य पर लिखने वाले सन्तों एवं विद्वानों के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ दी हैं, वे पर्याप्त खोजपूर्ण एवं उपयोगी हैं। कबीरदास पर लिखे गए नवीनतम ग्रन्थों की आलोचना भी लेखक ने इसी प्रसंग में की है और इस आलोचना में बहुत कुछ गुरुता है।

कबीर साहब की रचनाओं का परिचय देते हुए लेखक ने केवल प्रकाशित ग्रन्थों का ही मूल्यांकन किया है, कबीर-पंथी साहित्य का अधिकांश अभी भी अप्रकाशित है और विद्वान् खोजियों की प्रतीक्षा में मठों एवं फुटकल सन्तों तथा गृहस्थों की अँधेरी कोठरियों में पड़ा है। विद्वान् लेखक से इस अध्याय के अन्तर्गत इन हस्तलिखित पोथियों, उनके पाठ, उनकी प्रामाणिकता आदि के सम्बन्ध में उसी प्रकार के गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा थी जिस प्रकार का अध्ययन डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'तुलसीदास की रचनाओं की हस्तलिखित पोथियों के सम्बन्ध में किया है।

'कबीर-साहित्य की परख' के सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय हैं—कबीर साहब : सिद्धान्त और साधना, कबीर साहब का रहस्यवाद, कबीर-साहब की सौन्दर्य-भावना तथा कबीर साहब की प्रतीक-योजना। लेखक ने कबीर साहब की रचनाओं की पूरी छानबीन करके उनके दार्शनिक सिद्धान्तों की बड़ी ही पूर्ण एवं प्रौढ़ व्याख्या की है। परमतत्त्व, जीवतत्त्व, मायातत्त्व आदि के विवेचन के साथ ही लेखक ने कबीरदास के सामाजिक सिद्धान्त, कबीर साहब की साधना, आत्म-विचार, भावभगति, सहज शील का अभ्यास आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य ही खटकने वाली है। कबीरदास के साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे वैष्णवाचार्य रामानन्द के विचारों से बहुत दूर तक प्रभावित थे। रामानन्द के राम की ही भाँति कबीरदास के भी राम विश्व के स्रष्टा, ज्योतिस्वरूप, दिव्य गुणों के समुद्र, सर्वत्र परिव्याप्त, सर्वोपास्य, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, मन-वाणी से परे एवं नित्य हैं; वे असंख्य कल्याणगुणों के आकार हैं, आनन्दस्वरूप हैं तथा उदार एवं भक्त-वत्सल हैं; उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदारता जाति-पाँति की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। यद्यपि कबीरदास अवतारी राम में अपनी आस्था नहीं प्रकट करते फिर भी अपने 'निर्गुण' के गुणों एवं विशेषणों का वर्णन उन्होंने उसी प्रकार किया है जिस प्रकार स्वामी रामानन्द ने अपने 'राम' के सम्बन्ध में किया था। इसी प्रकार कबीरदास की जीव-माया-सम्बन्धी भावनाओं पर भी वैष्णव प्रभाव दूर तक देखा जा सकता है। जहाँ तक मोक्ष का सम्बन्ध है कबीरदास न तो अर्चिरादि मार्गों में ही विश्वास करते हैं और और न सायुज्य मुक्ति में ही। फिर भी उन्हें वैष्णवों की भाँति ही अपने आराध्य के साथ विहार करने में अधिक सुख मिलता है—रामानन्द से उन्होंने जो कुछ सीखा, उसे वे पूर्णतः भूल नहीं गए।

कबीरदास की भक्ति-पद्धति पर तो वैष्णवों का प्रभाव बहुत ही अधिक जान पड़ता है। कभी-कभी इन प्रभावों के आधिक्य से कहना ही पड़ता है कि कबीरदास मूलतः वैष्णव थे। कबीरदास की आस्था पंचसंस्कारों में अवश्य ही नहीं थी, किन्तु राम के प्रति अनन्य अनुराग, भगवान् की सेवा (कबीर की सेवा स्थूल कम सूक्ष्म अधिक थी); तैलधारावत भगवन्नामस्मरण विवेक और योग आदि भक्ति के अन्य आवश्यक अंगों में कबीरदास की निश्चित रूप से आस्था थी। नवधा भक्तिश्रवण, कीर्तन, संस्मरण, पदश्रिति, समर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन के सूक्ष्म एवं अशरीरी रूप में कबीर की बहुत अधिक आस्था थी। वे स्थूल कीर्तनादि में विश्वास नहीं करते थे। किन्तु उसके मानसिक पक्ष को वे कभी भूलते भी नहीं थे और चाहते थे कि उनका मन दिन-रात भगवान् के गुणों का श्रवण, उनका कीर्तन, उनके चरणों की सेवा, उनकी अर्चना-वन्दना आदि किया करे। आत्म-निवेदन तो कबीरदास में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है। इसी प्रकार वैष्णवी 'प्रपत्ति' के प्रायः छहों अंगों में कबीर की आस्था थी। अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का परित्याग, रक्षण-विषयक विश्वास, गोप्तृत्ववरण, आत्मनिक्षेप कार्पण्य, आदि कबीरदास की भक्ति के प्रमुख अंग थे। कायिकी, वाचकी और मानसी प्रपत्ति में कबीर को मानसी प्रपत्ति ही मान्य थी; सात्विकी, राजसी और तामसी प्रपत्ति में वे सात्विकी में अधिक आस्था रखते थे। कबीरदास में आर्त्तप्रपन्न की सभी विशेषताएँ विद्यमान थीं। अर्चावतार में अवश्य ही वे आस्था नहीं रखते थे। फिर भी वैष्णवों के न्यास प्रवृत्ति से निवृत्ति, तथा ध्यान में वे पूरा-पूरा विश्वास रखते थे और उनकी भक्ति के ये दो दृढ़ स्तम्भ भी थे। जहाँ तक भगवत्कृपा-प्राप्ति के साधनों का प्रश्न है श्रवण में कबीर की विशेष आस्था नहीं थी, किन्तु नामस्मरण में वे बहुत ही अधिक विश्वास रखते थे। भगवत्कैंकर्य, निरभिमानिता, विश्व-भर में अपने आराध्य का दर्शन करना, गुरुभक्ति, सत्संग, कामक्रोधादि का परित्याग, अहिंसा, आदि वैष्णवों की भाँति ही उनकी भक्ति के प्रमुख अंग हो गए थे। कबीर की भक्ति दास्य-भाव की थी, यद्यपि माधुर्य-भाव के सुन्दरतम उद्गार उनकी रचनाओं में मिलते हैं। रामानन्द की ही भाँति कबीरदास भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति, कुल-बल, शक्ति-अशक्ति आदि का कोई भेदभाव नहीं मानते थे। खेद है 'कबीर साहित्य की परख' के विद्वान् लेखक ने वैष्णव कबीर का कोई विवेचन नहीं प्रस्तुत किया है।

लेखक के मत से कबीर समन्वयवादी थे। "कबीर का समन्वयवाद न तो किसी प्रकार का 'समझौता' है और न भिन्न वादों से चुनी गई अच्छाइयों का समुच्चय-मात्र है जिसमें किसी को आपत्ति करने का कोई अवसर न मिल सके। यह वास्तव में कोई वाद भी नहीं। यह एक प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सुझाव है, जिस पर स्वयं कबीर साहब ने अमल किया है और जिस पर निरपेक्ष होकर विचार करने को सभी स्वतन्त्र हैं।"

"'कबीर साहब का रहस्यवाद' अध्याय में लेखक ने उन तीन स्थितियों का संकेत किया है जिनके द्वारा परम तत्त्व की अनुभूति का परिचय दिया जाता है। वे हैं—विरह-जागृत होने की दशा, विरह द्वारा तपाया जाना तथा सिद्धावस्था अथवा परिपक्वावस्था जिसे कबीर ने 'सहज समाधि' कहा है। लेखक का मत है कि कबीरदास ने अपनी रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए सूफ़ी रहस्यवादियों की भाँति किसी प्रेमगाथा का सहारा नहीं लिया है और न अद्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति जीवन्मुक्त की सिद्धावस्था का कोई सविवरण परिचय ही दिया है; उनके चित्रण ईसाई 'मिस्टिकों' के संस्मरण अथवा उद्गारों की भाँति लेखबद्ध भी नहीं हैं।"

'कबीरदास की सौन्दर्य-भावना' स्थूल में नहीं उलझी है, वे तो सूक्ष्म एवं ज्योतिस्वरूप सौन्दर्य के ही उपासक थे। लेखक का मत है 'यह सौन्दर्य न केवल किसी के मन पर ही शासन करता है, अपितु उसके प्रत्येक व्यवहार एवं चेष्टा तक को परिचालित करने लग जाता है। यह उसके सम्पूर्ण जीवन में काया-पलट कर देता है और उसे और-का-और बना देता है। ऐसी दशा में उसका प्रभाव किसी 'योग समाधि' की-सी सीमित अवधि तक ही नहीं रहता; वह सारे जीवन को 'सहज समाधि' में पलट देता है और उसके लिए स्वयं पारसमणि बन जाता है।'

'कबीर की प्रतीक योजना' तथा 'कबीर की उलटबांसियों' आदि के विवेचन में लेखक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' से आगे बढ़ा हुआ नहीं कहा जा सकता।

इस ग्रन्थ में 'कबीर-साहित्य के काव्य प्रकार एवं छन्द-योजना' पर भी विचार प्रकट किया गया है और लेखक का यह प्रयास कबीर-साहित्य की काव्यात्मकता को बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करता है। साखी, पद, रमैनी, बावनी, चौंतीसा, मिन्ती, वसन्त, चोचर, हिंडोला, कहरा, बेलि, बिरहुली, विप्रमतीसी आदि विभिन्न काव्य-प्रकारों की विशेषताओं का लेखक ने अच्छा परिचय दिया है। इसी प्रकार उनकी भाषा एवं रचनाशैली का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन को पूर्ण बनाने के लिए अजपा जाप, अनहद नाद, अमृत, उन्मनि, खसम, गगन और शून्य, नाद और बिन्दु, निरंजन, सहज, सुरति और निरति, आदि का परिचय भी लेखक ने बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से दिया है। ग्रन्थ के 'परिशिष्ट' भाग में कबीरदास के प्रामाणिक जीवन-वृत्त को उपस्थित करने का प्रयास अवश्य ही अभिनन्दनीय है। लेखक इस सम्बन्ध में जिन निष्कर्षों पर पहुँचा है वे बहुत ही दूर तक तर्कसंगत हैं। फिर भी उनके निष्कर्षों से पूर्णतया सहमत होना सम्भव न हो सकेगा। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने कबीर-साहित्य में संगीत का भी अध्ययन किया है, जो मौलिक होने के साथ ही महत्त्वपूर्ण भी है।

सब मिलकर 'कबीर-साहित्य की परख' में कबीरदास के जीवन, उनके काव्य तथा उनके मतवाद का एक पूर्ण, विस्तृत, प्रामाणिक एवं प्रौढ़ विवेचन मिलता है। कबीरदास के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपादेय सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।[1]

१. लेखक—श्री परशुराम चतुर्वेदी; प्रकाशक—भारती भण्डार, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल

सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य नाटक

प्रस्तुत पुस्तक में श्री सिद्धनाथ कुमार के पाँच काव्य-नाटक संग्रहीत हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—'सृष्टि की साँझ', 'लौह देवता', 'संघर्ष', 'विकलांगों का देश' और 'बादलों का शाप'। और ये समस्त काव्य-नाटक रंगमंच के लिए नहीं, रेडियो के लिए लिखे गए हैं।

वर्ण्य-विषय अथवा भावपक्ष की दृष्टि से इस संग्रह के प्रायः समस्त नाटक आकर्षक हैं। सबके विषय नाटककार के आन्तरिक सत्य को—जिसमें उसके रागात्मक सत्य, राग-विराग, आशा-निराशा और हर्ष-विषाद सन्निहित हैं, इन नाटकों में प्रतिपादित हैं, और सबसे अधिक इन नाटकों के विषय के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये अपने भाव-तत्त्व में पूर्णतः विषयीगत हैं—विषयगत कम। और उस आत्म-तत्त्व पर भी काव्य-तत्त्व की छाप अधिक है, रूपकत्व की कम। इसका कारण सम्भवतः नाटक में लेखक द्वारा उठाई गई समस्याएँ हैं। जैसे 'सृष्टि की साँझ' नामक नाटक में जो निस्सन्देह इस संकलन का प्रतिनिधि रूपक है—'युद्ध क्यों? उत्तर मिलता है, शान्ति के लिए।' लेकिन फिर युद्ध होते हैं, महायुद्ध होते हैं। लगता है, जैसे शान्ति के नाम पर फिर महायुद्ध होगा। लेकिन, क्या तृतीय विश्व-युद्ध के बाद संसार में अक्षय शान्ति स्थापित हो जायगी? क्या फिर कभी युद्ध नहीं होंगे? आखिर, युद्ध होते ही क्यों हैं? उनका समाधान क्या है?' नाटकीय संवेदना के नाम पर इतने प्रश्न हैं—इनकी समस्याएँ हैं। निस्सन्देह यह एक सम्पूर्ण समस्या अत्यन्त गूढ़, जटिल और बौद्धिक समस्या है। इसको नाटक का आधार बनाकर और रूपकत्व की मंजिलों से निकल जाने के लिए किसी में भी एक आश्चर्यजनक प्रतिभा की अपेक्षा है और जहाँ इस स्तर की प्रतिभा की कमी हुई कि ऐसे विषय पर आधारित काव्य-रूपक न काव्य सिद्ध हो पाते हैं, न रूपक, बल्कि एक अजीब 'फैन्टसी' के रूप में ढल जाते हैं। जिसका प्रभाव हम पर बहुत थोड़ा पड़ता है। प्रभाव की दृष्टि से 'सृष्टि की साँझ', जो निश्चित रूप से एक तीव्र स्थिति पर आधारित है, बहुत ही निर्बल सिद्ध होता है। यहाँ एक और प्रश्न खड़ा होता है। ऐसे विषयों पर इधर कई काव्य-नाटक पढ़ने को मिले हैं, जिनमें से एक सुमित्रानन्दन पन्त जैसे महान् कलाकार की सफलतम कृति है—'ध्वंसशेष'। 'सृष्टि की साँझ' और 'ध्वंसशेष' में मैं कोई तुलना नहीं करने जा रहा हूँ, न हो ही सकती है। केवल एक प्रश्न की ओर ध्यान जाता है ऐसे विषय पर नाटक आधारित करने के लिए नाटककार प्रायः हमारे सामने तृतीय महा-युद्ध के बाद का चित्र उभारता है। 'सृष्टि की साँझ' नामक नाटक यों आरम्भ होता है—'तृतीय विश्व-युद्ध समाप्त हो चुका है। परमाणु-युद्ध के फलस्वरूप धरती श्मशान बन गई है। चारों ओर मृत्यु की भयानक शान्ति है। पता नहीं, ऐसे भयावह चित्रपट हमारे सामने क्यों उभारे जाते हैं। जैसे किसी ने कभी नरक की कल्पना करके हमें उन नाटकीय कार्यों से आगे चलकर अभ्यस्त बना दिया, उनसे परिचित कर दिया—कहीं उसी तरह ऐसे चित्रपटों के भी कार्य न हों। ऐसी कला के समर्थक इसे कला का 'नेगेटिव अप्रोच' भले ही कह लें, लेकिन परिणामस्वरूप इससे कोई भी बात बनती नहीं, बल्कि बिगड़ती है। इनसे हमारा क्या साधारणीकरण? उल्टे हम त्रस्त भले हो जायँ, तो क्या यही काव्य का धर्म है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त दृष्टि से इस संग्रह के अन्य दो रूपक 'लौह देवता' और 'संघर्ष' अपेक्षाकृत सुन्दर हैं।

लेखक ने अपनी भूमिका में कहा है, "प्रस्तुत नाटकों में रेडियो-टेकनीक में उपलब्ध सुविधाओं का अधिकाधिक उपयोग करने का प्रयत्न किया गया है।"

सुनिश्चित, स्पष्ट तथा शक्तिशाली कथावस्तु की अपेक्षा ऐसे रेडियो-रूपकों में और भी हैं, क्योंकि इनका रसास्वादन हम केवल श्रवणेन्द्रिय द्वारा ही कर पाते हैं। शक्तिशाली से हमारा तात्पर्य ऐसे संगठन से है, जिसमें संघर्ष की तीव्रता हो, घात-प्रतिघात हो और सबसे अधिक उसमें घटनाएँ और कार्य-व्यापारों की व्यंजना हो। 'सृष्टि की साँझ' के प्रायः समस्त नाटकों में कथावस्तु का रूप स्पष्ट है, निश्चित है, पर नाटकीय दृष्टि से उनमें शक्ति का अभाव है—फलतः यही कारण है कि ये सब नाटक इतनी तीव्र स्थितियों पर आधारित होकर भी उतनी प्रभविष्णुता नहीं ला पाते।

पात्रों के विषय में यह सत्य है कि इनकी कल्पना अपेक्षाकृत हमारे आन्तरिक सत्य को रखकर की गई है। पर इसके उदाहरण में 'सृष्टि की साँझ' के चरित्र नहीं आ सकते, शेष के चरित्र अवश्य आते हैं। विशेषकर 'विकलांगों का देश' में पात्रों की सारी भीड़ अपने-आप में सत्य है और उनका सत्य हमें छूकर चलता है। 'बादलों का शाप' में जहाँ लेखक ने अपने पात्रों को प्रतीकात्मक रूप में रखा है, इन सबका चरित्र-संगठन अत्यन्त सफल है।

रेडियो-टेकनीक का जहाँ तक प्रश्न है, लेखक ने जिस टेकनीक को अपने नाटकों में रखा है, उनका अन्त तक सुन्दर निर्वाह है।[1]

उदयशंकर भट्ट

कविता में प्रकृति-चित्रण

तरुण जी ने इस पुस्तक में विस्तार से संसार के सभी साहित्यों और विशेषकर हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण पर विचार किया है। इसके साथ-साथ प्राचीन और नवीन आचार्यों के प्रकृति-सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना की है। चित्र और फोटोग्राफी में अन्तर; चित्र और कविता में अन्तर, दृश्य चित्रण की सामान्य पद्धति, भारतीय आचार्यों एवं पाश्चात्य विचारकों की इनके प्रति समीक्षात्मक दृष्टि आदि सभी अंगों पर गहन मननपूर्वक लेखक ने अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

साधारणतया कवि का साक्षात् सम्बन्ध प्रकृति और जीवन से होता है। प्रकृति का प्रत्येक गतिमान पदार्थ जो जड़ कहलाता है कवि में स्फूर्ति-प्रेरणा भरता रहता है। अपनी सूक्ष्म निरीक्षणशील प्रतिभा से प्रकृति-सौन्दर्य के अनवरत प्रवहमान चित्र उपस्थित

१. लेखक—सिद्धनाथकुमार; प्रकाशक पुस्तक मन्दिर, बक्सर (आरा)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। फोटोग्राफी में वास्तविकता होते हुए भी वह चित्रकला से ऊँची नहीं है। वहाँ फोटोग्राफर का अपना कुछ भी नहीं होता। वह केवल मशीन का जादू है। इसके विपरीत चित्रकला में चित्रकार के प्राणों के तादात्म्य के साथ साधनों का उपयोग होता है। अतएव चित्रकला फोटोग्राफी से उत्कृष्ट और सप्राण वस्तु सिद्ध होती है। कविता में प्रकृति का चित्रण और भी उद्दीपक और प्रेरणादायी है। वही प्रेरणा कवि की रचना में क्षण-क्षण नवीन बनकर अधिक महान्, अधिक व्यापक और अधिक प्राणवान होती है।

संस्कृत-साहित्य में वेदों से लेकर अर्वाचीन काल तक काव्यों, नाटकों एवं कथा-ग्रन्थों में प्रकृति का अवलम्ब लेकर काव्यों को उत्कृष्ट बनाया गया है। स्वयं वाल्मीकि का प्रकृति-वर्णन अद्भुत और अनूठा है। कालिदास तो मानो प्रकृति-चित्रण के आचार्य ही थे। भवभूति, बाण भट्ट के प्रकृति-चित्र कदाचित् इतने व्यापक हैं कि उनसे प्रकृति का कोई रूप छूटा ही नहीं। स्वयं राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में कवि के प्रकृति के पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता बताई है। उसकी दृष्टि में कोई भी तब तक कवि नहीं बन सकता जब तक उसका भ्रमण, प्रकृति पर्यवेक्षण पूर्ण न हो। इससे ज्ञात होता है, संस्कृत में काव्य-रचना के लिए प्रकृति-ज्ञान अपेक्षित ही नहीं अत्यन्त आवश्यक भी था।

लेखक ने प्रकृति-चित्रण में सौन्दर्य दृष्टि, अनुपात बुद्धि पर भी विचार व्यक्त किये हैं। उसने माना है.....

"काव्य में दृश्य-चित्रण की दो सामान्य प्रणालियाँ हैं। एक में कवि अपने हर्ष-शोकादि की कोई व्यञ्जना न करता हुआ वस्तुओं का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण करता है और दूसरे में कवि हृदय-चित्रण के साथ उसके प्रति हृदय में उठे भावों की भी व्यञ्जना करता चलता है, आदि आदि।" मैं मानता हूँ पहले ढंग का यथातथ्य चित्रण प्राणहीन है, वह फोटोग्राफी है; जब कि दूसरे ढंग की प्रकृति-व्यञ्जना में कवि की आत्मा का तादात्म्य प्रकृति से हो जाता है। अच्छे कवि अपने काव्य में उस समय तक प्रकृति-चित्रण को महत्ता नहीं देते जब तक कि प्रकृति का वह रूप उनके साथ के वर्ण्य कथानक में सहायता नहीं देता, जब तक कि प्रकृति की प्रत्येक धड़कन कवि से बोलने नहीं लगती।

लेखक ने आगे चलकर भारतीय आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए माना है कि वे वन-उपवन ऋतु आदि के वर्णनों को शृंगार के उद्दीपन-मात्र मानते थे। उनकी दृष्टि में यह केवल नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिए हैं। उन आचार्यों के अनुसार प्रकृति-वर्णन में किसी प्रकार का रस नहीं होता, क्योंकि 'रस सिद्धान्त' के अनुसार अचेतन-तत्त्व के प्रति निश्चिति का भाव रस रूप में परिणत नहीं हो सकता। मन के अनुकूल जो स्वतः बिना किसी प्रेरणा के प्रवृत्ति होती है उसे रति कहते हैं। अकेली वह स्थायीभाव होकर रस रूप में परिणत नहीं हो सकती। भारतीय चित्रण में प्रकृति जड़ है। यदि मानें कि प्रकृति बोलती है, हमें सन्देश देती है और संश्लिष्ट और विशद चित्रण में ध्वनि है तो हम उसे वस्तु-ध्वनि कह सकते हैं; वह रस-ध्वनि है। रस नहीं इत्यादि उपपत्तियों द्वारा लेखक ने माना है कि सिवा अर्वाचीन आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल के किसी ने भी प्रकृति को रसोत्पादन समर्थ नहीं माना है। वे लिखते हैं.....

प्राचीन साहित्य में मुख्य दृष्टि मानव-जीवन पर ही थी। मानव के चारों ओर जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति-जगत् है वह अविद्या या माया का प्रसार समझा जाता था। ऋग्वेद के क्रान्तिदर्शी स्वप्नद्रष्टा कवि प्रकृति का दर्शन करके ईश्वर की रहस्यमयी भावना में डूबकर उत्साहित होकर ऋचाओं में फूट पड़े थे, किन्तु वह स्वर फिर आगे कभी न सुनाई पड़ा।

आगे वे कहते हैं····प्रकृति पर भारतीयों की दो प्रकार की दार्शनिक दृष्टि रही है—१. प्रकृति माया है पुरुष को बाँधने वाली है। २. प्रकृति ब्रह्म के नाते सत् चेतन है। यह है वेदान्त की दृष्टि।

लेखक ने जिस तत्परता, विवेक-बुद्धि से छानबीन की वह महत्त्वपूर्ण है, परंतु उसे मालूम होना चाहिए कि केवल ये ही दो दृष्टियाँ संस्कृत के वाङ्मय में नहीं थीं। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ने प्रकृति अर्थात् द्रव्य को अपने दर्शन में मूर्धन्य स्थान दिया है। सांख्य तो है ही प्रकृतिवादी। फिर मीमांसाकार जैमिनी भी प्रकृति को वास्तविक मानते हैं। वस्तुतः जितना वास्तववादी मीमांसा-दर्शन है उतना और कोई नहीं। उसका कारण है कि मीमांसाकार अपने दर्शन में विधि, निषेध क्रिया, यज्ञ को प्रधान मानते हैं। इससे मालूम होता है वेदान्त का 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाला सिद्धान्त केवल शंकर के समय का है और रसवादी आचार्य केवल शंकर से प्रभावित थे। अन्यथा प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति को काव्य में आलम्बनपरक नहीं माना है। निरुक्तकार यास्क ने ऐसे आचार्यों का उल्लेख किया है जो वेदों को भौतिक दृष्टि से व्यावहारिक मानते हैं। क्योंकि वेदों के जहाँ आध्यात्मिक अर्थ हैं वहां उन मन्त्रों का भौतिक अर्थ भी हैं। स्वयं सायण ने यज्ञ-प्रधान मंत्रों को भौतिक अर्थ में व्यवहृत किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों तक प्रकृति और जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में तो प्रकृति ब्रह्मोन्मुखी है। पुस्तक परिश्रम से लिखी गई है और हिन्दी में प्रकृति-सम्बन्धी यह नई पुस्तक है। हम इसका स्वागत करते हैं।[1]

विजयदेवनारायण साही

काव्यधारा

काव्यधारा एक पुस्तक-पत्रिका है। इसमें कुल मिलाकर २१२ पृष्ठ हैं जिसमें ९८ पृष्ठों में गद्य है और १०८ पृष्ठों में कविताएँ हैं। कविता के १०८ पृष्ठों में ६ पृष्ठ हास्य-व्यंग्य है और ६ पृष्ठ 'जनवाणी' है, जिससे तात्पर्य है एक अवधी और दो राजस्थानी की कविताएँ तथा एक पंजाबी कविता का अनुवाद। कवर पर एक अल्पना के चक्र की तसवीर है, जो सुन्दर है और एक रिलीफ मूर्ति की तसवीर है जो शायद सरस्वती की है; यों किसी यक्षिणी की भी हो सकती है।

इस पुस्तक-पत्रिका के दावे बहुत विशाल हैं—इतने विशाल जितने अभी तक शायद

१. लेखक—रामेश्वर लाल खण्डेलवाल 'तरुण'; प्रकाशक—नैशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न किसी पुस्तक ने किये, न पत्रिका ने। प्रकाशन से बहुत दिन पूर्व आयोजन की सनसनीखेज घोषणा के रूप में दोनों सम्पादकों की ओर से एक हैण्डबिल भी बँटा था जो पत्र-पत्रिकाओं तथा लेखक-मण्डल को प्राप्त हुआ। उस हैण्डबिल में कही हुई बात प्रस्तुत पुस्तक-पत्रिका के अन्त में 'हमारा-वक्तव्य' शीर्षक देकर दुहराई गई है। हिन्दी-काव्य की सामयिक स्थिति से अनभिज्ञ कोई बाहरी पाठक यदि इस वक्तव्य को पढ़े तो उसे भान होगा कि सम्प्रति हिन्दी-काव्य में तूफाने-नूह बरपा हो गया है, कहीं कुछ कूल-किनारा नहीं दीखता, हर ओर विनाश-ही-विनाश है। ऐसे में बड़े 'विराट् संगठित प्रयत्न' द्वारा यह काव्यधारा का जहाज सम्पादकों ने तैयार किया है जिसमें हर प्रकार के कवि-जीवों में से एक-एक को वे बचा ले जाना चाहते हैं ताकि सृष्टि आगे चल सके। इसमें जो 'प्रथमहि मोहबस' चढ़े हैं वे बच जायँगे, जो नहीं पढ़े हैं, या जिन्हें नहीं चढ़ाया गया है, वे निश्चय ही डूब जायँगे।

वक्तव्य में तूफाने-नूह के लिए पहला अपराधी पाठक को ठहराया गया है। सम्पादकों के अनुसार 'अनेक संस्कृति-विरोधी बाह्य प्रभावों में फँसकर गत वर्षों में पाठकों की काव्य-रुचि विकृत होती गई है।'·····'दूसरे अपराधी 'कुछ कवि' हैं जो अपनी वैयक्तिक, उलझी, कुण्ठित, अनास्थाशील और विद्रूपात्मक संवेदनाओं[1] या एकांगी बौद्धिक मान्यताओं को ऐसी अनुभूतिहीन, दुरूह और गद्यात्मक शैली में व्यक्त करने लगे हैं जिसका उद्देश्य सामान्य पाठकों तक अपने भाव-विचारों का प्रेषण नहीं होता।' यद्यपि सौभाग्य से ऐसे कवियों की संख्या बहुत थोड़ी है किन्तु इनका प्रभाव यह बताया गया है कि 'कविता जनमानस की भाव-चेतना में जीवन-सत्य की अधिक गहरी और मार्मिक अनुभूति जगाने के दायित्व से विमुख होकर युगीन-अर्थवत्ता और भाव-गम्भीरता खोती जा रही है।' ये कुछ कवि कौन हैं, और किस प्रकार की रचनाएँ करते हैं, यह इस वक्तव्य में नहीं बताया गया है। किन्तु इन पवन-चक्कियों से जूझ पड़ने का आवाहन सारे संग्रह में व्याप्त है। पुस्तक-पत्रिका में प्रकाशित लेखों से अनुमान कभी लगता है, कभी नहीं भी लगता है। अन्त में, एक बहुप्रचारित धारणा का भी उल्लेख है। 'कविता का युग बीत गया—इस बहुप्रचारित किन्तु अनैतिहासिक धारणा ने समर्थ कवियों तक को कम हतोत्साहित नहीं किया है। सम्पादक यह बताना भूल गए हैं कि इस धारणा का प्रचार किस पत्रिका, लेख, पुस्तक अथवा संगठन में किया गया है, और कौन वे समर्थ कवि हैं जो इससे हतोत्साहित हो गए हैं।

यह तो हुआ तूफ़ाने-नूह। जहाजे-नूह की एकमात्र विशेषता है 'पूर्वग्रह हीनता।' अतः वक्तव्य है कि : 'किसी पूर्वग्रह या एकांगी मतवादों में न बँधकर काव्य-धारा सभी नये-पुराने कवियों की श्रेष्ठतम रचनाओं को संकलन के रूप में प्रकाशित करके हिन्दी की 'मुख्य काव्यधारा' का प्रतिनिधित्व करेगी, तत्सामयिक फ़ैशनवर्ती (?), कूल-किनारों पर भटकती फिरने

---

१. श्री सी० बी० राव ने आलोचना १४ में 'नयी कविता' में प्रकाशित श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा पर मेरे परिचयात्मक निबन्ध में प्रयुक्त 'विद्रूप' का अर्थ पूछा है। मैंने जिस अर्थ में प्रयुक्त किया है उसका परिचय आलोचना के उसी अंक में प्रकाशित डॉ० रामकुमार वर्मा के लेख में पृ० ६६ पर मिल जायगा। परन्तु यह 'विद्रूपात्मक संवेदना' क्या वस्तु है, इसे मैं भी नहीं जानता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली[1] स्वेच्छाचारी फेनिल बुदबुदों का नहीं।' इस प्रकार सारा आयोजन यह सिद्ध करने का विराट् प्रयास है कि सम्पादकों के मन में कोई पूर्वग्रह नहीं है। अर्थात् उनकी ऐसी कोई जिद नहीं है कि जो कुछ वे कह रहे हैं उसे पकड़कर बैठे रहें, उससे उलटी बात कहें या करें ही नहीं। और इसमें सन्देह नहीं कि अपने इस प्रयास में वे आश्चर्यजनक रूप से सफल हुए हैं। पूरी पुस्तक आद्यान्त पढ़ने के बाद संकीर्ण-से-संकीर्ण मत वाला व्यक्ति यह आरोप नहीं लगा सकता कि सम्पादकगण के विचार एकांगी हैं, अर्थात् वे एक ही बात या कोई भी बात कहना चाहते हैं। सचमुच सम्पादकों के ही शब्दों में यह प्रत्यन 'अभूत पूर्व' है अर्थात् न ऐसा आज तक किसी ने किया न कहा। मैं तो यह सोचता हूँ कि शायद आगे कोई करेगा भी नहीं।

बाल की खाल निकालने वाले पाठकगण सम्भवतः तर्क करें कि इतने से एक पूर्वग्रह तो प्रमाणित ही है कि सम्पादक गण पूर्वग्रह के विरुद्ध हैं। ऐसे ही संकीर्ण मत वाले छिद्रान्वेषियों के लिए प्रमुख सम्पादक श्री शिवदानसिंह चौहान ने पूर्वग्रह का वैज्ञानिक समर्थन किया है। जो लोग 'पूर्वग्रह' का भूत खड़ा कर उसका विरोध करते हैं उनकी घोर निन्दा करते हुए उन्होंने कहा है :

"आख़िर ये 'पूर्वग्रह' हैं कौनसी बला, जिनसे कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं है—कभी भी नहीं रहा—और जो किन्हीं दो व्यक्तियों को परस्पर अपने हृदय की बात कहने-सुनने समझने के मार्ग में सदा एक दुर्लंघ्य दीवार बनकर खड़े हो जाते हैं? वास्तव में 'पूर्वग्रह' ऐसी कोई भयंकर बला नहीं हैं। यदि होते तो ज्ञान, विज्ञान और कला का कहीं अस्तित्व न होता, यहाँ तक कि मनुष्य की भाषा तक का विकास न होता। 'पूर्वग्रह' मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभव और ज्ञान के मार्ग से विकसित होने वाली चेतना, नैतिक संस्कार, सौन्दर्य भावना और विश्वबोध के अनिवार्य परिणाम हैं, जो व्यक्ति की निजी धारणाओं, मान्यताओं और सहानुभूतियों के रूप में व्यक्त होते हैं।"

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सम्पादकों में से कम-से-कम एक के मन में पूर्वग्रह के विरुद्ध भी कोई पूर्वग्रह नहीं है।

यहाँ तक कि पत्रिका को मौलिक बनाये रखने का भी पूर्वग्रह सम्पादकों को नहीं है। इतनी तो, इसकी व्याख्या पुस्तक-पत्रिका में ही स्पष्ट है। नामकरण बहुत सोच-समझकर किया गया है, क्योंकि काव्यधारा न पुस्तक है न पत्रिका; यह कहिये कि दोनों है। क्योंकि, इसमें बहुत-सा अंश बासी है, यद्यपि इसे स्वीकार नहीं किया गया है। गद्य के ९८ पृष्ठों में कम-से-कम ५२ पृष्ठ नई पुरानी प्रकाशित पुस्तकों से लिये गए हैं और उद्धरण के लिए मूल का उल्लेख करना भी एक बूर्ज्वा पूर्वग्रह समझ, कहीं इसका संकेत भी नहीं किया गया है। जैसे, यह नहीं बताया गया है कि श्री शिवदानसिंह चौहान का लम्बा लेख (जिसने ४७ पृष्ठ घेर रखे हैं) उनकी प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' का एक अध्याय है। अनभिज्ञ पाठक पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि वह सन्तुष्ट होता है कि सम्पादक ने इस अंक के लिए काफ़ी परिश्रम किया है। डॉ० नगेन्द्र के प्रयोगवाद-सम्बन्धी निबन्ध (जिसे वे स्वयम् 'प्रयोगवादी कविता' और 'नई प्रयोगवादी कविता' के नाम से दो संग्रहों में छपा चुके हैं)

१. व्याकरण ग़लत है। बुदबुद पुल्लिंग है। सम्पादकगण भविष्य में ध्यान रखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कतरा हुआ अंश 'काव्य की रागात्मकता और बौद्धिक प्रयोग' शीर्षक से मौलिक जामा पहन-कर विराजमान है। 'दिनकर' जी 'नीलकुसुम' की भूमिका का अंश 'नई पीढ़ी' बनकर पुस्तक-पत्रिका की शोभा बढ़ा रहा है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी और श्री विनयमोहन शर्मा की टिप्पणियों का मूल स्रोत खोज पाने का समय मुझे नहीं मिल पाया, परन्तु आशा करता हूँ कि उनके सम्बन्ध में भी सम्पादकों ने मौलिकता का पूर्वग्रह नहीं बरता होगा। इसी प्रकार संग्रहीत कविताएँ भी आधी से अधिक काव्य-संग्रहों, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। जब सम्पादकों ने स्वयम् उन सबका स्रोत बताना उचित नहीं समझा है तो असमर्थ समीक्षक से इसकी आशा करना अन्याय है। यों सुमित्रानन्दन पन्त, गिरिजाकुमार माथुर, सुमित्राकुमारी सिनहा, डॉ० रामकुमार वर्मा, दिनकर, नागार्जुन, शम्भूनाथ सिंह, नीरज, नरेश मेहता, भारतभूषण अग्रवाल आदि कुछ कवियों का उल्लेख कर सकता हूँ जिनकी प्रकाशित कविताएँ इस 'पत्रिका' में उद्धृत की गई हैं। जागरूक पाठकगण जो पत्र-पत्रिकाएँ तथा निकलने वाले काव्य संग्रहों को देखते रहते हैं, यदि इस काव्य-धारा को न भी पढ़ें तो बहुत कुछ नहीं खोयेंगे, इतना आश्वासन दिया जा सकता है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि समर्थ सम्पादकों ने सम्पादन-कला के एक साधारण पूर्वग्रह, कि रचनाएँ मौलिक दी जायँ, और उद्धरण दिया जाय तो इसका संकेत किया जाय, इसका भी तिरस्कार किया है जो क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का प्रमाण है। कैंची और गोंद का इतना कुशल प्रयोग सचमुच 'अभूतपूर्व' है। किन्तु पाठकगण इस नये टेकनीक को भी पूर्वग्रह न समझ बैठें इसलिए 'कैंचीकट गोंदपुत्र' शीर्षक से छोटे सम्पादक श्री गोपालकृष्ण कौल ने अपनी एक कविता भी संग्रह में दी है :

(१)

बाज़ार में हिन्दी के बिगड़े सपूत अब
हाथ की सफ़ाई औ' तमाशा दिखाते हैं।
कैंची है इनकी माँ, गोंद इनके पिताजी
दूसरों की काट कर अपने चिपकाते हैं।

(२)

काटते ज़रूर हैं दरज़ी नहीं हैं किन्तु,
दफ़्तरी नहीं लेकिन काम चिपकाने का
लेखकों की भीड़ में श्रेय सिर्फ़ इनको है
प्रतिभा के बिना ही कमाल दिखलाने का।

(३)

छूते नहीं कलम, सम्हालकर रखते हैं
काग़ज़ का धवल मुख काला बनाते नहीं
छपते हैं इतना, टाइप घिसे जाते हैं
लेखनी को लेकिन बिलकुल घिसाते नहीं।

(४)

लेते हैं कम दाम, देते हैं मक्खन साथ
होड़ में होता बुरा हाल दूसरों का है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्डर पर करते हैं माल सपलाई यह
लेबिल इनका किन्तु माल दूसरों का है।

कविता इतनी तीखी है कि विश्वास नहीं होता कि छोटे सम्पादक जी ने अपने ऊपर ही लिखी होगी। और यह मानने का कोई प्रमाण नहीं है कि कैंची और गोंद का प्रयोग किया होगा बड़े सम्पादक ने और कविता लिखी होगी छोटे सम्पादक ने।

हिन्दी पत्रकारिता में एक बहुत पुराना पूर्वग्रह यह भी चला आ रहा है कि जो लेख किसी लेखक के नाम से दिये जायँ, वह उसके द्वारा लिखे गए हों। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि सम्पादकगण इस पूर्वग्रह से भी हीन हैं। प्रस्तुत 'पुस्तक-पत्रिका' में एक लेख डॉ० रामकुमार वर्मा के नाम से 'मेरा दृष्टिकोण' शीर्षक देकर प्रकाशित किया गया है। जैसा कि डॉ० रामकुमार वर्मा के हमारे पास आये एक पत्र से स्पष्ट है, उक्त लेख उन्होंने कभी लिखा ही नहीं। कोई सज्जन सम्पादक की ओर से उनका 'इन्टरव्यू' लेने के लिए पहुँच गए। कुछ बातें कीं और 'काव्यधारा' के लिए लेख तैयार हो गया। जो कुछ लिखा गया, उसे छपने के पूर्व डाक्टर साहब को दिखलाने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। फलतः डाक्टर साहब की कुछ सनसनीखेज स्वीकृतियाँ (confessions) भी सामने आई हैं जैसे : "मेरा जीवन कुछ ऐसी स्थितियों से गुजरा है जिसमें घटनाएँ नहीं के बराबर रहीं····दैनिक समस्याओं से जूझने का अवसर मुझे नहीं मिला····जीवन के क्रम में घटित होने वाली घटनाओं से मेरा लगाव नहीं के बराबर है····आदि आदि।" ये स्वीकृतियाँ सही नहीं हैं और सौभाग्य से देश का राजनीतिक वातावरण अभी ऐसा है कि डाक्टर साहब इनका प्रतिरोध कर सकें।

हम श्री कौल का ध्यान एक ऐसी कविता की आवश्यकता की ओर आकर्षित करना चाहते हैं जिसमें 'माल इनका, किन्तु लेबिल दूसरों का' उल्लेख हो।

ऊपर हमने पवन-चक्कियों से जूझने के पराक्रम का उल्लेख किया है। श्री शिवदानसिंह के दोनों लेखों (जिनमें से एक भीमकाय है) को पढ़ने के उपरान्त अनुमान होता है कि ये 'पब्लिक एनेमी नम्बर वन्' कुछ 'प्रयोगवादी' कवि हैं जिनमें श्री 'अज्ञेय' और उनके सामानधर्मा कवि आते हैं। ये समानधर्मा कौन हैं इसका पता बड़े प्रयास के बाद भी नहीं लगा पाया हूँ, यद्यपि आगे अनुमान लगाने की चेष्टा करूँगा। इनका वर्णन बहुत डरावना किया गया है, यद्यपि यह नहीं समझ में आता कि ये सब इतने पतित हैं तो कविता के इतिहास में इनका जिक्र करने की आवश्यकता क्या थी? प्रमुख सम्पादक के अनुसार : 'अज्ञेय और उनके समानधर्मा दूसरे मध्यवर्गी बुद्धिजीवी अपनी व्यक्ति-चेतना से इतने आक्रान्त रहे हैं कि वे सामाजिक जीवन के साथ किसी प्रकार के सामंजस्य की कल्पना ही नहीं कर सकते···। साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं में एक दयनीय प्रकार की झुँझलाहट, खीझ, कुण्ठा, किशोर औद्धत्य और हीनभाव ही व्यक्त हुआ है जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं खण्डित करने का मार्ग है····हिन्दी-कविता के समग्र इतिहास को दृष्टि में रखकर हम अनिवार्यतः इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रयोगवादी कविता कोई नया उत्थान नहीं है; बल्कि छायावादी कविता के ह्रास का ही विकृत रूप है और हिन्दी की विशाल काव्यधारा में प्रयोगवादी कवियों की देन अभी बूँद के समान ही है···।"

अपनी इस डरावनी समीक्षा-शैली के प्रति भी सम्पादक का कोई पूर्वग्रही मोह नहीं है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसको प्रमाणित करने के लिए 'दिनकर' जी के संग्रह 'नील कुसुम' की भूमिका से नई पीढ़ी के नाम अंश उद्धृत किया गया है। अत्यन्त निर्लिप्त भाव से सम्पादक गण दूसरा पक्ष भी प्रस्तुत करते हैं। दिनकरजी के अनुसार :

"हिन्दी कविता में जो नवीनतम क्षितिज झलकने लगा है, उसे लेकर सम्भ्रान्त आलोचकों में काफी मतभेद है। किन्तु, मैं बड़े उत्साह में हूँ····कोलाहल तो बड़े जोर का है और लगता भी ऐसा ही है कि लड़के अपने पुरखों के कलात्मक असबाबों को तोड़कर ही दम लेंगे। किन्तु यह नवागम का भी शोर हो सकता है। सम्भव है बाढ़ में बहकर बहुत-से ऐसे लोग भी आ गए हों जो कवि नहीं हैं, किन्तु भविष्य पर जिनके पंजों की छाप पड़ने वाली है, वे कवि-पुङ्गव भी इसी झुण्ड में छिपे हुए हैं। नई आलोचना का धर्म है कि उन्हें ठीक से ऊपर लाये, उनके योग्य आसन और पीढ़े की व्यवस्था करे।"

इस 'नवीनतम क्षितिज' से 'दिनकर' जी का संकेत किस ओर है, उसे लेकर सम्भ्रान्त सम्पादकों में मतभेद की गुंजायश नहीं दीखती। क्योंकि भूमिका में जहाँ से लेख को कतरा गया है, उसके ऊपर ही निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं जिन्हें मान्य सम्पादकों ने उद्धृत करना अनावश्यक समझा है :

"विचित्र बात है कि 'नील कुसुम' के रचयिता के सहज बन्धु रेणुका और हुंकार के रचयिता नहीं वरन् वे लोग हैं जिन्हें सही नाम के अभाव में हम प्रयोगवादी कहने लगे हैं। किन्तु, मैं प्रयोगवाद का अगुआ नहीं पिछलगुआ कवि हूँ, क्योंकि 'नील कुसुम' की कविताओं की रचना के बहुत पहले ही 'तार सप्तक' की गूँज देश में खूब छा चुकी थी।'

यह बात दूसरी है कि प्रकाशित अंश में सन्दर्भ से विच्छिन्न होकर 'दिनकर' जी का मन्तव्य कुछ विकृत हो गया है। परन्तु इससे सम्पादकों के सदुद्देश्य पर सन्देह नहीं किया जा सकता। आखिरकार उद्धरण को सही सन्दर्भ के साथ प्रकाशित करना भी तो एक निरर्थक पूर्वग्रह है जिनसे सम्पादकगण मुक्त हैं। स्मरण रहे कि ये दिनकरजी वही हैं जिनके विषय में श्री चौहान अपने भीमकाय लेख में कहते हैं : 'उनका व्यक्तित्व प्रयोगवादियों की तरह अपनी मध्यवर्गीय विवशताओं के आगे नतशिर होकर अपने कवि-गौरव का हनन नहीं होने देता।'····('यू टू ब्रूटस!')

इसी प्रकार अन्य विषयों में भी पुस्तक-पत्रिका में उत्तम प्रकार के विरोधाभास का दर्शन होता है। उदाहरणतः श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की टिप्पणी की टेक है : 'मुक्त छन्द के रूप में कविता की जो दुर्दशा हो रही है वह असह्य और अक्षम्य है।' पाठक भ्रमित न हों इसलिए श्री कौल अपने लेख 'नई पीढ़ी : नई कविता : दायित्व का प्रश्न' (!) में विशेष आग्रह के साथ मुक्त छन्द का समर्थन करते हैं : 'मुक्त छन्द रचना से सबसे बड़ी बात यह हुई कि भाषा की संगीतात्मक विशेषता को नजदीक से समझा गया और गद्य को भी काव्य के अनुकूल बल्कि अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयोगी और कलात्मक बना दिया गया।' इसी तरह गीतकारों की भर्त्सना करते हुए श्री कौल कहते हैं : "गीत नामक रचना में कुछ गिने-चुने रोमाञ्चक भावों में से किसी एक को कई अलंकार चित्रों में उपस्थित करने का आवृत्तिपरक ढंग नई उम्र के कवियों में सरलता से प्रचलित हो गया है। वे इस सीमित परिधि में ही चक्कर काटने में अपनी सार्थकता समझते हैं।" किन्तु 'सच्चे अर्थों में प्रगतिशील' आज के जिन सौभाग्यशाली कवियों का नाम श्री चौहान ने गिनाया है उन चौदह में कम-से-कम नौ वही आवृत्ति-परक गीत वाले हैं, जिनमें से कुछ हिन्दी के पाठक के लिए परिचित हैं, कुछ अपरिचित। संग्रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रकाशित ६७ कविताओं में १८ का तो शीर्षक ही गीत है और २० अन्य हैं, जिनका शीर्षक तो वर्णनात्मक है, किन्तु हैं वे आवृत्तिपरक गीत !

कथनी और करनी के इस इन्द्रजाल में पड़कर पाठक हैरान होकर ताकता भले ही रह जाय, किन्तु इसमें संशय नहीं कि उसके मानस की वह शुद्धि होगी कि फिर पूर्वग्रह का नाम न लेगा। लोग उसकी ऊल-जलूल बातों को निरर्थक बकवास चाहे कह लें, किन्तु एकांगीपन का आरोप उस पर नहीं लगाया जायगा।

हमने बड़े मनोयोग से अज्ञेय के 'समानधर्मा' कवियों की खोज करने की कोशिश की जिनके विरुद्ध सम्पादक जी का विशेष आक्रोश है। खेद है कि किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सका। तार सप्तक और दूसरा सप्तक के चौदह कवियों में से आठ की कविताएँ तो काव्यधारा में प्रकाशित ही हैं। अब सिद्ध है कि ये आठ 'मुख्य काव्यधारा' में आते हैं 'फैशनवर्ती फेनिल बुदबुदों' में नहीं। बाकी छः, जिनकी कविताएँ नहीं हैं, वे हैं, अज्ञेय, रामविलास शर्मा,[1] भारती, शकुन्त माथुर, हरिनारायण व्यास, रघुवीर सहाय। हम आशा करते हैं कि इन कवियों को जान-बूझकर छोड़ा गया है, न कि इन्होंने कविताएँ माँगने पर देने से इन्कार कर दिया है। (आखिरकार कुछ कवि तो फेनिल बुदबुदों में आयेंगे। सब 'मुख्य काव्यधारा' ही में बह चलेंगे तो काम कैसे चलेगा ?) लेकिन यह समझ में नहीं आता कि नरेश मेहता और शमशेर बहादुरसिंह-जैसे ऊँटों को निगल जाने के बाद पूँछ कैसे गले में अटक गई ? हो सकता है यह भी पूर्वग्रहहीनता का उदाहरण हो। यों, श्री चौहान द्वारा गिनाये १४ 'सच्चे प्रगतिशीलों और प्रयोगशीलों' में रंग, शील और नामवरसिंह भी इस संग्रह में नहीं हैं। क्या इन युगद्रष्टा कवियों की कविताएँ भी सम्पादकगण के पास नहीं हैं ? एकाध नमूने के लिए दे देते तो हम भी जान जाते कि ये कौन हैं और हिन्दी के बाजार में कैसा 'माल सप्लाई' करते हैं। परिचित कवियों में से छूटे हुए कुछ अन्य कवि हैं : केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन, नरेन्द्र शर्मा, अजितकुमार। क्या ये सब भी अज्ञेय के समानधर्मा 'फेनिल बुदबुदों' में आते हैं ?

परन्तु सबसे प्रामाणिक पूर्वग्रहहीनता तो कविताओं के चयन में परिलक्षित होती है—ऐसी कि सात घर दुश्मन हों तब भी मान जाय। मुक्तछन्द, गीत से लेकर रुबाई, गज़ल, यहाँ तक कि भजन तक का समावेश इस पोथी में किया गया है। पूर्वी, कजली आदि के लिए तो 'जनवाणी' का स्तम्भ ही अलग से खोल दिया गया है। हिन्दी रूपी भानमती का पूरा कुनबा मौजूद है, सिवाय दो-एक फेनिल बुदबुदों के। किन्तु सामर्थ्य इसे कहते हैं कि सम्पादक गण

---

१. जिस तटस्थता से बड़े सम्पादक जी ने रामविलास और अज्ञेय को 'व्यक्ति-चेतना से आक्रान्त' कवियों के रूप में एक साथ 'ब्रैकेट' किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। पाठक इससे यह न समझें कि दोनों ने चौहान जी को भला-बुरा कहा होगा अतः पूर्वग्रह के कारण यह कमाल दिखाया गया है। क्योंकि दोनों का रुख चौहान जी के प्रति दो प्रकार का है। रामविलास जी चौहान जी की आवश्यकता से अधिक 'नोटिस' लेते हैं जबकि अज्ञेय जी ने अब तक तो उनकी 'नोटिस' नहीं ली है। पाठकों को यह जानकर कुतूहल होगा कि रामविलास जी चौहान तथा अज्ञेय को समानधर्मा बताते हैं। अब अज्ञेय जी भी मौन तोड़कर रामविलास जी तथा चौहान जी को समानधर्मा घोषित कर दें, तो त्रिकोण पूरा हो जाय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सबके प्रति मोही भी हैं, निर्मोही भी। बहुत से कवि ऐसे हैं कि लेखों को पढ़िये तो पवन-चक्कियों के साथ मालूम पड़ते हैं, किन्तु संग्रह में देखिये तो वीर क्विक्ज़ोट तथा सैनको पान्ज़ा के हरावल के सिपाही हैं। फलतः क्विक्ज़ोट और सैनको पान्ज़ा में कभी-कभी तकरार भी हो जाती है। कमाल यही है कि एक पृष्ठ का पूर्वग्रह दूसरे पृष्ठ तक पहुँचते ही काफ़ूर हो जाता है। उदाहरण के लिए श्री नरेश मेहता की रोमांचकारी हिन्दी की बानगी देखिए :

दखिन दार उघाड़ी बसन्त आयो !!
हमाके पतझड़ू नग्न कियो,
पुराना पात झड़ि गियो,
सेरी बाटे जीर्ण जीवन,
बुहारी लिये जावै पवन !
नतून खातिर मार्ग देवो,
जो हमार मोह पुरातन !
गोपुरे शंख डाके सुनो सखि !
ऋतु श्रीमंत आयो !!

आप आश्चर्य न करें, यह हिन्दी है। शायद इसे विशेष आग्रह के साथ हिन्दी-कविता का भविष्य सुधारने के लिए बड़े सम्पादक जी ने छापा होगा। क्योंकि छोटे सम्पादक इस तरह के ख़ुराफ़ात के सिर पर वज्र गिराने को सन्नद्ध हैं :

"दूसरी ओर काव्य-संगीत विशेषतः संगीत को अधिक महत्त्व देने वाले कवि हिन्दी-भाषा में ही संगीतात्मक क्षमता का अभाव मानकर बंगाली की ओर देखने लगे हैं। हिन्दी का व्याकरण ही उन्हें संगीत-विरोधी लगता है और इसलिए वे जनपदीय बोलियों और अन्य प्रान्तीय भाषाओं की संगीतपरक विशेषताओं को लाने के लिए अपनी भाषा को ही विकृत करने को तैयार हैं।"

बड़े सम्पादक जी यदि श्री नरेश मेहता से सहमत हैं तो निस्सन्देह दोनों ही छोटे सम्पादक से असहमत हैं; यदि छोटे सम्पादक से सहमत हैं तो दोनों ही श्री नरेश मेहता से असहमत हैं। छोटे सम्पादक के दोनों के प्रति क्या रुख हैं यह स्पष्ट है। जो भी हो, हम बिना किसी पूर्वग्रह के इन सभी से सहमत हैं।

उसी प्रकार श्री चौहान जी ने अपने भीमकाय लेख में आधुनिक काव्य की उत्तमता की परीक्षा के लिए एक ही कसौटी बताई है : वर्ण्य-वस्तु से ज्ञान के आधार पर तादात्म्य स्थापित करना। और श्री शमशेर बहादुर सिंह की जो कविता उन्होंने दी है, उसमें एक टिप्पणी की आवश्यकता महसूस की गई····और उस टिप्पणी की प्रथम पंक्ति है 'मैं योरपीय संगीत नहीं समझता'····और कविता की वर्ण्य वस्तु है रेडियो पर बाख़ का संगीत····। साधारणीकरण का नमूना इस प्रकार है :

जो कुछ है !
जो कुछ है !
खो !
खो !
खो !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओ शीरीं ! ओ लैला ! ओ हीर !
—जा
—जा
—जा—सो !

हिन्दी के और कौनसे फेनिल बुदबुद हैं जो इससे भी अधिक दुरूह और कृत्रिम हैं ?

प्रकाशित कविताओं के बारे में जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। साधारण सम्पादकों का एक पूर्वग्रह यह भी होता है कि कविताएँ श्रेष्ठ स्तर की दी जायँ। लगता है कि ये दावेदार सम्पादकगण इस पूर्वग्रह से भी बरी हैं। प्रसिद्ध कवियों की साधारण कोटि की ही कविताएँ खोज-खोजकर दी गई हैं, जिससे भान होता है कि 'मुख्य-काव्यधारा' की क्या विशेषताएँ हैं। शीर्षस्थ स्थान नवीन जी की १८२ पंक्तियों की एक लम्बी कविता को दिया गया है जिसे कविता न कहकर 'उड्डीयन साधनों' पर एक छन्द-बद्ध निबन्ध कहना उपयुक्त होगा। समीक्षक ने कई बार साहस करके पूरी कविता पढ़ जाने का प्रयास किया, किन्तु सफलता न मिली। काहं ! कोऽहं ! साहं ! सोऽहं ! में उलझकर रह गया। मुख्य काव्यधारा का प्रतिनिधित्व करने के लिए इस कविता का चुनाव भी पूर्वग्रहहीनता ही सिद्ध करता है, क्योंकि यह कविता मान्य सम्पादकों की उन तमाम स्थापनाओं के विरुद्ध पड़ती है जिन्हें उन्होंने अपने भीमकाय लेख से क्षीणकाय वक्तव्य तक प्रतिपादित किया है। विस्तृत विश्लेषण स्थानाभाव के कारण नहीं कर रहा हूँ। भगवतीचरण वर्मा, पन्त जी, उदयशंकर भट्ट और 'दिनकर' जी का चुनाव बहुत ही रद्दी किया गया है। इन सबकी श्रेष्ठतर रचनाएँ इधर ढेरों प्रकाशित हुई हैं, किन्तु सम्पादकों की पूर्वग्रह-हीनता को क्या किया जाय ? अच्छी कविताएँ गिनती की हैं जिनमें सर्वेश्वर की 'सुबह से शाम तक में' गिरिजाकुमार की 'मूरतें, गीत और सावन की रात', शम्भूनाथ सिंह की 'सड़क पगडंडी और बैलगाड़ी', 'यह और वह', तथा 'डाक'; नेमिचन्द जैन की 'सुनोगे ?' उल्लेखनीय हैं। माचवे का सानेट जोरदार है, यद्यपि सम्पादकों के विरुद्ध ही लिखा जान पड़ता है। त्रिलोचन का सानेट 'पुराणकथा' भी अच्छा है। दिल्ली के 'मिडियाकर पोएटेस्टर्स' को संग्रह में बहुत भर दिया गया है, जबकि किसी में कोई प्रतिभा नहीं दीखती।

संक्षेप में संग्रह साधारण है, किन्तु इसकी पूर्वग्रहहीनता आकर्षित एवं आतंकित करती है। जो कविताएँ इसमें हैं, वे क्यों हैं, इसका न कोई कारण है, न दिया गया है। अनुमानतः हम केवल इतना कह सकते हैं कि कुछ असिद्ध कवि-मित्रों को सिद्ध एवं प्रसिद्ध कवियों के बग़ल में बैठाकर नयन सुख लेना ही शायद एकमात्र उद्देश्य हो। विनयशीलता को भी एकांगी बूर्ज्वा पूर्वग्रह समझकर सम्पादकों ने आत्मश्लाघा का रास्ता अपनाया है। वे अपने ही मुँह से कहते हैं : 'काव्यधारा ऐसे विराट् संगठित प्रयत्न का आयोजन करने का संकल्प लेकर ही जन्म ले रही है, इसलिए यह प्रयास युगवांछित ही नहीं, अभूतपूर्व भी है।' पूर्वग्रहहीनता के इतने विविध और चकित कर देने वाले उदाहरणों के बाद भी इस विराट् संगठित प्रयास को अभूतपूर्व न मानने का साहस कौन करेगा ? युगवांछित है या नहीं इसमें थोड़ा मतभेद हो सकता है।[1]

१. काव्यधारा : छमाही पुस्तक-पत्रिका; सम्पादक—शिवदानसिंह चौहान, गोपालकृष्ण कौल; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूल सुधार

'जापानी-साहित्य' शीर्षक लेख में प्रूफ-रीडर का जापानी नामों से परिचय न होने के कारण कतिपय जापानी शब्द तथा नाम अशुद्ध छप गए हैं। कृपया इन्हें इस प्रकार पढ़ें :

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७	७	तोगुवाना वंश	तोकुगावा वंश
,,	,,	शोगनत्त्व	शोगुनत्व
३८	१६	तोगुवाना	तोकुगावा
३६	२७	भासाओका	मासाओका
,,	३०	शियाकि	शिमाकि
,,	३४	यूयंकेज़ोरानो	यूयकेज़ोरानो
४०	६	हमाई	इमाइ
,,	६	यासाओका	मासाओका
,,	२७	इतना आसान था	इतना आसान न था
,,	,,	शियाकि केन्साकु	शिमाकि केन्साकु
४१	१	हिनोआशिहेइ	हिनो अशिहेइ
,,	२	निवाहु मिओ	निवा हुमिओ
,,	,,	हिशकावा तात्सुज़ो	इशिकावा तात्सुज़ो
,,	१५	हागिवाश	हागिवारा
,,	१६	मियोशितात्सुज़ि	मियोशि तात्सुजि
,,	१८	वाका का विरोध किया था	वाका का नया रूप दिया था
४२	२	वाका हाइकु	वाका-हाइकु
,,	८	शिगानाओया	शिगा नाओया
,,	,,	मासामूने हाकुयो	मासामुने हाकुचो
,,	३०	जिनूरि	शिन्री (सत्य)
,,	३१	सातोहारुओ	सातो हारुओ
,,	३४	हुमियो	हुमिओ
,,	३५	मोजिरो	योजिरो
,,	,,	सेरिसाबा	सेरिसावा
४३	१	अनूगो	अन्गो
,,	,,	यासुमि शिज़ुए	मासुगि शिज़ुए
,,	६	इशिकाबा	इशिकावा
४४	६	मिशिया युकिओ	मिशिमा युकिओ
,,	२२	भियोशि तात्सुजि	मियोशि तात्सुजि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक सूचना

भविष्य में 'आलोचना' के सम्पादकीय विभाग से पत्र-व्यवहार राजकमल प्रकाशन के नये कार्यालय, १५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद के पते पर ही करें। समालोचना के लिए पुस्तकें भी इसी पते पर भेजें।

—प्रकाशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमसे प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचना, साहित्य, संस्कृति

प्रेमचन्द और गोर्की :
सम्पादिका, शचीरानी गुर्टू ६)
हिन्दी के आलोचक : ८)
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि :
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ६)
हिन्दी निबन्ध : प्रभाकर माचवे २)
कबीर साहित्य की परख :
परशुराम चतुर्वेदी ५)
सूफी मत और हिन्दी साहित्य :
विमल कुमार जैन ७)
आधुनिक समीक्षा :
डॉ० देवराज ४॥)
कथाकार जयशंकर प्रसाद :
हरस्वरूप माथुर २)
आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ :
नामवरसिंह १॥)
जयशंकर प्रसाद :
संपादक, महावीर अधिकारी ८)
बेनीपुरी ग्रंथावली (भाग दूसरा) :
रामवृक्ष बेनीपुरी १२॥)
बौद्ध-दर्शन तथा भारतीय दर्शन (दो भागों में) : भरतसिंह उपाध्याय १६)
हिन्दू परिवार मीमांसा :
हरिदत्त विद्यालंकार १०)
भारतीय तत्त्व-चिन्तन
डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ६)
राजस्थान की जातियाँ :
बजरंगलाल लोहिया १२)
कला क्या है : तालसताय ॥।≈)॥
सांस्कृतिक प्रश्न :
जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' २॥)

काव्य

त्रिपथगा : भगवतीचरण वर्मा २)
उमंग : मुकुल ३।॥)
धूप के धान : गिरिजाकुमार माथुर ३)
अतिमा : सुमित्रानन्दन पंत ४)
कदली वन : नरेन्द्र शर्मा २॥)
धरती और स्वर्ग : डॉ० देवराज ३)
विश्वास बढ़ता ही गया :
डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' २)

कोष

साहित्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द-कोष
राजेन्द्र द्विवेदी ८)
ज्ञान शब्द कोष :
सम्पादक, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव १२)

उपन्यास

गुण्ठन : गुरुदत्त वैद्य ५)
एक था : शीला शर्मा २)
कली मुसकराई : सत्यप्रकाश संगर ३)
हेमा : राजेन्द्र शर्मा ३)
पच्चीसवाँ घण्टा :
अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन ६)
उमड़ती घटाएँ : गुरुदत्त वैद्य ६)
पवित्र पापी : नानकसिंह ॥।≈)॥
लहरें : रामदेव ६)
पथ से दूर : कमल शुक्ल २।)
सेठ बाँकेमल : अमृतलाल नागर १॥)
बड़ी-बड़ी आँखें : उपेन्द्रनाथ अश्क ३॥।)
लकीरें : ओमप्रकाश २॥)
रजिया की बेटी : अनु०, नरोत्तम नागर ७)
तावीज : अनु०, मगनलाल जैन १॥)
बोलते खण्डहर : रांगेय राघव ३)
बहता पानी : मन्मथनाथ गुप्त ३।)

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-बम्बई-इलाहाबाद

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

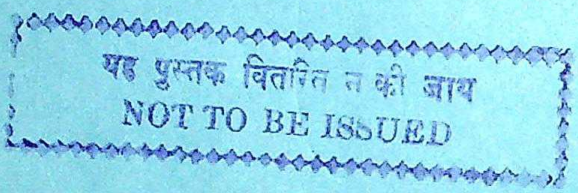

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar